दुर्लभ-बौद्ध-ग्रन्थमाला–१३

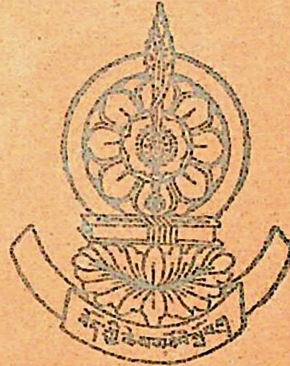
श्रीमञ्जुश्रीयशोविरचितस्य परमादिबुद्धोद्धृतस्य

श्रीलघुकालचक्रतन्त्रराजस्य

कल्किना श्रीपुण्डरीकेण विरचिता टीका

विमलप्रभा

[तृतीयो भागः]



भोट विद्या संस्थानम्

प्रधानसम्पादकः

सम्धोङ् रिन्पोछे

सम्पादकौ

व्रजवल्लभ द्विवेदी

एस० एस० बहुलकर

दुर्लभ बौद्ध ग्रन्थ शोध योजना

केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान

सारनाथ, वाराणसी

RARE BUDDHIST TEXTS SERIES-13

VIMALAPRABHĀṬĪKĀ

OF

KALKIN ŚRĪPUṆḌARĪKA

ON

ŚRĪLAGHUKĀLACAKRATANTRARĀJA

by

ŚRĪMAÑJUŚRĪYAŚAS

[Vol. III]



Chief Editor
Samdhong Rinpoche

Editors

VRAJAVALLABH DWIVEDI   S. S. BAHULKAR

RARE BUDDHIST TEXTS RESEARCH PROJECT
Central Institute of Higher Tibetan Studies
SARNATH, VARANASI

B. E. 2538   **C.E. 1994**

Co-Editors

Janardan Pandey

Thakur Sain Negi
Tashi Samphel
Vijay Raj Vajracharya

Banarsi Lal
Thinlay Ram Shashni
Chhog Dorjee

First Edition : 550 Copies, 1994

Price : HB. Rs. 110.00
PB. Rs. 70.00

Published by :
Central Institute of Higher Tibetan Studies,
Sarnath, Varanasi-221 007

Printed by :
Shivam Printers
C. 27/273, Indian Press Colony
Maldahiya, Varanasi-221 002

दुर्लभ-बौद्ध-ग्रन्थमाला-१३

श्रीमञ्जुश्रीयशोविरचितस्य परमादिबुद्धोद्धृतस्य

श्रीलघुकालचक्रतन्त्रराजस्य

कल्किना श्रीपुण्डरीकेण विरचिता टीका

विमलप्रभा

[तृतीयो भागः]



प्रधानसम्पादकः

सम्‌दोङ् रिन्‌पोछे

सम्पादकौ

व्रजवल्लभ द्विवेदी एस॰ एस॰ बहुलकर

दुर्लभ बौद्ध ग्रन्थ शोध योजना

केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान

सारनाथ, वाराणसी

बुद्धाब्द : २५३८ ख्रिस्ताब्द : १९९४

सहायक मण्डल

जनार्दन पाण्डेय

ठाकुरसेन नेगी
टशी सम्फेल
विजयराज वज्राचार्य

बनारसी लाल
ठिनलेराम शाशनी
छोग दोर्जे

प्रथम संस्करण : ५५० प्रतियाँ, १९९४

मूल्य : सजिल्द रु० ११०.००
अजिल्द रु० ७०.००

प्रकाशक :
केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान
सारनाथ, वाराणसी-२२१ ००७

मुद्रक :
शिवम् प्रिन्टर्स
सी० २७/२७३, इण्डियन प्रेस कालोनी
मलदहिया, वाराणसी-२२१ ००२



प्रकाशकीय

केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान, सारनाथ, वाराणसी के द्वारा प्रकाशित हो रही कालचक्रतन्त्र को विमलप्रभा टीका के तृतीय और अन्तिम भाग को बौद्ध तन्त्रों के अनुरागो विद्वानों के समक्ष प्रस्तुत करते हुए हमें अपार हर्ष का अनुभव हो रहा है। इसके प्रथम भाग (प्रथम-द्वितीय पटल) का समालोचनात्मक सम्पादन स्वर्गीय प्रो० जगन्नाथ उपाध्याय जो ने किया था और उसका प्रकाशन सन् १९८६ में हो चुका था। प्रो० उपाध्याय जी के द्वारा स्वोकृत पद्धति से पं० व्रजवल्लभ द्विवेदी, पं० जनार्दन शास्त्री पाण्डेय आदि द्वारा सम्पादित इसके द्वितीय भाग (तृतीय-चतुर्थ पटल) का प्रकाशन सन् १९९४ में हुआ। अब इस तृतीय भाग में पंचम पटल को और पूरे ग्रन्थ के तीन परिशिष्टों को प्रकाशित किया जा रहा है।

कालचक्रतन्त्र और उसकी विमलप्रभा टीका के प्रथम चार पटलों का सम्पादन छः हस्तलेखों के आधार पर किया गया था, जिनका परिचय प्रथम और द्वितीय भाग में दिया जा चुका है। इनमें से पांच हस्तलेखों में केवल चार पटल तक का ही ग्रन्थ उपलब्ध है। केवल एशियाटिक सोसाइटो, कलकत्ता के हस्तलेख में ही पूरा ग्रन्थ उपलब्ध है और यह प्राचीन बंगला लिपि में लिखा गया है। इसको पढ़ने और शुद्ध प्रतिलिपि तैयार करने के अनेक प्रयत्न किये गये, किन्तु वे सब असफल हो गये। अन्त में इस शोध योजना के लिपिविशेषज्ञ और प्रमुख परामर्शदाता पं० श्री जनार्दन शास्त्री पाण्डेय के सहयोग से और वरिष्ठ अनुसन्धान अधिकारी श्री बनारसी लाल के अथक परिश्रम से यह कार्य सम्पन्न हुआ। पूरे पंचम पटल के पाठ की त्रुटियों को भोट अनुवाद की सहायता से परिमार्जित किया गया और इस महनीय कार्य में इस संस्थान के मूलशास्त्र के प्रो० सेम्पा दोर्जे जी से सहायता ली गई। इस हस्तलेख के दो पत्र उपलब्ध नहीं हुए। उस अंश का भी भोट अनुवाद की सहायता से पुनरुद्धार किया गया। यह कार्य इस योजना के निदेशक प्रो० एस० एस० बहुलकर, डॉ० बनारंसी लाल और डॉ० टशी सम्फेल ने किया। सन् १९८५ में मूल कालचक्रतन्त्र का डॉ० विश्वनाथ बनर्जी के द्वारा संपादित संस्करण कलकत्ता से प्रकाशित हुआ है। मूल श्लोकों के परिष्कार के लिये इससे भी सहायता ली गई है। हम उन सभी संस्थानों और व्यक्तियों के प्रति अपनो हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करते हैं, जिनका कि इस सम्पूर्ण ग्रन्थ के प्रकाशन में महनीय सहयोग रहा है।

इस ग्रन्थ के द्वितीय भाग के प्रकाशकीय वक्तव्य में कालचक्रतन्त्र एवं विमलप्रभा टीका के पंचम पटल के साथ विभिन्न परिशिष्टों के समावेश के विषय में लिखा गया था। इस महनीय ग्रन्थ के प्रथम भाग का बोधगया में श्रीकालचक्र तन्त्र के अभिषेक के पुनीत अवसर पर परमपावन विश्वगुरु दलाई लामा जी के करकमलों द्वारा

प्रकाशनोद्घाटन हुआ था। अब अगले वर्ष सन् १९९५ में कर्णाटक राज्य के मुंडगोड स्थान पर परमपावन दलाई लामा जी पुन: श्रीकालचक्र तन्त्र का अभिषेक प्रदान करने वाले हैं। इस पुनीत अवसर पर इस ग्रन्थ के तृतीय और अन्तिम भाग का प्रकाशनोद्घाटन उन्हीं के करकमलों द्वारा सम्पन्न हो, इस अभिप्राय से अभी हम यहाँ अति आवश्यक तीन परिशिष्ट (श्लोकार्धसूची, ग्रन्थ-ग्रन्थकार-मत-मतान्तर-सूची और विमलप्रभाधृतवचनसूची) के अतिरिक्त अन्य परिशिष्ट नहीं दे सके। वाद में कालचक्र के विषय में परिचयात्मक ग्रन्थ प्रकाशन करने की और उसमें शेष परिशिष्ट जोड़ने की योजना है।

इस संस्करण को प्रस्तुत करने वाले सहायक-मण्डल के सभी सदस्यों को, जिनका कि नाम यहीं अन्यत्र अंकित है, हम हार्दिक धन्यवाद देते हैं। इस भाग के दक्षतापूर्ण मुद्रण के लिये हम 'शिवम् प्रिन्टर्स' के श्री हरिप्रसाद निगम के भी आभारी हैं।

कालचक्र तन्त्र की विमलप्रभा टीका का बौद्ध तन्त्रशास्त्र में अपना विशिष्ट स्थान है। यह टीका केवल तन्त्रशास्त्र तक ही सीमित न रहकर, ज्योतिष, आयुर्वेद, रसशास्त्र, बौद्धेतर तन्त्र, योगशास्त्र, वेद, पुराण, धर्मशास्त्र, दर्शन आदि अनेक विषयों को अपने में समेटे हुए है। शीघ्रता में इन सबका विवरण नहीं दिया जा सकता। उसके अभाव में इस महनीय ग्रन्थ का परिचय अधूरा रह जायगा। अत: पूरे ग्रन्थ की संक्षिप्त विषयानुक्रमणी के साथ ग्रन्थ के विशिष्ट प्रतिपाद्य विषयों का तथा अन्य विविध शास्त्रों का परिचय विज्ञ पाठकों तक पहुंचाने के लिये विशिष्ट विद्वानों से निबन्ध लिखवाकर प्रकाशित करने की हमारी योजना है। इसमें करुणामूर्ति विद्वानों का सहयोग अपेक्षित है।

दिसम्बर १९९४

एस० रिन्पोछे
निदेशक

དཔར་སྐྲུན་པའི་ཆེད་བརྗོད།

ཝཱ་ཎ་དབུས་བོད་ཀྱི་ཆེས་མཐོ་འི་གཙུག་ལག་སློབ་ཁང་ནས་དཔར་སྐྲུན་ཞུ་བཞིན་པའི་དུས་འཁོར་རྒྱུད་ཀྱི་འགྲེལ་ཆེན་དྲི་མེད་འོད་ཀྱི་དེབ་ཆ་མཐའ་མ་འདི་ནང་པའི་རྒྱུད་གཞུང་ལ་ཐུགས་མོས་ཅན་གྱི་མཁས་དབང་རྣམས་ཀྱི་སྤྱན་ལམ་དུ་འབུལ་ལམ་ཞུས་ཐུབ་པར་དགའ་སྤྲོབས་ཆེན་པོ་བྱུང་། འགྲེལ་པ་འདིའི་དེབ་དང་པོ་ (ལེའུ་དང་པོ་དང་གཉིས་པ) སྐུ་གཤེགས་མཁས་དབང་འཇིག་རྟེན་མགོན་པོ་ (པྲོ་ཕེསརཛགནྣཱཐཨུཔཱདྷྱཱཡ) མཆོག་གིས་ཞིབ་དཔྱོད་དང་བཅས་ཞུ་སྒྲིག་མཛད་པ་ཕྱི་ལོ་ ༡༩༨༦ ལོར་དཔར་བསྐྲུན་ཞུས་ཡོད། མཁས་དབང་ཨུཔཱདྷྱཱཡ་མཆོག་གིས་ཕྱག་ལེན་དུ་བསྟར་བའི་ཐབས་ལམ་ཇི་བཞིན་དེབ་གཉིས་པ་ (ལེའུ་གསུམ་པ་དང་བཞི་པ) ཡང་མཁས་དབང་བྲཛབལླབྷདྭིཝེདཱི་དང་། ཛནརྡནཔཎྜེཡ་སོགས་ཀྱིས་ཞུ་སྒྲིག་མཛད་དེ་ཕྱི་ལོ་ ༡༩༩༤ ལོར་དཔར་བསྐྲུན་ཞུས་ཟིན། དེ་བཞིན་དེབ་གསུམ་པ་འདིའི་ནང་དུ་ལེའུ་མཐའ་མ་ལྔ་པ་དང་། གཞུང་ཡོངས་རྫོགས་ཀྱི་ཁ་སྐོང་ལྷན་ཐབས་གསུམ་བཅས་དཔར་བསྐྲུན་ཞུས་ཡོད།

དུས་ཀྱི་འཁོར་ལོའི་རྒྱུད་དང་དེའི་འགྲེལ་ཆེན་དྲི་མེད་འོད་ཀྱི་ལེའུ་དང་པོ་བཞི་ལག་བྲིས་མ་དཔེ་དྲུག་ལ་བརྟེན་ནས་ཞུས་སྒྲིག་བྱས་ཡོད་པ་དག་གི་ངོ་སྤྲོད་དེབ་གཉིས་པའི་ནང་ཞུས་ཟིན་པ་ལྟར་མ་དཔེ་ལག་བྲིས་མ་ལྔའི་ནང་ལེའུ་བཞི་པའི་བར་མ་གཏོགས་མི་རྙེད་ཅིང་། ཨེ་ཤིཡཊིཀསོསཻཊི་ཀལཀཏྟའི་ལག་བྲིས་མ་གཅིག་པུའི་ནང་གཞུང་ཆ་ཚང་བར་བཞུགས་ཀྱང་འདི་ཉིད་བངྒལའི་ཡིག་རྙིང་དུ་བྲིས་ཡོད་སྟབས་ཀློག་ཐབས་དང་དཔེ་བཤུས་བྱ་རྒྱུའི་འབད་རྩོལ་ཅི་ཆེར་བྱས་ཀྱང་དོན་འབྲས་མ་བྱུང་། མཐའ་མར་འཆར་གཞི་འདིའི་སློབ་སྟོན་པ་གཙོ་བོ་ཡིག་རིགས་ལ་མཁས་པ་སྐུ་ཞབས་ཛནརྡནཤཱསྟྲིཔཎྜེཡ་མཆོག

གི་རིགས་ལ་བརྟེན་ཉམས་ཞིབ་པ་སྐུ་བཀྲིས་སྐུ་ཞབས་བནཱརསཱིལཱལ་ཀྱི་འབད་······
རྩོལ་ལས་ལས་དོན་འདི་སྒྲུབ་ཐུབ་པ་བྱུང་། ལེའུ་ལྔ་པ་ཡོངས་རྫོགས་ཀྱི་ཚད་
འཁྲུལ་རྣམས་བོད་འགྱུར་ལ་བརྟེན་ནས་དག་ཞུས་བྱེད་རྒྱུར་འདི་གཞི་རྒྱ་གཞུང་
གི་སློབ་དཔོན་ཆེན་པོ་སེམས་དཔའ་རྡོ་རྗེ་མཆོག་གིས་རོགས་རམ་གནང་ཡོད།
ལག་བྲིས་མ་འདིར་ལྗེབ་མ་གཉིས་མ་ཚང་བའང་འཆར་གཞི་འདིའི་ངེས་སྟོན་··
པ་མཁས་དབང་བཏུལཀར་མཆོག་དང་། མཁས་དབང་བནཱརསཱིལཱལ་དང་མཁས་
དབང་བཀྲ་ཤིས་བསམ་འཕེལ་བཅས་ཀྱིས་ངོད་འགྱུར་ལ་བརྟེན་ནས་བསྐྱར་གསོ་
བྱས་ཡོད། འདིར་རྩ་ཚིག་ཁག་གི་དག་ཞུས་ཆེད་ཕྱི་ལོ་ ༡༩༨༥ ལོར་མཁས་
དབང་ཌོཀཊརཝིཤྭནཱཐབནརཛཱི་ཡིས་ཀལཀཏྟ་ནས་ཞུས་སྒྲིགས་ཀྱིས་དཔར་བསྐྲུན་
མཛད་པའི་དུས་འཁོར་རྩ་རྒྱུད་ལས་ཀྱང་ཕན་ཆ་བླངས་ཡོད། གསུང་རབ་འདི་
ཡོངས་རྫོགས་ཀྱི་དཔར་སྐྲུན་ཐད་སྤྱི་སྐོར་ཁག་མང་པོ་ཞིག་ནས་གལ་ཆེའི······
རོགས་ཕན་གནང་ཡོད་པ་དག་ལ་བཀའ་དྲིན་རྗེས་དྲན་ཞུ་རྒྱུ་དང་།

གསུང་རབ་འདིའི་དེབ་གཉིས་པའི་དཔར་སྐྲུན་ཆེད་བརྗོད་ནང་དུས་ཀྱི······
འཁོར་ལོའི་རྒྱུད་དང་དེའི་འགྲེལ་ཆེན་དྲི་མེད་འོད་ལེའུ་ལྔ་པ་མཉམ་ཁ་སྐོང་ལྷན་
ཐབས་མང་ཙམ་སྒྲིགས་རྒྱུའི་སྐོར་བཀོད་ཡོད་རུང་། གཞུང་གལ་ཆེ་འདིའི་
དེབ་དང་པོའི་ཞལ་ཕྱེས་འགྲོ་བ་ཡོངས་ཀྱི་མ་འདྲིས་པའི་མཛད་བཞེས་ཆེན་····
པོ་ ༧གོང་ས་སྐྱབས་མགོན་རྒྱལ་དབང་ཐམས་ཅད་མཁྱེན་ཅིང་གཟིགས་པ་ཆེན་
པོ་མཆོག་གིས་གནས་མཆོག་རྡོ་རྗེ་གདན་དུ་དཔལ་དུས་ཀྱི་འཁོར་ལོའི་དབང་···
ཆེན་སྩལ་སྐབས་བཀའ་དྲིན་བསྐྱངས་ཡོད་པ་དེ་བཞིན་རྗེས་ལོ་ ༡༩༩༥ ནང་
ཀརྞཱཊཀ་མངའ་སྡེའི་མོན་གྒོ་ས་གནས་སུ་ ༧གོང་ས་སྐྱབས་མགོན་ཆེན་པོ·····
མཆོག་གིས་སླར་ཡང་དུས་ཀྱི་འཁོར་ལོའི་དབང་ཆེན་བཀའ་དྲིན་བསྐྱངས་རྒྱུ······
ཐུགས་གདན་འཁེལ་ཡོད་པའི་དུས་སྐབས་བཟང་པོ་དང་སྟབས་བསྟུན་གཞུང་···
འདིའི་དེབ་མཐའ་མའི་ཞལ་དབྱེའང་གོང་ས་ ༧སྐྱབས་མགོན་ཆེན་པོ་མཆོག་གིས་
མཛད་གནང་ཡོང་བའི་གསོལ་བ་འདེབས་རྒྱུར་དམིགས་ཏེ་དུས་ཐོག་ཟིན་དགོས··

སྟབས་གལ་ཆེའི་ཁ་སྐོང་ལྷན་ཐབས་ཁག་གསུམ་ (ཚོགས་བཅད་ཕྲེད་མའི་དཀར་ཆག གསུང་རབ་དང་གསུང་རབ་མཛད་པ་པོ་དང་བཞེད་ཚུལ་འདྲ་མིན་དཀར་ཆག དེ་བཞིན་འགྲེལ་ཆེན་དྲི་མེད་འོད་ནང་དྲངས་པའི་ལུང་གི་དཀར་ཆག) མ་གདགས་བཀོད་ལོང་མ་བྱུང་ཞིང་། རྗེས་སུ་འདིའི་ངོ་སྤྲོད་དེབ་གཅིག་འདོན་ཐུབ་རེ་ལ་ལྷན་ཐབས་འཕྲོས་དེའི་ནང་སྦྱར་རྩིས་དང་། འདི་དག་ཕྱོགས་སྒྲིགས་མཛད་པ་པོ་རྣམས་ཀྱི་མཚན་ཐུར་དུ་བཀོད་ཡོད་པ་དག་ལ་ཐུགས་རྗེ་ཆེ་ཞུ་རྒྱུ་དང་། གསུང་རབ་འདི་སྤྱུས་ཚད་ལྡན་པར་དཔར་བསྐྲུན་གནང་བར་ཤི་ལྦྲམ་དཔར་ཁང་གི་སྐུ་ཞབས་ཧརིབྲསྣདཀིགམ་ལགས་སྤྲོད་ལེགས་སོ་ཡོད།

དུས་ཀྱི་འཁོར་ལོའི་རྒྱུད་དང་འགྲེལ་ཆེན་དྲི་མེད་འོད་འདི་ནི་ནང་པའི་རྒྱུད་གཞུང་ནང་གལ་གནད་ཁྱད་ཆེ་ཡོད་པ་ཞིག་ཡིན། འགྲེལ་པ་འདིར་རྒྱུད་ཀྱི་གཞུང་ཙམ་དུ་མ་ཟད། རྩིས་དང་། སྨན། དཔྱལ་ཚུའི་བསྟན་བཅོས། དེ་བཞིན་ཕྱི་རོལ་པའི་རྒྱུད་དང་། ཡི་གའི་བསྟན་བཅོས། རིག་བྱེད། སྔོན་རབས། ཆོས་ཀྱི་བསྟན་བཅོས་དང་ལྟ་བ་ལ་སོགས་པའི་དོན་གནད་མང་པོ་འདུས་ཡོད། སྐུར་སྟབས་སུ་འདི་དག་ཐམས་ཅད་ཀྱི་རྣམ་བཤད་བྱེད་མ་ཐུབ་སྟབས་གལ་ཆེའི་གཞུང་འདིའི་ངོ་སྤྲོད་བློ་འདོད་ཁེངས་པ་ཞིག་ད་ལན་བྱུང་མ་སོང་བས། གཞུང་ཡོངས་རྫོགས་ཀྱི་བརྗོད་བྱའི་རིམ་པ་དང་མཉམ་དུ་གདན་ལ་དབབ་བྱ་ཁྱད་པར་ཅན་རྣམས་ཀྱི་སྐོར་དང་། བསྟན་བཅོས་གཞན་རྣམས་ཀྱི་ངོ་སྤྲོད་བཅས་དོན་གཉེར་ཅན་རྣམས་ལ་སྐབ་སྐད་རྗེས་སུ་གཞུང་ལུགས་ལ་ནང་བྱུན་ཚུད་པའི་མཁས་དབང་རྣམས་ལ་བྲིས་རྩོམ་གནང་རྒྱུའི་བསྐུལ་མ་ཞུས་ཏེ་འདོན་འཆར་ཡོད་པས་བརྩེ་ལྡན་མཁས་དབང་རྣམས་ཀྱིས་རོགས་མགོན་ཡོང་བའི་རེ་འདུན་བཅས། ལྷ་ཀ་དབུས་བོད་ཀྱི་ཆེས་མཐོ་འི་གཙུག་ལག་སློབ་ཁང་གི་ངེས་སྟོན་པ་ཟམ་གདོང་བློ་བཟང་བསྟན་འཛིན་གྱིས་ཕྱི་ལོ་ ༡༩༩༨ ཟླ་ཚེས་ལ་བྲིས།

PUBLISHER'S NOTE

We feel extremely delighted to present to the scholars of Buddhist Tantrism the third and the last volume of the *Vimalaprabhā*, a commentary on the Kālacakra Tantra, being published by the Central Institute of Higher Tibetan Studies, Sarnath, Varanasi. The first volume of this commentary, consisting of the first and the second *Paṭalas*, was critically edited by Prof. Jagannath Upadhyaya and was published in 1986. Adopting his method, the second volume, consisting of the third and the fourth *Paṭalas*, was critically edited by Pt. Vraj Vallabh Dwivedi, Pt. Janardan Shastri Pandey and others, and was published in 1994. The third volume consisting of the fifth *Paṭala* and three Appendices to the entire work is now being published.

The critical edition of the four *Paṭalas* of the Kālacakra Tantra and its commentary *Vimalaprabhā* was based on six manuscripts, a description of which has already been given in the first volume of this work. Out of these, the five manuscripts contain the text up to the fourth *Paṭala* only. The manuscript designated as *Ga* contains some portion in the beginning of the fifth *Paṭala*. It is the single manuscript, deposited in the Asiatic Society, Calcutta and designated by us as *Ca*, that contains almost the entire text of the fifth *Paṭala*. The manuscript was written in the old Bengali Script. Several attempts were made to read this script and to prepare a correct copy; but they were proved futile. Finally this work was completed due to the co-operation of Pt. Janardan Shastri Pandeya, a Sanskrit scholar well-versed in various ancient scripts, working as Senior Consultant of this project and the ceaseless efforts on the part of Dr. Banarsi Lal, Senior Research Officer. The inaccurate readings in the Sanskrit text of the fifth *Paṭala* were emended with the help of the Tibetan translation. For this work, the co-operation of Prof. Sempa Dorjee, Professor of

Mūlaśāśtra of this Institute was solicited. Two leaves of this manuscript were missing. The missing portion was restored in Sanskrit by Prof. S.S. Bahulkar, Director of the Project, Dr. Banarsi Lal and Dr. Tashi Samphel. In 1985, a critical edition of the Kālacakra Tantra prepared by Prof. Biswanath Banerjee was published from Calcutta. The edition was consulted for critically editing the original verses in the Kālacakra Tantra. We express our deep gratitude towards all those institutions and individuals who have rendered great help in bringing out the present volume.

In the Publisher's Note to the second volume of this work, we had announced the proposed publication of the third volume consisting of the fifth *Paṭala* along with various appendices. The first volume of this great work was released at the auspicious hands of H.H. the Dalai Lama on the memorable occasion of the initiation into the Kālacakra Tantra held at Bodh Gaya in 1985. It is a happy coincidence that the third and the last volume of this work should also be released at the hands of His Holiness on the occasion of the Kālacakra initiation to be held at Mundgod in the Karnataka State in January 1995. Wishing to meet the deadline, we confined ourselves to publishing the text of the fifth *Paṭala* along with the three essential appendices (i.e., Index to *ślokārdhas*, Index to works, authors and views quoted in the text and Index to the citations from the *Vimalaprabhā*) and did not include other appendices. We hope to bring out a special volume on the Kālacakra in due course, in which we intend to publish those remaining appendices. We are thankful to the members of our staff—whose names have been mentioned elsewhere—for extending their assistance in preparing these appendices. We thank Shri Hari Prasad Nigam of Shivam Printers for the careful printing of this book.

The *Vimalaprabhā* on the Kālacakra Tantra occupies a unique position in the Buddhist Tantrism. It is not restricted just to Tantrism; it also includes matters related to Astronomy,

Ayurveda, Rasaśāstra, non-Buddhist Tantras, Yogaśāstra, Vedas, Purāṇas, Dharmaśātra, other systems of Indian Philosophy and several other subjects. It is not possible to review all these subjects at this stage. However, we are aware that in the absence of such a review, one would not be able to do full justice to this work. The special volume on the Kālacakra Tantra will therefore include an index to the subject-matter of the *Vimalaprabhā*, and articles on various topics written by scholars specialized in Buddhist Tantrism. We sincerely solicit kind co-operation of scholars in this regard.

December 1994

S. Rinpoche
Director

पुरोवाक्

विमलप्रभायास्तृतीयस्य चरमस्य च खण्डस्य संस्करणमिदं कालचक्रस्य ज्ञानाख्य-पञ्चमपटलमधिकृत्य प्रणीतां टीकामन्तर्निधत्ते। संस्करणस्यास्य प्रधानतयाऽऽधारभूत एक एव हस्तलेखो विद्यते, योऽस्माभिः 'च' इतिसंकेतवर्णेन निर्दिष्टोऽस्ति। हस्तलेखेऽमुष्मिन् सम्पूर्णा टीकोपलभ्यते। हस्तलेखोऽसौ कलिकातानगरस्थायां एशियाटिक-सोसायटी-हस्तलेखशालायां संरक्षितोऽस्ति (क्र. १०७६६)।[१] अपरोऽपि हस्तलेखो नेपालदेशे काठमाण्डुनगरे राष्ट्रीय-अभिलेखालये वर्तते, योऽस्माभिरुपयोजितपूर्वः 'ग' इति संकेतवर्णेन निर्दिष्टोऽस्ति (क्र. ५-२४०), यत्र चतुर्थपटलस्यान्ते पञ्चमपटलटीकायाः कश्चनांशः (षट्चत्वारिंशश्लोकटीकां यावत्) समुपलभ्यते।[२] एशियाटिक-सोसायटीस्थापितो हस्तलेखोऽसौ तालपत्रेषु वङ्गलिपिनिबद्धोऽस्ति। लिपिरसौ ख्रिस्ताब्दस्य दशमशतकादुत्तरकालीनास्ति। असौ हस्तलेखो वङ्गदेशस्य राज्ञो हरिवर्मदेवस्य ३१ तमे संवत्सरे आषाढमासस्य २९ तमे दिने लिखितः। राजाऽसौ ख्रिस्ताब्दस्यैकादश-शतकापरार्धाद् द्वादश-शतकपूर्वार्धं यावद् वङ्गदेशं प्रशास्ति स्मेति कथ्यते।[3] म.-म.-हरप्रसादशास्त्रिभिः प्रदत्तमेतद्धस्तलेखविवरणं निर्दिश्य, हस्तलेखपुष्पिकां ग्रन्थगतां ज्योतिषविषयकसामग्रीं चाधारत्वेन स्वीकृत्य, आर. सी. माजुमदार-महोदयो हस्तलेखस्यास्य लेखनं ख्रिस्ताब्दस्य १११९ तमे संवत्सरेऽभवदिति मन्यते।[४] हस्तलेखोऽसावमूल्यो यतः प्राचीनतमस्य हस्तलेखस्यास्य लेखनं विमलप्रभाया रचनाया अनन्तरं शतसंवत्सरावधिके काले संवृत्तम्।[५] एतस्माद्धेतोरसौ मूलग्रन्थहस्तलेखस्य निकटतरो मन्तव्यः।

कालचक्रतन्त्रस्य परमं प्रयोजनमितरानुत्तरयोगतन्त्रसमानं यद् इहैव मानुषे जन्मनि बुद्धत्वप्राप्तिरिति। बुद्धत्वं नाम चतुर्भिर्बुद्धकायैरुपलक्षितम्—निर्माणः, संभोगः,

---

१. म.-म.-हरप्रसादशास्त्री (सम्पा.), ए डिस्क्रिप्टिव्ह कॅटलॉग ऑफ संस्कृत मॅन्युस्क्रिप्ट्स इन द गव्हर्नमेण्ट कलेक्शन अण्डर दि केअर ऑफ द एशियाटिक सोसायटी ऑफ बेंगॉल, व्हॉल्युम १, बुद्धिस्ट मॅन्युस्क्रिप्ट्स, कलकत्ता, १९१७, पृ. ७९–८२।

२. वि० प्र०, खण्डः १, पृ. xxix; मितोतुशी मोरीगुची (सम्पा०), ए कॅटलॉग ऑफ दि बुद्धिस्ट तान्त्रिक मॅन्युस्क्रिप्ट्स इन दि नॅशनल अर्काइव्ह्ज ऑफ नेपाल अॅण्ड केसर लायब्ररी, सांकिबो बुश्शोरिन, तोक्यो, १९८९, क्र. ९८, पृ. २६।

३. शास्त्रिमतेन स ख्रिस्ताब्दस्य दशमशतकापरार्धे प्रशास्ति स्म। उपरिनिर्दिष्टे ग्रन्थे, पृ. ८०।

४. आर. सी. माजुमदार, हिस्टरी ऑफ बेंगॉल, जी. भारद्वाज अॅण्ड कं., कलकत्ता, १९७१, पृ. २१६ (टिप्पणी ३१)।

५. कालचक्र-विमलप्रभयोः कालविषये, द्र०, जॉन न्यूमन, "दि परमादिबुद्ध (द कालचक्र मूलतन्त्र) अॅण्ड इट्स रिलेशन टु दि अर्ली कालचक्र लिटरेचर", इण्डो-इरानियन जर्नल ३० (२), १९८७, पृ. १००।

धर्मः, शुद्धापरपर्यायः सहजश्चेति। इमे बुद्धकायाश्चतसृणामवस्थानां जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति-तुर्याणां लक्षणैर्युक्ता निरावरणाश्च।[१] कालचक्रपदस्य चत्वारो वर्णा एतेषां कायानां बोधकाः।[२] बुद्धत्वप्राप्तिर्नाम साधकस्येष्टदेवतातया, बुद्धत्वेन कालचक्रत्वेन वा परिणमनम्। तदेव परमाक्षरज्ञानमिति कथ्यते। तदेव परमाक्षर-सुखम्। ज्ञानमिदं महामुद्रासाधनेनावाप्यते। महामुद्रा 'विकल्पभावनातीता, परमाणु-धर्मतातीता, प्रतिसेनोपमा (आदर्श-बिम्बोपमा) सर्वाकारवरोपेता' इत्युपवर्णितास्ति।[३] परमाक्षरज्ञानसिद्धिरलौकिकी, योत्पत्तिक्रमोत्पन्नक्रमरूपेण द्विविधेन साधनेनावाप्यते, यदर्थं साधकाय विविधा अभिषेकाः प्रदीयन्ते। कालचक्रपरम्परायामेका-दशाभिषेका भवन्ति, येषां दश लौकिका एकादशश्च लोकोत्तरः। अनुत्तरयोगतन्त्रेषु सामान्यतस्त्रयोऽभिषेका लौकिकाश्चतुर्थश्च लोकोत्तरः। लौकिका अभिषेका अकनिष्ठभुवनपर्यन्तं लौकिकसिद्धिप्रदायकाः। चतुर्थाभिषेको लोकोत्तरः परमाक्षर-ज्ञानरूपामलौकिकसिद्धिमावहति। लौकिकाः सिद्धयो मण्डलभावनादिभिरुपायै-रासाद्यन्ते, अथालौकिकसिद्धये महामुद्रासाधनं हेतुः। अत एवाभिषेकाः, साधनम्, परमाक्षरज्ञानमिमे विषयास्तृतीय-चतुर्थ-पञ्चमपटलेषु वर्णिताः क्रमेण।

कालचक्रतन्त्रस्य पञ्चसु पटलेषु विभक्तं विषयविस्तरमधिकृत्य भोटपरम्परा बाह्यम्, अध्यात्मम्, अपरं चेति त्रिविधं कालचक्रमाचष्टे।[४] प्रथमो लोकधातुपटलो बाह्यं कालचक्रम्, द्वितीयोऽध्यात्मोऽध्यात्मं कालचक्रम् शेषोऽपरं कालचक्रम्। बाह्यमध्यात्मं चेति कालचक्रद्वयमुत्पत्त्युत्पन्नक्रमसंविभक्तस्य साधनस्याधारं शोधयति। अपरे काल-चक्रेऽभिषेकपूर्वङ्गमं साधनम्, साधनपूर्वङ्गमा हि परमाक्षरज्ञानसिद्धिः। अतस्तृतीये पटलेऽभिषेकः, चतुर्थे साधनाख्यपटल उत्पत्तिक्रमभावनाभ्यासहेतुका लौकिकसिद्धयः, पञ्चमे ज्ञानपटले षडङ्गयोगरूप-उत्पन्नक्रमभावनाभ्यासहेतुका परमाक्षरज्ञानसिद्धि-

---

१. चतुःकायः। शुद्ध-धर्म-संभोग-निर्माणा इति गर्भजस्य तुर्य-सुषुप्ति-स्वप्न-जाग्रदवस्था-लक्षणाः। ते च बुद्धानां निरावरणा इति (वि॰ प्र॰, खण्डः १, पृ. २०)।

२. निर्माणसंभोगसुधर्मशुद्धं काद्यक्षरैः कायचतुष्कमुक्तम्। पञ्चमपटल-टीकायां मङ्गला-चरणश्लोकः ३, पृ. १।

३. विकल्पभावनातीतं महामुद्राक्षरं सुखम्।
.... ॥
परमाणुधर्मतातीतां प्रतिसेनास्वरूपिणीम्।
सर्वाकारवरोपेतां महामुद्राम् .... ॥
प्रथमपटलटीकायां प्रारम्भश्लोकौ (क्र. १३, १५),
वि॰ प्र॰, खण्डः १, पङ्क्तयः १३,१७,१८।

४. गेशे ल्हुण्डुब सोपा, "दि कालचक्र इनिशिएशन", व्हील ऑफ टाइम, सम्पा॰ गेशे ल्हुण्डुब सोपा, रॉजर जॅकसन, जॉन न्यूमन, स्नो लायन पब्लिकेशन्स, इथाका, न्यूयॉर्क १९९१ (१९८५), पृ॰ ९३।

रित्ययं विषयविस्तरः। षडङ्गो योगश्च यथा—प्रत्याहारः, ध्यानम्, प्राणायामः, धारणा, अनुस्मृतिः, समाधिश्च। यद्यपि गुह्यसमाजादिष्वनुत्तरयोगतन्त्रेषु षडङ्गोऽयं योग उपवर्णितोऽस्ति, कालचक्रस्य षडङ्गयोगस्तस्मात् क्वचित् क्वचिद् भिद्यते।[1]

कालचक्रस्य पञ्चमे पटले २६१ श्लोकाः, ये चतुर्षु महोद्देशेषु विभज्यन्ते। १. योगिनीतन्त्रादिस्फरणमहोद्देशः, २. चतुःकायविशुद्धिनिर्णयमहोद्देशः, ३. परमाक्षरज्ञानसिद्धिमहोद्देशः, ४. नानोपायविनेयमहोद्देशश्च। प्रथमपटलस्य द्वितीये तन्त्रदेशनाख्य उद्देशे टीकाकारः पुण्डरीकः परमादिबुद्धाख्यस्य मूलतन्त्रस्य पञ्चानां पटलानां विषयानुपूर्वीमुपस्थापयति।

तत्र मूलतन्त्रस्य पञ्चमे पटले विंशतिधा विषयप्रपञ्चः।[2] सोऽयं विषयप्रपञ्चः श्रीकालचक्र-लघुतन्त्रे समानः। स च विषयप्रपञ्चो यथा—

१. शरीरास्थ्यादिधातुविशुद्ध्या मण्डलविशुद्धिः।
२. काय-वाक्-चित्त-षट्कुलदेवताविशुद्धिः।
३. कादि-षड्वर्गपरिरचितानि षड्देवताकुलानि।
४. कादि-षट्त्रिंशदक्षरसम्बद्धानि षट्त्रिंशत्प्रज्ञोपायतन्त्राणि।
५. प्रज्ञोपायक्रियायोगानुविद्धतन्त्र-महासंवरमण्डल-षट्चक्रवर्तिस्फरणम्।
६. चतुर्थाभिषेकपरमाक्षरमहामुद्राज्ञानसिद्धिः।
७. ज्ञानमण्डलस्फरणम्।
८. बोधिचित्तसेवासाधनम्।
९. सर्वाकारज्ञानज्ञेयात्मिका महामुद्रासिद्धिः।
१०. सर्वकायवाक्चित्तकृत्यपरीक्षा।
११. चतुरशीतिसहस्रधर्मस्कन्धदेशना।
१२. बुद्धक्षेत्रोपसंहारः।
१३. आकाशधातौ सुमेरुपरमाणुरजःसमैर्बोधिसत्त्वैर्महासत्त्वैः सार्धं विहरणम्।

---

१. विस्तरेण विवरणार्थं द्र०, डॅनिअल कोझर्ट, हाइएस्ट योग तन्त्र, ॲन इण्ट्रोडक्शन टु दि एसोटेरिक बुद्धिज्म ऑफ टिबेट, स्नो लायन पब्लिकेशन्स, इथाका, न्यूयॉर्क, १९८६, पृ. १२३-१३१।

२. पुण्डरीक इमान् विषयविभागान् स्थानपदेन न निर्दिशति। तस्य मतेन इमे विषया भगवतः कालचक्रस्य स्वभावत्वेन स्थिताः। भोटपरम्परायां ते स्थानत्वेन निर्दिश्यन्ते (भो० ग्नस); निदर्शनार्थं द्र०, कालचक्रविषये मि-फम-कृतो निबन्धः, खण्डौ १, २, ङ्ग्युर ञिङ्मे सुङ रब, खण्डः ५८, गङ्टोक, १९७१; कोङ स्प्रुल योन तन ग्यं म्छो, शे ज्य कुन ख्यब म्ज़ोद, खण्डः १, शे रब ग्यल्त्सन पॅलेस मोनास्टरी, गङ्टोक, १९८२, पृ. ४९६-४९७।

१४. बुद्धक्षेत्रोत्पादः।
१५. बुद्धक्षेत्रे वज्राधिष्ठानम्।
१६. नानाधिमुक्तिकसत्त्वाशयवशेन धर्मदेशना।
१७. रसरसायनादिशरीरसिद्धिसाधनम्।
१८. परमाक्षरसुखेन सर्वसत्त्वार्थकरणम्।
१९. धर्मसंग्रहो गणितसंज्ञासंग्रहश्च।
२०. पञ्चाक्षर-षडक्षर-महाशून्य-बिन्दुशून्य-स्तुतिः।

पुण्डरीकप्रदत्तां मूलतन्त्रविषयसूचीमधिकृत्य निर्दिष्टा इमे विषयाः कालचक्र-लघुतन्त्र उपलभ्यन्ते। परं तत्रस्थः श्लोकक्रम उपरिनिर्दिष्ट-विषय-क्रमात् क्वचिद् भिद्यते।[1]

पञ्चमपटलगतेषु २६१ श्लोकेषु ९६ श्लोकाः पुण्डरीकेण 'इमानि वृत्तानि सुबोधानि' इति निर्दिश्य न व्याख्याताः, यद्यपि नैषा वास्तविकी स्थितिः। अन्तिमाः १३ श्लोकाः (२४९–२६१) उपसंहाररूपाः, येषां विषयो मूलतन्त्रान्नोद्धृतः।

तत्र परमाक्षरज्ञानसिद्ध्याख्यस्तृतीयः पटलः कञ्चिद् विशेषमावहति। पटलेऽस्मिन् एकमेव श्लोकम् (क्र. १२७) अधिकृत्य सुविस्तरा टीका विद्यते। टीकायाः प्रारम्भे पञ्चवाक्यसंवलितं मङ्गलाचरणं यत्र वज्रसत्त्व-महामुद्रा-परमाक्षरसुख-गुरु-बुद्ध-बोधि-सत्त्व-क्रोधराज-वज्रडाक-वज्रडाकिनीभ्यो नमस्कृतिर्विहितास्ति। विमलप्रभायामेवंविधं मङ्गलाचरणं पटलस्यारम्भे विधीयते, न तु महोद्देशस्य। अस्मिन् महोद्देशे बौद्ध-बौद्धेतर-ग्रन्थेभ्यो बहवोंऽशा उद्धृताः सन्ति, येषु कालचक्रतन्त्रगता मञ्जुश्रीनामसंगीतिगताश्च विशेषेणोपलभ्यन्ते। अयं तु जिज्ञासाविषयो यत् कालचक्र-तन्त्रटीकेयं तस्मादेव तन्त्रादुद्धृतान् श्लोकान् पूर्णांशेनोद्धरति, न च प्रतीकरूपेण। पूर्वं चतुर्षु पटलेषु टीकायां नैकवारं निर्दिष्टमस्ति यत् (अमुकविषयमधिकृत्य) पञ्चमे पटले परमाक्षरज्ञानसिद्धौ वक्तव्य-मिति (द्र०, वि० प्र० १. २३, ४४, १४१, १६१; २.१०४)। तं निर्देशमनुसृत्य परमा-क्षरज्ञानसिद्धौ तेषां तेषां विषयाणां विस्तरेण व्याख्यानमुपलभ्यते। अत्र मञ्जुश्रीनाम-संगीतेर्नैके श्लोकाः स्तव-श्लोकसंख्यानिर्देशपूर्वकमुद्धृताः सन्ति। ग्रन्थस्यास्य काल-चक्रेण कोऽपि दृढः सम्बन्धः प्रतीयते। भोटत्रिपिटकस्य देर्गेसंस्करणे कन्ग्युरखण्डस्य तन्त्रविभागे प्रथमो ग्रन्थो मञ्जुश्रीनामसंगीतिः, तत ऊर्ध्वं कालचक्रग्रन्थाः सन्ति। पुण्डरीकेणापि परमादिबुद्ध-नामसंगीत्योः सम्बन्ध एवं प्रतिपादितोऽस्ति—"अतो ये परमादिबुद्धं न जानन्ति, ते नामसंगीतिं न जानन्ति; ये नामसंगीतिं न जानन्ति, ते वज्रधरज्ञानकायं न जानन्ति; ये वज्रधरज्ञानकायं न जानन्ति, ते मन्त्रयानं न जानन्ति;

---

१. कालचक्रविषयानुपूर्व्या अधिकविवरणार्थं द्र०, जॉन न्यूमन, उपरिनिर्दिष्टे ग्रन्थे, पृ. ९६; जिआकोमेला ओरोफिनो, सेकोद्देश, ए क्रिटिकल एडिशन ऑफ दि टिबेटन ट्रान्सलेशन्स, सेरी ओरिएण्टाल रोमा LXXII, इस्मेओ, रोम, १९९४, पृ. १४।

ये मन्त्रयानं न जानन्ति, ते संसारिणः सर्वे वज्रधरभगवतो मार्गरहिताः" ।[1] प्रथमे पटले द्वितीये तन्त्रदेशनोद्देशे विमलप्रभाकारः परमादिबुद्धं 'नामसंगीत्याऽलिङ्गितम्' इति पदेन निर्दिशति । इत्येवं ग्रन्थयोरनयोः परस्परं सम्बन्धः प्रदर्शयितुं शक्यते ।

अपरोऽपि कश्चिद् विशेषोऽस्याः पञ्चमपटलटीकायाः प्रकटयितव्यः । तत्र स्रग्धरावृत्तनिबद्धौ द्वौ श्लोकावुद्धृतौ (पृ० ९५, ९८), यौ टीकाकारमतेन कालचक्रतन्त्रस्य पञ्चमे पटले क्रमेण द्व्यशीत्यधिकशततमः सप्तत्यधिकशततमश्च स्तः । श्लोकाविमौ तन्त्रेऽस्मिन्नोपलभ्येते । बुस्तोन-महोदयोऽपि स्वीयायां विमलप्रभापञ्जिकायामेतच्छ्लोकव्याख्यानावसरे निर्दिशति यत् श्लोकाविमौ साम्प्रतिकतन्त्रेषु नोपलभ्येते इति ।[2] चिन्त्येऽस्मिन् विषये सम्प्रति कोऽपि तर्क उपस्थापयितुं न शक्यते । तत्रान्येऽपि नैके श्लोका उद्धृताः सन्ति, येषां स्रोतो नाद्यापि दृष्टिपथमागतम् ।

पञ्चमपटले चतुर्थे नानोपायविनेयमहोद्देशे टीकायां ज्योतिष-रसरसायनादिविषयानधिकृत्य विवेचनमुपलभ्यते । लौकिकालौकिकसिद्धिहेतोर्मन्त्रिणा तनुरादौ संरक्षणीयेति कालचक्रे (२.१०७) निर्दिष्टपूर्वम् । अत्र पञ्चमे पटले चतुर्थपटलगतं श्लोकम् (४.२२४) उद्धृत्य टीकायां रसबोधिचित्तयोः साधर्म्यमुपवर्णितम् । तदित्थम्— "इह यथाग्निस्पर्शात् सूतकः प्रपलायति, सोपायेन तेनैवाग्निना बध्यते, तथा धर्मोदयस्पर्शाद् बोधिचित्तं प्रपलायति, सोपायेन तेनैव बध्यते" ।[3] सर्वेऽपीमे विषया अधिकतरमन्वेषणमर्हन्ति ।

प्रस्तुतखण्डप्रकाशनेन स्वर्गीय-प्रो०-जगन्नाथ-उपाध्याय-संकल्पितो विमलप्रभाप्रकल्पोऽयं पूर्णतां यास्यति । वयं स्वीयाः परिसीमाः प्रस्तुतसंस्करणोपसृष्टांश्च दोषान् स्फुटं विद्मः । विमलप्रभाप्रस्तावनारूपः कालचक्रविस्ताराध्ययनसंवलितो ग्रन्थविशेषः सम्पादयितव्य इत्यस्ति नो मनीषा । आगामिनि काले विमलप्रभाया द्वितीयं परिष्कृतं च संस्करणं प्रकाश्येतेत्याशास्महे इति शम् ।

सम्पादकाः

---

१. वि० प्र०, खण्डः १, पृ. ५२ ।

२. बुस्तोनकृता विमलप्रभापञ्जिका, दि कलेक्टेड वर्क्स ऑफ बुस्तोन, सम्पा० लोकेशचन्द्रः इण्टरनेशनल अकादेमी ऑफ इण्डियन कल्चर, न्यू दिल्ली, १९६५, पृ, १९६, पङ्क्तिः ५; पृ. २०४, पङ्क्तिः ४ ।

३. वि० प्र०, खण्डः ३, पृ. ८१; तथा च द्र०, वि० प्र०, खण्डः १, पृ. ६ (श्लोकौ ४६, ४९), पङ्क्तयः ४-७ ।

PREFACE

The present edition is the third and the last volume of a critical edition of the *Vimalaprabhā* (VP), comprising the commentary on the fifth, i. e , the *Jñānapaṭala* of the *Kālacakra Tantra* (KT). The edition is based mainly on a unique manuscript, designated in the present edition as *Ca*, containing almost a complete text of the VP, deposited in the Asiatic Society, Calcutta (MS No. 10766).[1] Another manuscript, designated as *Ga*, is deposited in the National Archives, Kathmandu (C. No. 5-240; V. No. 9; NGMPP Micro-film reel No. A 48/1).[2] This manuscript has, after the end of the commentary on the fourth *Paṭala*, the portion covering the commentary on the first 46 verses of the fifth *Paṭala*. The manuscript deposited in the Asiatic Society is a palm-leaf manuscript written in Bengali characters of the late part of the 10th cent. A. D. The manuscript was copied on the 29th day of *Āṣāḍha* in the 39th regnal year of Harivarman, a king of Bengal, who reigned probably during the latter half of the eleventh to the first half of the twelfth century A. D.[3] Referring to the description of this manuscript given by M. M. Hara Prasad Shastri, and on the basis of the colophon of the manuscript, and the astronomical data in the text, R. C. Majumdar identifies the date of the manuscript as 1119 A.D.[4] The manuscript is invaluable, for it is the oldest manuscript, copied within a century after the composition of the VP[5] and is therefore supposed to be closer to the original manuscript.

---

1. M. M. Hara Prasad Shastri (ed.), *A Descriptive Catalogue of Sanscrit Manuscripts in the Government Collection under the care of the Asiatic Society of Bengal*, Vol. I, *Buddhist Manuscripts*, Calcutta, 1917, pp. 79-82.

2. VP, Vol. I, p. xxix; Mitotushi Moriguchi (ed.), *A Catalogue of the Buddhist Tantric Manuscripts in the National Archives of Nepal and Kesar Library*, Sankibou Busshorin, Tokyo, 1989, Ser. No. 98, p. 26.

3. According to Shastri, he reigned during the last half of the 10th century A. D., *op. cit.*, p. 80.

4. R. C. Majumdar, *History of Bengal*, G. Bharadwaj & Co., Calcutta, 1971, p. 216 (n. 31).

5. For the date of the KT and the VP, see, John Newman, "The *Paramādibuddha* (the *Kālacakra Mūlatantra*) and its relation to the early *Kālacakra* literature", *Indo-Iranian Journal* XXX (2), 1987, p. 100.

The final aim of the KT, like that of other *Anuttarayoga* tantras, is the accomplishment of the Buddhahood during this human life. All qualities of Buddhahood are characterised by the four bodies of a Buddha—Emanation-body (*nirmāṇakāya*), Enjoyment-body (*Sambhogakāya*), Dharma-body (*dharmakāya*) and Pure (*śuddha-*) or innately produced body (*sahajakāya*). These bodies possess the characteristics of the four states—waking (*jāgrat*), dream (*svapna*), deep sleep (*suṣupti*) and the fourth (*turya*) and are, in the case of a Buddha, free from all obscurations (*nirāvaraṇa*).[1] The four letters of the word *kālacakra* symbolize these four bodies.[2] This state of Buddhahood is the transformation of the practitioner into a Buddha, the *iṣṭadevatā*, in this case, Kālacakra. This state of Buddhahood is the supreme unchanging bliss (*paramākṣarasukha*) which is also the supreme unchanging gnosis (*paramākṣarajñāna*). This gnosis is obtained by the practice of *Mahāmudrā*. The accomplishment of *Mahāmudrā* is beyond conceptual meditation, is beyond the reality of particles, has the nature of a mirror-image and is endowed with the best of all aspects.[3] The accomplishment of the supreme unchanging gnosis is the highest, supermundane (*alaukika*) *siddhi*. It is to be accomplished by the practice (*sādhana*) consisting in two stages—the stage of generation (*utpattikrama*) and the stage of completion (*utpanna* or *niṣpannakrama*) for which the practitioner is empowered by various initiations (*abhiṣeka*). In the *Kālacakra* tradition, there are eleven initiations, the first ten of which are the mundane (*laukika*) initiations and the last one, the supermundane (*alaukika*). According to the usual classification in the *Anuttarayoga* tantras, the mundane initiations are in all three; therefore, the supermundane one is called 'the fourth' (*caturtha*). The mundane initiations lead to the accomplishment of the mundane *siddhis*, up to the limit of the attainment of the *Akaniṣṭha* abode, while the supermundane initiation is instrumental in accomplishing the supermundane *siddhi*, the supreme unchanging gnosis. The mundane *siddhis* are obtained by the *maṇḍala* and other practices and

---

1. *catuḥkāyāḥ | śuddha-dharma-sambhoga-nirmāṇā iti garbhajasya turya-suṣupti-svapna-jāgrad-avasthālakṣaṇāḥ | te ca buddhānāṁ nirāvaraṇā iti |* VP, Vol. I. p. 20.

2. *nirmāṇa-sambhoga-sudharma-śuddhaṁ*
kādyakṣaraiḥ kāyacatuṣkam uktam |
Benedictory verse 3, VP on *Paṭala* V; Vol. III, p. 1.

3. *vikalpabhāvanātītaṁ mahāmudrākṣaraṁ sukham | ......*
paramāṇudharmatātītāṁ pratisenāsvarūpiṇīm |
sarvākāravaropetāṁ mahāmudrām ......
Introductory verses (nos. 13ab, 15), VP, Vol. I, p. 2, lines 13, 17, 18.

the supermundane *siddhi* is obtained by the practice of *Mahāmudrā*. The initiation, the practice and the final result, i. e., the supreme unchanging gnosis, are the subjects of the third, the fourth and the fifth *Paṭalas* respectively.

In connection with the contents of the five *Paṭalas* of the KT, the Tibetan tradition speaks of the three *Kālacakras*: the Outer *Kālacakra* (**bāhya*, Tib. *phyi'i dus 'khor*), the Inner *Kālacakra* (**adhyātma*, Tib. *nang gi dus 'khor*) and the Other *Kālacakra* (**apara*, Tib. *gzhan gi dus 'khor*).[1] The first *Paṭala* describing 'the world realm' (*lokadhātu*) is the Outer *Kālacakra*. The second, describing 'the inner (world)' (*adhyātma*), is the Inner *Kālacakra*, and the remaining three chapters comprise the Other *Kālacakra*. The Outer and the Inner *Kālacakras* are the bases to be purified by the third, i. e,. the Other *Kālacakra*, describing the stage of generation and the stage of completion. The third chapter describes the initiation which precedes the practice. The fourth chapter describing the mundane *siddhis* through the practice (*sādhana*) describes the stage of generation and precedes the fifth chapter which describes the stage of completion consisting of the six-limbed yoga (*ṣaḍaṅga-yoga*). The six limbs of the *yoga* are : 'collection' (*pratyāhāra*), 'absorption' (*dhyāna*), 'wind control' (*prāṇāyāma*), 'retention' (*dhāraṇā*), 'mindfulness' (*anusmṛti*) and 'enrapture' (*samādhi*). The six-limbed *yoga* is also described in other *Anuttarayoga* tantras, such as the *Guhyasamāja*; but the *yoga* of the KT differs from that on certain points.[2]

The fifth chapter of the KT has 261 verses. The VP divides them into four *Mahoddeśas* :

1. *Yoginītantrādispharaṇa* 'Emission of the *Yoginītantra* and others'
2. *Catuḥkāyaviśuddhinirṇaya* 'Consideration of the purification of the four bodies (of a Buddha)'
3. *Paramākṣarajñānasiddhi* 'Accomplishment of the supreme unchanging gnosis.'
4. *Nānopāyavineya* 'Instructions (?) into various methods.'

---

1. Geshe Lhundub Sopa, "The Kalacakra Tantra Initiation", in *The Wheel of Time*, ed. Geshe Lhundub Sopa, Roger Jackson and John Newman, Snow Lion Publications, Ithaca, New York, 1991 (1985), p. 93; Glenn H. Mullin, *The Practice of Kālacakra*, Snow Lion Publications, Ithaca, New York, 1991, pp. 168, 208.
2. For a detailed discussion, see, Daniel Cozort, *Highest Yoga Tantra, An Introduction to the Esoteric Buddhism of Tibet*, Snow Lion Publications, Ithaca, New York, 1986, pp. 123-131,

In the second *uddeśa* of the first *Paṭala*, describing 'the teaching of the Tantra' (*tantradeśanā*), Puṇḍarīka, the commentator, gives the outline of the contents of the five *Paṭalas* of the *Mūlatantra*, i. e., the *Paramādibuddha*. The fifth *Paṭala* of that work has twenty topics (**sthāna*, Tib. *gnas*).[1] These topics are similar to those occurring in the present text of the KT. The topics are :

1. Purification of the *rajomaṇḍala* by way of purifying the body-*maṇḍala* consisting in bones, elements etc.
2. Purification of the deities of body, mind and speech and six families of deities.
3. Six deity families corresponding to the six groups of consonants beginning with that of *Ka*.
4. The thirty-six wisdom and method tantras corresponding to the thirty-six letters beginning with *Ka*.
5. Emission of the wisdom tantras, method tantras, *Kriyā* tantras, *Yogānuviddha* tantras, *mahāsaṁvaramaṇḍala* and six *cakravartins*.
6. The Fourth initiation; accomplishment of the supreme unchanging gnosis of *Mahāmudrā*.
7. Emission of the gnosis-*maṇḍala*.
8. Practice of serving the *bodhicitta*.
9. Accomplishment of *Mahāmudrā* which is endowed with all aspects of knowledge and knowables.
10. Investigation into all functions of body, speech and mind.
11. Teaching of eighty-four thousand aggragates of Dharma.
12. Dissolution of the Buddha-field.
13. Wandering in the space with the Bodhisattvas, the mahāsattvas, equalling the particles of Sumeru.
14. Evolution of Buddha-field.
15. Blessing the Buddha-field as *Vajra*.

---

1. Puṇḍarīka does not mention the contents as *sthānas*. According to him, these contents are the nature of the Lord Kālacakra. According to the Tibetan tradition, these are the 'topics' (**sthāna*, Tib. *gnas*); see, e. g., *Mipham on the Kālacakra*, Vols. I & II, *sNga-'gyur rnying-ma'i gsung-rab*, Vol. 58, Gangtok, 1971; Kong-sprul yon-tan rgya-mtsho, *Shes-bya kun-khyab-mdzod*, Vol. I, Sherab Gyaltsen Palace Monastery, Gangtok. 1983, pp. 496-497.

16. Teaching of Dharma according to the dispositions of beings having various inclinations.
17. Accomplishment of bodily *siddhis* through quicksilver, alchemy and so forth.
18. Working for the purpose of all sentient beings through the supreme unchanging bliss.
19. Treatise on Dharma, mathematical terms.
20. Praise of *Pañcākṣara*, *ṣaḍakṣara*, *Mahāśūnya* and *Binduśūnya*.

These topics, based on the list of contents of the *Mūlatantra* given by Puṇḍarīka, are found in the KT, but the order of the verses is not exactly in accordance with that of the topics mentioned above.[1]

Out of 261 verses of the KT, there are in all 96 verses that have not been commented upon by Puṇḍarīka, saying that they are easy to understand, though it is not the case. The last 13 verses (249–261) form a sort of epilogue, the contents of which are obviously not based on the *Mūlatantra*.

Of special interest is perhaps the third *Mahoddeśa* discussing the *Paramākṣarajñānasiddhi*. This is a long commentary on a single verse 127. The section begins with five salutations to Vajrasattva, Mahāmudrā, Paramākṣarasukha, Guru, Buddha and Bodhisattvas, Krodharājas, Vajraḍāka and Vajraḍākinīs. Ordinarily such benedictions occur in the beginning of a *Paṭala* and not a section. This section quotes passages extensively from various texts, Buddhist and non-Buddhist as well, especially the KT and the *Mañjuśrī-nāmasaṅgīti* (MNS). It is curious to know that it quotes verses from the KT in full extent. Ordinarily, the passages from the root text are quoted by *pratīkas* in the commentary. In the first four *Paṭalas*, we come accross the statements that a particular topic will be discussed in detail in the fifth *paṭala*, especially in the section on the *Paramākṣarajñānasiddhi* (see e.g., VP I. pp. 23, 55, 141, 161; II. 104). Accordingly, The present section discusses the topics that have been mentioned in brief in the former chapters. It quotes verses from the MNS with specific mention of chapters and numbers of verses. This shows a close relation between the MNS and the KT. It may be pointed out here that the

1. For more discussion on the order of topics in the KT, see John Newman, *op. cit.*, p. 96; Giacomella Orofino, *Sekoddeśa, A Critical Edition of the Tibetan Translations*, Serie Orientale Roma LXXII, IsMEO, Rome, 1994, p. 14.

Tantra Section (*rGyud*) of the Kanjur in the Derge edition begins with the MNS, immediately followed by the *Kālacakra* texts. Puṇḍarīka describes the relation between the *Paramādibuddha* and the *Nāmasaṅgīti* in the following words : "Those who do not know *Paramādibuddha*, do not know *Nāmasaṅgīti*; those who do not know *Nāmasaṅgīti*, do not know the gnosis-body of Vajradhara, those who do not know the gnosis-body of Vajradhara, do not know the *Mantrayāna*; those who do not know the *Mantrayāna*, they are all attached to the mundane existence (and) separate from the path of the Lord Vajradhara."[1] At the outset, the VP describes the *Ādibuddha* as 'one embraced by *Nāmasaṅgīti*' (*nāmasaṅgītyā'liṅgitam*, VP I, p. 12). These statements point to the affinity between these two texts.

One more point to be noted is that this section quotes in full two verses in the *Sragdharā* metre, said to be the verses 182 and 170 from the fifth *Paṭala* of the *Tantrarāja*, i.e., the KT. These verses are not found in the present text of the KT. Bu-ston also points out their omission in the present *Kālacakra* texts.[2] It is not possible to make any conjecture in this matter at this stage.

There are many other verses quoted throughout the commentary on the fifth *Paṭala*, the sources of which are yet to be traced.

The fourth section, dealing with instructions into various methods, includes data on astrology, alchemy and kindred topics. It has been stated in the KT (II. 107) that the practitioner, possessing *mantra*, should first protect his own body in order to accomplish the mundane and supermundane *siddhis* (VP I, p. 228). In the present text, the analogy between the binding of quicksilver and protecting the *bodhicitta* is established : "With the touch of fire, quicksilver runs away; but is bound by the same fire, endowed with method. Similarly, the *bodhicitta* escapes with the touch of *dharmodaya*;

---

1. ..... *ye paramādibuddhaṁ na jānanti, te nāmasaṅgītiṁ na jānanti/ye nāmasaṅgītiṁ na jānanti, te vajradharajñānakāyaṁ na jānanti /ye vajradharajñānakāyaṁ na jānanti, te mantrayānaṁ na jānanti / ye mantrayānaṁ na jānanti, te saṁsāriṇaḥ sarve vajradharabhagavato mārgarahitāḥ/* VP, Vol. I, p. 52.

2. Bu-ston's annotations on the VP, *The Collected Works of Buston*, ed. Lokesh Chandra, International Academy of Indian Culture, New Delhi, 1965, p. 196, l.5; p. 204, l.4.

but is bound by the same, endowed with method.[1] All these topics need further investigation.

The present volume marks the completion of the *Vimalaprabhā* Project undertaken by the late Prof. Jagannath Upadhyaya. We are aware of our limitations and shortcomings in the present edition. We intend to bring out a separate volume which would serve as an introduction to the *Vimalaprabhā* and include a detailed study of the *Kālacakra*. We hope that a second and revised edition of the VP will also be brought out in future.

Editors

---

1. *iha yathā'gnisparśāt sūtakaḥ prapalāyati, sopāyena tenaivā'gninā badhyate, tathā dharmodayasparśād bodhicittaṁ prapalāyati, sopāyena tenaiva badhyate* /. VP. Vol. III, p. 81. See also, VP, Vol. I. p. 6 (verses 48 & 49), lines 4-7.

विषय-सूची

* अस्यामनुक्रमण्याम् I, II, III इति चिह्नैः विमलप्रभायाः प्रथमः, द्वितीयः, तृतीयश्च खण्डो निर्दिष्टः। ततोऽनन्तरं पृष्ठसंख्या निर्दिष्टाऽस्ति।

श्रीमञ्जुश्रीयशोविरचितः परमादिबुद्धोद्धृतः

श्रीलघुकालचक्रतन्त्रराजः

तस्य

वज्रकुलाभिषेकेण सर्ववर्णैककलककरणसमर्थेन

कल्किना श्रीपुण्डरीकेण कृता

विमलप्रभा टीका



कालचक्र



कूटाक्षरमन्त्र

५. ज्ञानपटलः पञ्चमः

(१) योगिनीतन्त्रादिस्फरणमहोद्देशः

[1][169a[3]] ॥ [2]नमः श्रीकालचक्राय ॥

येनाकृष्य मनोभवः स्वकुलिशान्नीतो ललाटं स्वकं T 414
प्रज्ञाज्ञानबलेन शाक्यमुनिना वज्रं महोष्णीषकम् ।
सालम्बाऽनणुशून्यता सुकरुणाऽनालम्बिनी यस्य वै
तस्मै देवनरासुराहिगुरवे विश्वैकशास्त्रे नमः ॥

कारणं लक्षणं नास्ति चलो नास्ति क्रमस्तथा ।
कालचक्राभिधानेन यस्य नत्वा तमद्वयम् ॥

निर्माणसम्भोगसुधर्मशुद्धं काद्यक्षरैः कायचतुष्कमुक्तम् ।
यस्यादिबुद्धस्य निरन्वयस्य [3]तथागतं तं प्रणिपत्य मूर्ध्ना ॥

श्रीज्ञानपटले टीका मञ्जुश्रीचोदितेन वै ।
लिख्यते पुण्डरीकेण सुगतव्याकृतेन च ॥

मया निर्मितकायेन लोकेशेनाब्जधारिणा ।
ऋषीणां सर्वसत्त्वानां पुण्यज्ञानफलाप्तये ॥

इह श्रीमति कलापग्रामदक्षिणमलयोद्याने श्रीकालचक्रमण्डलगृहपूर्वद्वारावसाने रत्नमण्डपे महामणिरत्नसिंहासनस्थो यशोनरेन्द्रो मञ्जुश्रीनिर्मितकायो ब्रह्मर्षिसूर्यरथाध्येषितः परमादिबुद्धाज्ज्ञानपटले सुचन्द्राध्येषणं तथागतप्रतिवचनं प्रथमवृत्तेनाह—

किञ्चिज्ज्ञातं हि भर्तुर्जिनवरसहितं साधनं यत्त्वयोक्तं
भूयोऽहं श्रोतुकामस्त्रिदशनरगुरो मण्डलं धातुभेदैः ।
बुद्धानां षट्कुलानि त्वलिकलिषु गतान्येव षड् योगिनीनां
श्रुत्वा सौचन्द्रवाक्यं गदति जिनपति[4]र्धातुभिर्मण्डलाद्यम्[5] ॥१॥

इह प्रथमवृत्तेनादिबुद्धात् सुचन्द्राध्येषणं तथागतप्रतिवचनमर्थशरणतया संगीतं मञ्जुश्रिया, तदेव टीकया वितन्यते—किञ्चिदित्यादि । इह [6]साधनपटले यद्भर्तुः साधनं

---

१. अतः परं च. मातृकायाः पत्रसंख्या दीयते । २. ग. च. 'नमः श्रीकालचक्राय' नास्ति ।
३. ग. च. तथागतैस्तं । ४. भो. Khams Kyi dBye Bas (धतुभेदैः) ।
५. ग. भो. इति । ६. च. साधना ।

तथागतसहितं कालचक्रस्य यत् त्वयोक्तं हे त्रिदशनरगुरो शाक्य[1]मुने ! तत्किञ्चित् मया ज्ञातम् । तस्माद् भूयोऽहं श्रोतुकामः कालचक्रमण्डलं शरीरे धातुभेदैरिति, अस्थ्यादिधातुविशुद्धिभिरिति । अन्यच्च बुद्धानां षट्कुलानि श्रोतुकामः, या[2]न्यलिकलिषु गतानीति, अकारादि[169b]स्वरेषु गतानि, ककारादिव्यञ्जनेषु गतानीति वक्ष्यमाणानि, एवं षड् योगिनीनामिति । यथा षट्स्कन्धानां षट् कुलानि तथा षड्धातूनामपि आदिकादिषु गतानीति । श्रुत्वा सौचन्द्रवाक्यमिदं ततो गदति जिनपतिः सहजादिचतुःकायात्मनिरावरणस्कन्धा[दय]ः, तेषां पतिर्जनकः संबुद्ध आदिबुद्ध इति । [3]धातुभिर्मण्डलाद्यमिति षट्कुलादिकं वक्ष्यमाण[म्] । इति देशकाध्येषकसम्बन्धः । अस्मिन् वृत्ते पादत्रयेण सुचन्द्राध्येषणम्, चतुर्थपादमारभ्य यावत् पटलपरिसमाप्तिस्तावत् तथागतप्रतिवचनम् । पुनरध्येषणा नास्ति [इति] अस्मिन् तन्त्रे नियमः ॥ १ ॥

इदानीं धातुविशुद्ध्या मण्डलविशुद्धिरुच्यते—

स्तम्भान् वज्रावलीं वै कुरु महिवलयं भित्तिमेवास्थिभिश्च
मांसासृक्तोयविड्भिः सुरयमधनदे चापरे रज्जुपातम् ।
पित्तेन श्लेष्मणार्कं शशिनमपि तथा स्नायुभिस्तोयजानि
पञ्चप्राकाररेखाः क्षितिजलहुतभुङ्मारुताकाशजाभिः ॥२॥

स्तम्भानित्यादि । इह शरीरास्थिभिः शरीरे कायमण्डले स्तम्भान् कुरु इति [4]कल्पनया । एवं वज्रावलीं पृथ्वीवलयं भित्तिमपि, अस्थिभिः कुर्विति वृत्तत्रये सम्बन्धः । अनया विशुद्ध्याऽस्थिचूर्णादिकं प्रक्षिपेद् रजोमध्ये । मांसासृक्तोयविड्भिरिति, मांसविशुद्ध्या सुरे पूर्वे रज्जुपातः, रक्तविशुद्ध्या [5]यमे दक्षिणे रज्जुपातः, तोयविशुद्ध्या उत्तरे धनदे रज्जुपातः, विड्विशुद्ध्याऽपरे पश्चिमे रज्जुपात [6]इति । मध्ये शुक्रविशुद्ध्या रज्जुपातः । यत्र षष्ठो रजस्तत्र रजोविशुद्ध्या रज्जुपात इति । एवं तथागतमांसादिविशुद्ध्या यथाक्रमममोघो रत्नेशोऽमिताभो वैरोचनोऽक्षोभ्यो वज्रसत्त्वश्चेति षट् । पित्तेनेति पित्तधातुना अर्कासनानि[7], श्लेष्मधातुना चन्द्रासनानीति । अर्कं शशिनमपि । स्नायुभिस्तोयजानि चन्द्रादित्यासनतले । पञ्चप्राकाररेखा इति । प्रथमरेखा क्षितिजया अङ्गुष्ठविशुद्ध्या, द्वितीया तोयजया तर्जनीविशुद्ध्या, तृतीया वह्निजया मध्यमाविशुद्ध्या, चतुर्थी वायुजया अनामिकाविशुद्ध्या, पञ्चम्याकाशजया कनिष्ठाविशुद्ध्येति । एवं पञ्चप्राकाररेखाः कुरु रजोमण्डले इति ॥ २ ॥

---

१. ग. मुनि । २. भो. आलिकालिषु । ३. भो. Khams Kyi dBye Bas (धातुभेदैः) । ४. ग. 'कल्पनया' नास्ति । ५. ग. यामे । ६. भो. 'इति' नास्ति । ७. ग. नादिति ।

भर्त्रब्जं कालनाड्या चलशिखिवलयाद्यं च चर्मादिभिश्च
अर्कद्वाराणि रन्ध्रैर्मणिमयरचनां दन्तपङ्क्त्या तथैव ।
चक्राण्यष्टौ श्मशाने चलवलयगतान्यङ्गुलीनां नखैश्च
वज्रार्चिर्लोमभिर्वै दिशिविदिशिगतैर्मण्डलस्यावसाने ॥३॥

भर्त्रब्जं कालनाड्येति । अवधूत्या नायकस्य पद्मं विशुद्धम्, शेषाणि ललनादिभिरिति द्वासप्ततिसहस्रपर्यन्तैः स्नायुभिरिति नियमः । **चलशिखिवलयाद्यं चर्मादिभिश्चेति** । इह वायुवलयं चर्मभिः, अग्निवलयं [1]रक्तोष्णधातुना, उदकवलयं प्रस्वेदेन । **अर्कद्वाराणीति** द्वादशद्वाराणि द्वादशरन्ध्रैः । श्रोत्रे द्वे, घ्राणे द्वे, नेत्रे द्वे, मुखे एकम्, [2]मूत्रविट्-शुक्ररन्ध्राणि त्रीणि, स्तनद्वये द्वे—एवं द्वादश रन्ध्राणि रजोमण्डले कुरु द्वादशरन्ध्र-विशुद्ध्येति । **मणिमयरचना** या मण्डले हारादिका या(तां) दन्तपङ्क्त्या कुरु । **चक्राण्यष्टौ श्मशाने** यानि **तान्यङ्गुलीनां नखैश्चेति** हस्तपादनखविशुद्ध्या कुरु । **वज्रार्चिर्लोमभिर्वै** इति । बाह्यवज्रावलीं वज्रज्वालालोमभिः कुरु । **दिशिविदिशिगतैर्लोमभिर्मण्डलस्यावसाने** वज्रार्चिः ॥ ३ ॥

एवं वै कायवज्रं वरविविधगुणं मण्डलाकारमुक्तं
वाग्वज्रं चादिकाद्यं सकलजिनकुलैर्देवताकारमेव ।
षट्शून्यैश्चित्तवज्रं त्रिविधभवगतं नायकाकारमेक-
मेवं वै ज्ञानवज्रं भवभयमथनं विश्वमातृस्वरूपम् ॥४॥

एवं वै कायवज्रं षड्धात्वात्मकम्, **वरविविधगुणं** पृथिव्यादिभेदैः, **मण्डलाकार-मुक्तमिति** मण्डलनियमः । इदानीं देवतागणविशुद्धिरुच्यते—वाग्वज्रमित्यादि । इहा-
[170a]**दिकाद्यं** स्वरव्यञ्जनात्मकम्, **वाग्वज्रं** स्वरव्यञ्जनपरिणतं देवतागणम्, **सकल-जिनकुलैः** सार्धम् । तेन वाग्वज्रं **देवताकारमेवोक्तम्** । तदेव रजोमण्डले देवताकारं कुरु
इति । **षट्शून्यैश्चित्तवज्रमिति** चक्षुर्विज्ञानं श्रोत्रविज्ञानं घ्राणविज्ञानं जिह्वाविज्ञानं
कायविज्ञानं मनोविज्ञानं [3]विशुद्ध्या षड्विधम् । **षट्शून्यै** रूपादिविषयैर्निरावरणं T 415
चित्तवज्रं भवति । **त्रिविध**[4]**भवगतं** सर्वव्यापि **नायकाकारमेकं** कुरु । **एवं वै ज्ञानवज्रं**
[5]ग्राह्यचित्तं त्रिविधभवगतं **विश्वमातृस्वरूपं** शून्यताबिम्बं **भवभयमथनं** सर्वकल्पना-विनिर्मुक्तम् । प्रज्ञां [6]कुरु मण्डले नायिकामिति । एवं शरीरे कायवाक्चित्तज्ञानधातवः, बाह्ये मण्डलं देवतागणो नायको नायिका चेति संवृत्या, विवृत्या निर्माणं सम्भोगं धर्मं सहजमिति सिद्धम् ॥ ४ ॥

---

१. ग. रक्तकृष्ण । २. च. गुद । ३. च. विशुद्धं । ४. ग. भगवता । ५. ग. ग्राह्यं ।
६. ग. कुरु इति । एवं षट्शून्यैश्चित्तवज्रमिति ।

इदानीं षण्मन्त्रकुलान्युच्यन्ते—

वर्गाणां कादिषण्णां क्रमपरिरचितानां कुलानि क्रमेण
वज्रासी रत्नचक्रं जलजमपि तथा कर्तिका वै जिनानाम् ।
भूयश्चैकैकवर्गः सकलजिनवरैर्भिद्यते पञ्चभेदैः
प्रत्येकं वर्णभेदात् क्षितिजलहुतभुङ्मारुताकाशभावात् ।।५।।

वर्गाणामित्यादि । इह कादयः षड्वर्गाः क च ट त प [1]शा इति, तेषां **वर्गाणां कादिषण्णां क्रमपरिरचितानां कुलानि** षड् जिनानां वज्रादिचिह्नानीति । तत्र **वज्रं** कवर्गकुलम् **असिश्**चवर्गकुलं, **रत्नं** टवर्गकुलं **चक्रं** तवर्गकुलं **जलजमपि** पवर्गकुलं **तथा कर्तिका** [2]शवर्गकुलम्, **वै** एकान्तमिति वर्गकुलनियमः । **भूयश्चैकैकवर्गः सकलजिनवरैर्भिद्यते** [3]**पञ्चभेदै**रिति । इह यत्रैकं तत्र पञ्चकुलानि समुदयसत्येन भवन्ति । तेन तैर्व्यवहारो लौकिकसिद्धये । अतश्चैकैको वर्गः **प्रत्येकं वर्णभेदात्** क्षितिभावाज्जलभावाद् हुतभुग्भावान्मारुतभावादाकाशभावाद् भिद्यते पञ्चधा वर्गः । प्रत्येक[4]मिति क ख ग घ ङ इति ।। ५ ।।

एवं चादयः संहारक्रमेण पठिताः प्रत्याहारपाठेन पुनङादयः सृष्टिक्रमेणाकाशादिना पठिता इति [5]तेऽप्युच्यन्ते—

आदौ शून्यप्रभेदास्त्वपि ङ ञ ण म ना≍कस्तथादिस्वरश्च
वायोर्भेदस्त्विकारस्तु घ झ ढ भ ध शा वह्निभेदास्त्वगाद्याः ।
अम्भोभेदोऽप्युकारः≍प ख छ ठ फ थ वा भूमिभेदे लृकाद्या
एवं पञ्चप्रकारैः परमजिनकुलैः कादिवर्गा विभिन्नाः ।।६।।

आदावित्यादि । इहादौ तावच्छून्यस्त्वपि ङ ञ ण म नास्तथा≍कः । [6]अपि **चादिस्वरश्चे**त्यकारः । "तन्मध्यपतितस्तद्ग्रहणेन गृह्यते" इति परिभाषया हकारोऽप्याकाशभेद इति सिद्धः । एवं **वायोर्भेदस्त्विकारो घ झ ढ भ ध शा** यकारश्चेति । **वह्नेः** [7]ऋ ग ज ड ब द षा र इति, **तोयस्य** उ ख छ ठ फ थ ≍पा व इति, **भूमेः** लृ क च ट प त सा ल इति । **एवं पञ्चप्रकारैः परमजिनकुलैः कादिवर्गा विभिन्ना** इति वज्रखड्गरत्नपद्मचक्रकुलैरुक्ताक्षराणि ङादीनि वेदितव्यानीति नियमः ।। ६ ।।

इदानीमुष्णीषकुलान्युच्यन्ते—

उष्णीषं पञ्चशून्यं त्रिकुलमपि तथा कायवाक्चित्तवज्र-
माद्या मुद्राकुलं वै हयरवलयुताः कादिवर्गाः समस्ताः ।

---

१. भो. स । २. च. भो. स । ३. च. पञ्चभिरिति । ४. भो. lTar (इव) ।
५. च. तेनोच्यते । ६. भो. 'अपि' नास्ति । ७. च. 'ऋ' नास्ति ।

लोकालोकं समात्रा हयरवलयुता लोकलोकोत्तरं च
काद्या विद्याधरेन्द्रं भवति हि सकलं चाष्टकूटस्थवर्गाः ॥७॥

उष्णीषमित्यादि । इह **महोष्णीषकुलं** महद् यत्तत् **पञ्चशून्यं** लोकधातुपटले उक्तम् । **त्रिकुलं कायवाक्चित्तवज्रम्** ॐ आः हूमिति । **आद्या** इति अ इ ऋ उ ऌ । मुद्राकुलमक्षोभ्यादिकं देवतागणमुद्रणायेति । **लोकालोककुलं** महदिति ह य र व ल-[1]युताः **कादिवर्गाः समस्ता** इति षट्त्रिंशद् व्यञ्जनानीति । ह य र व ल [2]युताः **समात्रा** वर्गाः हादयः समात्राः षष्टि [:] पूर्वोक्ताः कादयः समात्राः षष्ट्युत्तरत्रिशताः पुनः पुनर्गुणवृद्धियणादेशभिन्ना अशीत्युत्तरसहस्राः, **लोकलोकोत्तरकुलं च भवति । काद्या विद्याधरेन्द्रं** संयुक्तं व्यञ्जनं **भवति** [3]**हि सकलं चाष्टकूटस्थवर्गा** इति । क् ख् ग् घ् ङ च् छ् ज् झ् ञ ट् ठ् ड् ढ् ण प् फ् ब् भ् म त् थ् द् ध् न [4]स् ⌒प् ष् श् ⌒क ल् व् र् य् ह [170b] ल् व् र् [5] य् क्ष इति ॥ ७ ॥

इदानीं प्रत्येकं[के] का[6]द्यक्षरे प्रत्येकैकतन्त्रमुच्यते—

त्रिंशद् वै कादिवर्णा हयरवलयुताः सक्ष षट्त्रिंशदेव
भिन्ना मात्राविकारै रसगुणितरसाश्चक्रनाथा भवन्ति ।
एकाङ्गश्चैकया वै द्विसपरिकरितः प्रज्ञयालिङ्गितोऽभूत्
पञ्चात्मा पञ्चभिः स्यान्नवपरिकरितश्चक्रनाथो नवात्मा ॥८॥

त्रिंशदित्यादि । इह **कादीनि त्रिंशद्** व्यञ्जनानि **हयरवलक्षसहितानि षट्त्रिंशदेव** तानि, **वर्णा** इति । ते वर्णा **भिन्ना मात्राविकारैरिति** । मात्रा अकारादयो ह्रस्वदीर्घा द्वादश, गुणवृद्धिस्थानीया द्वादश, यणादेशा [7]द्वादश । एभिः षड्भिः षड्भिर्मात्राविकारैर्विभिन्नाः सन्तो **रस[8]गुणितरसाश्चेति** षट्त्रिंशच्**चक्रनाथा भवन्ति** । प्रत्येको वर्णः षट्त्रिंशदङ्गैर्भिन्नो भवति । [9]एषां सर्वेषां षट्त्रिंशदिति षट्त्रिंशत्तन्त्रेषु चक्रनाथा अपि भवन्ति षट्त्रिंशद्व्यञ्जनस्थानस्वरूपेणेति प्रथमं कव्यञ्जननायकेन कवज्रतन्त्रमुच्यते । तत्र मण्डले नायक **एकाङ्गश्चैकया** मात्रया भिन्नः कव्यञ्जनमकारेण सहितमेकवीरः । **द्विसपरिकरित** इति द्वाभ्यामकाराभ्यां युक्तः **प्रज्ञयाऽऽलिङ्गितो** नायको भवतीति का । **पञ्चात्मा पञ्चभिः स्यादिति** का कि कृ कु क्ऌ इति । **नवपरिकरितश्चक्रनाथो नवात्मेति** का कि की कृ कॄ कु कू क्ऌ क्ॡ इति ॥ ८ ॥

---

१. भो. 'क्ष' इत्यधिकम् । २. भो. 'र' इत्यधिकम् । ३. ग. भो. 'हि' नास्ति । ४. च. श ष स⌒प स, ग. श ष स⌒प⌒क । ५. ग. च. 'र' नास्ति, गृहीतस्तु भोटानुसारी । ६. ग. काक्षरे । ७. भो. Thuṅ Ṅu Daṅ Riṅ Po bCu gNis Te dByaṅ Kyi rNam Pa ḥGyur Pa (ह्रस्वदीर्घद्वादशमात्राभिन्ना) इत्यधिकम् । ८. ग. पत्रसंख्या ३३८-३३९ नास्ति । ९. भो. De lTar (एवं) ।

मात्रासंख्यात्मको वै त्रिदशनवदिशाभिश्च षट्त्रिंशदात्मा
याद्याभिर्द्वारपालाः सकलगणकुलं शेषमात्राभिरेव ।
षट्क्रोधा हादिभिः स्युः स्वकुलदिशिगता वायुमात्रादिभेदैः
प्रत्येकं वर्णभेदे रसगुणितरसं योगिनीयोगतन्त्रम् ॥९॥

मात्रासंख्यात्मको वै त्रिदशनवदिशाभिश्चेति । [1]तत्र त्रयोदशभिस्त्रयोदशात्मा पूर्वोक्तः क्य क्र क्व क्ल एभिर्यणादेशैर्युक्तस्त्रयोदशात्मा, द्वारपालैः सहाप्यसौ पुनर्गुणैर्भिन्न एकोनविंशदात्मा भवति क [2]के कर् को कल् कमित्येभिः सह । ततः पञ्चविंशदात्मा गुणवृद्धिभिः सह का कै कार् कौ काल् [3]कः इति । ततो द्वात्रिंशदात्मा क्हा क्या क्रा क्वा क्ला क्हाः इति गर्भप्रज्ञया सह । ततश्चतुस्त्रिंशदात्मा [4]कं कः सहितः । एवं षट्त्रिंशदात्मा [5]क्हं क्हः सहित इति सर्वत्र सप्तत्रिंशदात्मको मध्ये हूंकारो नायकः । षट्त्रिंशन्माण्डलेयाः क का कि की कृ कॄ कु कू कॢ कॣ कं कः इति । ह्रस्वदीर्घस्वरभिन्नो वर्णः । तथा क का के कै कर् कार् को कौ कल् काल् कं कः इति गुणवृद्धिभिर्भिन्नो [6]वर्णः । क्ह क्हा क्य क्या क्र क्रा क्व क्वा क्ल क्ला क्हं क्हः इति ह्रस्वदीर्घयणादेशभिन्नो वर्णः ककारः । खादयोऽपि प्रत्येकं षट्त्रिंशदिति । एवं खवज्रादिकं तन्त्रमुच्यते [7][ए]कव्यञ्जनात्मकं षट्त्रिंशन्मात्राभिन्नमिति । एवं **षट्त्रिंशदात्मा** मण्डलेशः । **याद्याभिर्द्वारपाला** इति यणादेशसहितैर्व्यञ्जनैर्द्वारपालाः [8]क्य क्र क्व क्ल इत्येभिः । **सकलगणकुलं** स्कन्धधात्वायतनलक्षणम् । शेषैः स्वरैर्ह्रस्वदीर्घगुणवृद्धिस्थानीयैरिति । **शेषमात्राभिरेव षट्क्रोधा हादिभिः स्युरिति** । यत्र दश क्रोधा दशदिक्षु भवन्ति, तत्रापरे षट्क्रोधास्ते हादिभिर्दीर्घैर्यणादेशैः स्युः क्ह क्हा क्रा क्वा क्ला इति । यत्र क्रोधेन्द्रस्तत्र क्हं क्हः इति द्वादशक्रोधाः षट्कुलतन्त्रे, एककुलतन्त्रेऽपि षण्मात्राकुलभेदैरिति नियमः । [9]एवमाकाशधातुरूर्ध्वे **स्वकुलदिशिगतो** ज्ञानधातुरधोगतः । अपरे **वायुमात्रादिभेदैः** पूर्वे दक्षिणोत्तरे पश्चिमे गता देवता इति । एवं **प्रत्येकं** व्यञ्जनं ककारादिकं **वर्णभेदैः** स्वरभेदैः, **रसगुणितरसमिति** षट्त्रिंशद्भेदभिन्नम्, **योगिनीयोगतन्त्रमिति** [10]यत्र योगिनीनां सञ्चारो नायको निश्चलः संवृत्या तद्योगिनीतन्त्रम्, यत्रोपा[171a]यस्य सञ्चारः प्रज्ञा
T 416 निश्चला तदुपायतन्त्रम् । स्वरूपतः सर्वमेव प्रज्ञोपायात्मकं योगतन्त्रम् । तथाह हेवज्रे—

हेकारेण महाकरुणा वज्रं प्रज्ञेति भण्यते ।
प्रज्ञोपायात्मकं तन्त्रं तन्मे नि[11]गदितं शृणु ॥
(हे० त० १.१.७)

---

१. भो. De (तत्) । २. च. कि । ३. च. का । ४. च. क्कं क्कः । ५. च. कं कः । ६. च. वर्गः । ७. भो. gCig Gi bDag Ñid (एकात्मकं) । ८. भो. क्या क्रा क्वा क्ला । ९. भो. 'एवं' नास्ति । १०. च. तत्र । ११. ग. मातृका इतः परं पुनः प्रारभ्यते ।

इति वचनान्न हेवज्रं प्रज्ञातन्त्रं [1]भवति, प्रज्ञातन्त्रं शृण्विति वचनाभावात्। तथा समाजे—

प्रज्ञोपायसमापत्तिर्योग इत्यभिधीयते।
(गु० त० १८.३२)

समाजं मीलनं प्रोक्तं सर्वबुद्धाभिधानकम्॥
(गु० त० १८.२४)

इति वचनात्, नेदमुपायतन्त्रं भवति। तथादिबुद्धे—

योगो नोपायकाये न एकया प्रज्ञया भवेत्।
प्रज्ञोपायसमापत्तिर्योग उक्तस्तथागतैः॥ इति॥ ९॥

एवं प्रत्येकवर्णो रसगुणितरसे मण्डले मण्डलेशः
स्कन्धैर्भूतेन्द्रियाद्यैः सकलगणकुलं शोधयेन्मातृभेदैः।
शून्यैश्चानाहताद्यैः सकलजिनकुलैर्मुद्रणं देवताना-
मुष्णीषादम्बुजान्ते विषमसमकुले चक्रमध्यासने च॥१०॥

एवं प्रत्येकवर्णो रसगुणितरस इति षट्त्रिंश[2]द्योगिनीयोगतन्त्रे **मण्डले मण्डलेश** इति सिद्धमेककुलतन्त्रं त्रिकुलं पञ्चकुलं यत्तत् तदेव सहस्रलक्षकोटिभेदभिन्नम्। तन्त्राणां संख्या नास्ति, समाजादीनां हेवज्रादीनामनन्तसत्त्वाशयवशादिति तन्त्रनियमः।

इदानीं मन्त्रदेवतानामध्यात्मशुद्धिरुच्यते—स्कन्धैरित्यादि। इह **पञ्चस्कन्धैः** पञ्चात्मा शुद्ध्यति, स्कन्धपञ्च**भूतै**र्नवात्मा शुद्ध्यति, चतुः**कर्मेन्द्रियैः** सह त्रयोदशात्मा शुद्ध्यति, [3]षडिन्द्रियैः सह एकोनविंशदात्मा शुद्ध्यति, [4]षड्-विषयैः सह पञ्चविंशदात्मा शुद्ध्यति, पञ्चकर्मेन्द्रियक्रियाभिः सह पञ्च-कर्मेन्द्रिये प्रविष्टे स्वाभप्रज्ञया सह द्वात्रिंश[5]दात्मा, षष्ठकर्मेन्द्रिय-[6]षष्ठक-र्मेन्द्रिक्रियायुक्तश्चतुस्त्रिंशदात्मा, [7]षट्स्कन्धधातुभ्यां युक्तः षट्त्रिंशदात्मा इति। एवं षट्स्कन्धाः षड्धातवः षडिन्द्रियाणि षड्विषयाः षट्कर्मेन्द्रियाणि षट्कर्मेन्द्रियक्रिया इति धातवो माण्डलेयाः,। एषां व्यापकं चित्तं ज्ञानं च नायकं सर्वत्र। एवं **सकलगणकुलं शोधयेन्मातृभेदै**रिति। **शून्यैश्चानाहताद्यै**रिति। इह

१. ग. 'भवति, प्रज्ञातन्त्रं' नास्ति। २. च. योगानां। ३. ग. भो. षड्विषयैः। ४. ग. भो. षडिन्द्रियैः। ५. ग. 'आत्मा' नास्ति। ६. ग. 'षष्ठ' नास्ति। ७. च. षष्ठ।

षट्शून्यैर्ज्ञानाद्यैः सकलजिनकुलैः षट्स्कन्धैर्विशुद्धैर्मुद्रणं देवतानाम्, उष्णीषादम्बुजान्ते विषमसमकुले चक्रमध्यासने चेति। इह उष्णीषचक्रे [1]बिन्दावक्षोभ्य अ इति। एवं हृदये राहुमण्डले इ अमोघसिद्धिः, ललाटे चन्द्रमण्डले अमिताभ उ इति विषमकुलम् विषमचक्रे। तथा नाभौ वैरोचनः ऌ कालाग्नौ, कण्ठे सूर्ये ऋ रत्नेशः, गुह्ये अं ज्ञानमण्डले वज्रसत्त्व इति मुद्रणं देवतानामिति नियमः कायमुद्रणे। प्राणमुद्रणे पुनः ऌ नाभौ, उ हृदये, ऋ कण्ठे, इ ललाटे, अ उष्णीषे पृथिव्यादिमण्डले देयः। तथा चित्तबिन्दुमुद्रणे ललाटे ॐ चन्द्रमण्डले, कण्ठे आः सूर्यमण्डले, हृदये हूँ राहुमण्डले, नाभौ [2]होः कालाग्निमण्डले। तथा ज्ञानमुद्रणं "अकारो मुखं सर्वधर्माणामाद्य[3]नुत्पन्नत्वात्" इति वज्रमणौ अ इति सिद्धं कायवाक्चित्तज्ञानानां मुद्रणम् ॥ १० ॥

इदानीं वक्त्रभेद उच्यते—

वज्रैर्वक्त्रप्रभेदो भवति जिनपतेर्मातृभेदैर्भुजानां
तत्त्वैर्मुद्राप्रभेदस्त्वपरमपि तथा कायवज्रादिभिश्च।
षट्त्रिंशद् योगतन्त्रे त्वपरिमितगुणेऽनेकवर्णप्रभेदे
प्रत्येके वर्णनामे समविषमकुले देवतादेवतीनाम् ॥११॥

वज्रैरित्यादि। इहैककुलं त्रिकुलं पञ्चकुलं षट्कुलं वज्रमुच्यते। तैर्वज्रैर्वक्त्रभेदो **भवति**। एककुलेन एकमुखम्, त्रिकुलैः शुद्धं त्रिमुखम्, पञ्चकुलैः शुद्धः पञ्चाननो भवति, षट्कुलैः शुद्धः षण्मुखो [171b] भवति भीम इति। एवमष्टमुखादीनां हलाहलः शताननो यावद्धातुभिः शुद्धो नायको भवतीति तन्त्रान्तरे नियमो **जिनपतेरिति**। एवं [4]**कालचक्रे** मण्डलाधिपतेरपि "एकाद्यानन्तवक्त्रो बहुकरचरणोऽनेकवर्णस्तमोऽन्ते" (का० त० ४.१३३) इत्यादि साधनपटले उक्तः। इह चतुर्विंशतिभुजस्य **मातृभेदैर्भुजानां** भेद इति। ह हा हि ही हृ हॄ हु हू इति कृष्णा अष्टौ तमोगुणतः। ह हा हे है हर् हार् हो हौ इत्यष्टौ रक्ता रजोगुणतः। [5]ह्ह ह्हा ह्य ह्या ह्ल ह्ला [6]ह्व ह्वा इत्यष्टौ शुक्लाः सत्त्वगुणत इति कालचक्रस्य। तथा विश्वमातुः सर्वगुणतः हं हः ह्ऌ ह्ॡ हल् हाल् ह्ल ह्ला इत्यष्टौ पीता ज्ञानवक्त्रस्वभावत इति नियमः। **तत्त्वैर्मुद्राप्रभेद** इति आ ई ॠ ऊ ॡ अः आकाशवायुतेजउदकपृथ्वीज्ञानभेद इति सर्वदेवतागणस्य मुद्रणम्। **अपरमपि तथा काय**मुद्रणं ॐ, वाङ्मुद्रणं आः चित्तमुद्रणं हूं, [7]ज्ञानमुद्रणं होः, एककुलमुद्रणमनाहतोऽकार इति। एवं मुद्रणं षट्कुलैः पञ्चकुलैश्चतुःकुलैस्त्रिकुलैरेककुलेन **षट्त्रिंशद्योगतन्त्रेषु, अपरिमित**[8]**गुणेऽनेकवर्ण**-[9]**प्रभेदे** नानातन्त्रे **प्रत्येके** [10]**वर्णनाम** इति कवज्रे खवज्रे गवज्रे घवज्रे ङवज्रे।

१. ग. बिन्दोर। २. भो. ह्रो। ३. च. द्यमुत्पन्न। ४. ग. कालचक्र। ५. च. ह हा, ग. ह्व ह्वा। ६. ग. ह्ल ह्ला। ७. ग. च. प्रज्ञा। ८. च. कुले। ९. च. भेदे। १०. ग. वर्णानामिति।

एवं चकारादो[1]नामपि षट्त्रिंशद्वर्णान् यावदिति। **सम**कुल इति प्रज्ञातन्त्रे, **विषमकुल** उपायतन्त्रे, **देवतादेवतीनां** मुद्रणनियमः। बाह्ये रुचकादिकः, अध्यात्मनि [2]बुद्धात्मक इति ॥ ११ ॥

इदानीं मन्त्रदेवतानामुत्पत्तिक्रमेण[3] जातकशुद्धिरुच्यते—

बीजैकं चैकवीरो रजसि समरसः प्रज्ञयाऽऽलिङ्गितोऽभूत्
स्कन्धैः पञ्चात्मकोऽधिष्ठितमपि नवको भूमिधात्वादिभिश्च।
पाय्वाद्यैश्चक्षुराद्यैः परिकरितमिदं पञ्चविंशात्मकश्च
एवं दन्तोद्भवे वै पुनरपि दशनैरीश्वरोऽनन्तचक्री ॥१२॥

बीजेत्यादि। इह यथा गर्भाधाने बोधिचित्ताधारसहितं मनोविज्ञानमेकं धर्मधातुविपर्ययेणैकलोलीभूत**मेकवीर** उच्यतेऽन्तर्भूता [4]स्वाभप्रज्ञा जातकस्य। एवं देवता ककारेणैकेन एकवीरा सिद्धा, पश्चात् तद् **बीजं रजसि समरसं प्रज्ञयाऽऽलिङ्गितं** भवति, तद्वासनातो विज्ञानस्कन्धः प्रज्ञयालिङ्गितो भवति का इति [5]तुर्यायोगत इति नियमः। एवं पञ्चस्कन्धनिष्पत्तौ **पञ्चात्मको** गर्भः, तथा देवताऽपि पञ्चात्मिका का कि कृ कु क्लृ इति। एवमस्थिद्रवोष्णचलधर्मोत्पत्तौ स्कन्धधात्वधिष्ठितो नवात्मको गर्भो यथा, तथा देवताऽपि का कि की कृ कॄ कु कू क्लृ क्लॄ इति सिद्धा। एवं वा[6]क्पाणिपायुपादनिष्पत्तौ पूर्वस्कन्धधातुभिः सार्धं त्रयोदशात्मकः कर्मेन्द्रियनिष्पत्तौ यथा बालस्तथा देवताऽपि का कि की कृ कॄ कु कू क्लृ क्लॄ क्य क्र क्व क्ल इति। यथाऽ[7]ध्यात्मविषयोत्पत्तौ गर्भे एकोनविंशत्यात्मकः पूर्वस्कन्धादिभिः सार्धं तथा देवताऽपि का कि की कृ कॄ कु कू क्लृ क्लॄ क्य क्र क्व क्ल का कै कार् कौ काल् कः इति। ततश्चक्षुराद्युत्पत्तौ यथोत्पन्नो बालः पञ्चविंशत्यात्मकस्तथा देवताऽपि का कि की कृ कॄ कु कू क्लृ क्लॄ क्य क्र क्व क्ल का कै कार् कौ काल् [8]कः कं [9]के कर् को कल् कमिति। तत आलापादानगतिविण्मूत्रक्रियोत्पत्तौ पञ्चकर्मेन्द्रिययोगेन द्वात्रिंशदात्मको बालस्तथा देवताऽपि [10]क का कि की कृ कॄ कु कू क्लृ क्लॄ क्ह क्हा क्य क्या क्र क्रा क्व क्वा क्ल क्ला [172a] क का के कै कर् कार् को कौ कल् काल् कं कः इति द्वादशवर्षावधिनिष्पत्तिः। ततः षोडशवर्षावधिर्यथा बालस्य च्यवने शुक्रस्यावस्था तुर्या भवति चतुर्थी स एव चतुर्थः कायः षष्ठः स्कन्धः षष्ठो धातुः षष्ठमिन्द्रियं षष्ठो विषयः षष्ठं कर्मेन्द्रियं षष्ठी [11]कर्मेन्द्रियक्रिया भवति। एवं षट् स्कन्धाः षड्धातवो द्वादशायतनानि षट् कर्मेन्द्रियाणि षट् कर्मेन्द्रियक्रियाः। एवं षट्त्रिंशद् धातव आधेयभूताः सप्तत्रिंशतिमस्य ज्ञान- T 417

१. भो. Miṅ Can (नाम्नः)। २. ग. बुद्धात्म। ३. च. क्रमे। ४. ग. स्वाभा।
५. च. तुर्यात्मगत। ६. च. पाणिपादगुद। ७. ग. अध्यात्मनि। ८. भो. किः कि।
९. ग. च. कै कर् कौ। १०. च. भो. 'क' नास्ति। ११. ग. 'कर्मेन्द्रियं नास्ति।

चित्तस्येति। [1]तथा देवतानिष्पत्तौ क का कि की कृ कॄ कु कू क्ल क्लॄ कं कः इति स्कन्धधातवो द्वादश। क्ह क्हा क्य क्या क्र क्रा क्व क्वा क्ल क्ला क्हं क्हः इति कर्मेन्द्रियकर्मेन्द्रियक्रिया द्वादश। तथा क का के कै कर् कार् को कौ कल् काल् कं कः इति द्वादशायतनानि सिद्धानि। एषां धातूनां नायकः पञ्चाक्षरो [2]महाशून्य उपायो बिन्दुशून्यः षडक्षरः प्रज्ञा वंकार एकार इत्येवंकारो नायको महासुखो मण्डलाधिपति-र्यथा कवज्रतन्त्रे तथा खवज्रादिके सिद्धः। एवं स्कन्धधातवो गर्भपुटे द्वादशायतनानि बाह्यपुटे द्वारपालाः कर्मेन्द्रियाणि सविषयाणीति। इह यथा कुमारः षोडशवर्षादूर्ध्व-मीश्वरोऽनन्तचक्रीति पुत्रदुहितृस्कन्धानां जनकत्वात्, तथा पञ्चतथागतादिव्यूहस्फरणा-द्देवतागणनायक ईश्वरोऽनन्तचक्री भवतीति[3] नियमः। इह यथा गर्भस्य कायनिष्पत्तिस्तथा देवतानिष्पत्तौ मण्डलराजाग्री सेवाङ्गम्, यथा वाङ्निष्पत्तिस्तथा कर्मराजाग्र्युप-साधनम्, यथा बोधिचित्तबिन्दु[4]निष्पत्तिस्तथा बिन्दुयोगः साधनम्, यथा शुक्रच्युतौ सुखोत्पत्तिस्तथा सूक्ष्मयोगो [5]महासाधनम्। एवं चतुरङ्गसाधनमध्यात्मपटले प्रागुक्ते शोधनीयं विस्तरत इति नियमः॥ १२॥

इदानीं षट्चक्रेषु षड्धातुभ्यः कुलदेवतास्फरणमुच्यते—

शुद्धे संशुद्धतोयाच्छशधरधवलः पद्मचिह्नोऽमिताभो
मानी लोकेश्वरो वै हयरथगमना मामकी रूपवज्रा।
रौद्री चाब्धिर्गणेन्द्रो द्विजफणिसहितो व्याघ्रवक्त्रा सलूका
एते श्रीवामवक्त्रात् परमकरुणया स्फारिता वज्रिणा च॥१३॥

शुद्ध इत्यादि। [6]इह षोडशवर्षादूर्ध्वं यथा मनुष्याणां षड्धातुस्वभावेन चित्तस्य नानास्फरणम्, तथा षड्धातुभेदेन नायकस्यापि। **शुद्ध** इति ललाटचक्रे **संशुद्धतोया-दिति** निरावरणतोयधातोः संज्ञास्कन्धतोऽपि देवतागणः स्फुरति **शशधरधवलः पद्मचिह्नः** तद्यथा **अमिताभः**। [7]**मामकी** पद्मान्तकः अचलः **मानी** चुन्दा **लोकेश्वरः रूपवज्रा रौद्री** लक्ष्मी **समुद्रो गणेन्द्रः अनन्तो नागः कुलिको व्याघ्रवक्त्रा उलूकवक्त्रा** इत्येता देवताः **परमकरुणया स्फारिता वामवक्त्रादिति** कायवक्त्राच्छुक्लात्। कालचक्रभगवतो नियमः। अत्रामिताभो विज्ञानमुद्रितो देवतागणोऽमिताभेन पद्म-चिह्नः शान्तिपुष्टिकर्मसिद्धिद इति शुक्लतोयवर्णतः। एवममिताभकुलदेवतास्फरणं संहरणं च प्रत्यवेक्षणत इति॥ १३॥

इदानीममोघसिद्धिकुलस्फरणमुच्यते—

धर्मे संशुद्धवायोस्त्वसिकरकमलोऽमोघसिद्धिश्च तारा
वैगर्भः स्पर्शवज्रा त्वतिबलसहिता चर्चिका शृङ्खला च।

---

१. च. यथा। २. ग. 'महा' नास्ति। ३. ग. 'इति' नास्ति। ४. भो. sKyed Pa (उत्पत्तिः)। ५. ग. 'महा' नास्ति। ६. च. 'इह' नास्ति। ७. च. मामकीति।

नैर्ऋत्यः शूद्रनागाः पवन इति तथा श्वानवक्त्रा सकाका
मैत्रीचित्तेन चैते त्रिभुवनपतिना स्फारिता पूर्ववक्त्रात् ॥१४॥

धर्म इत्यादि। इह हृदये **धर्मचक्रे संशुद्धवायुधातोः** शुद्धसंस्कारात् खड्गचिह्नो देवतागणः कृष्णवर्णतः। तद्यथा **अमोघसिद्धिस्तारा** विघ्नान्तको नीलदण्डोऽ**तिबला वज्रशृङ्खला खगर्भः स्पर्शवज्रा चर्चिका** वैष्णवी वायु**र्नैर्ऋत्यः** पद्मः कर्कोटकः **काकास्या श्वानास्या** एताः [172b] **पूर्ववक्त्रादिति** चित्तवक्त्रात्। **मैत्रीचित्तेन स्फारितास्त्रिभुवनपतिनेति**। अत्रामोघसिद्धिविज्ञानेन मुद्रितो देवतागणोऽमोघसिद्धिना खड्गचिह्न उच्चाटनविद्वेषकर्मसिद्धिदः [1]कृष्णो वायुवर्णतः। एवममोघसिद्धिकुलदेवतानां स्फरणं संहरणं च कृत्यानुष्ठानत इति ॥ १४ ॥

इदानीं रत्नसम्भवकुलस्फरणमुच्यते—

सम्भोगे शुद्धवह्नेरुदयरविनिभो रत्नधृक् पाण्डरा च
भूगर्भो जम्भको वै वररसकुलिशा शूकरी षण्मुखाग्निः।
राजानौ द्वौ फणीन्द्रौ प्रकटितभृकुटी शूकरास्या सगृध्रा
एते श्रीसव्यवक्त्रात् परममुदितया स्फारिता विश्वभर्त्रा ॥१५॥

संभोगे शुद्धवह्नेरिति। इह कण्ठचक्रे शुद्धवेदनाया **शुद्धवह्नेरुदयरविनिभ** इति रक्तवर्णो **रत्नधृगिति** रत्नसम्भवः। एवं **पाण्डरा**। प्रज्ञान्तकः टक्किराजो जम्भी भृकुटी क्षितिगर्भो रसवज्रा वाराही कौमारी **अग्निः कार्तिकेयः शूकरास्या गृध्रवक्त्रा वासुकिः शङ्खपाल एते श्रीसव्यवक्त्रात् परममुदितया स्फारिता विश्वभर्त्रा** इति। सर्वे रक्तवर्णा रत्नसंभवमुद्रिता वश्याकृष्टिसिद्धिदा वाक्चक्रस्वभावतः। एवं रत्नसंभवकुलदेवतानां स्फरणादिकं समताज्ञानत इति। अत्रापि रत्नसम्भवो विज्ञानमुद्रित इति ॥ १५ ॥

इदानीं वैरोचनकुलदेवतास्फरणमुच्यते—

नाभौ संशुद्धभूमेर्वरकनकनिभश्चक्रपाणिर्मुनिश्च
विष्कम्भी लोचना च प्रवरनरपते स्तम्भको गन्धवज्रा।
मारीच्यैन्द्री च शक्रो युगमुखसहितो वैश्यनागादि सर्वे
भर्त्रा चोपेक्षया वै सकलजनहिताः स्फारिताः पश्चिमास्यात् ॥१६॥

१. च. कृष्ण।

नाभौ संशुद्धभूमेरित्यादि । इह नाभाविति निर्माणचक्रे शुद्धरूपस्कन्धात् शुद्धपृथ्वीधातोर्वरकनकनिभः पीतवर्णश्चक्रपाणिर्मुनिश्चेति वैरोचनः। एवं लोचना। यमान्तको महाबलः स्तम्भी मारीची विष्कम्भी गन्धवज्रा ऐन्द्री ब्रह्माणी शक्रो ब्रह्मा तक्षको महापद्मो जम्बुकास्या गरुडास्या एता भर्त्रा चोपेक्षया वै सकलजनहिताः स्फारिताः पश्चिमास्यादिति । ज्ञानवक्त्रात् पीतवर्णाश्चक्रचिह्नाः[1] स्तम्भनमोहनादिकर्मसिद्धिदा वैरोचनमुद्रिताः । वैरोचनोऽपि विज्ञानमुद्रितः । एवं वैरोचनकुलस्फरणादिकमादर्शज्ञानत इति ॥ १६ ॥

इदानीमक्षोभ्यकुलस्फरणमुच्यते—

उष्णीषे शुद्धशून्याद् वरकुलिशधरोऽक्षोभ्यधात्वीश्वरी द्वे
उष्णीषो धर्मधातुर्गगनगुणवशाद् वज्रपाण्यादयोऽन्ये ।
गुह्ये शुद्धात् समस्ताः शमसुखनिधयः शब्दवज्रादयश्च
ऊर्ध्वाधः स्फारिता वै बहुगुणनिलयाः प्राणिनां मोक्षहेतोः ॥१७॥

उष्णीषे शुद्धशून्यादिति । उष्णीषचक्रे शुद्धविज्ञानस्कन्धात् शुद्धाकाशधातोः, वरकुलिशधरोऽक्षोभ्यो [2]ज्ञानमुद्रितः श्यामवर्णः । एवं वज्रधात्वीश्वरी । उष्णीषो वज्रहूंकारो रौद्राक्षी क्रोधराज्ञी वज्रपाणिर्धर्मधातुवज्रा विष्णुर्यमो जयो नाग एते ऊर्ध्ववक्त्रात् शून्यात् स्फारिता बहुगुणनिलया इति सर्वकर्मसिद्धिदा वज्रचिह्ना अक्षोभ्यमुद्रिताः श्यामाकाशवर्णत इति । एवमक्षोभ्यकुलदेवतास्फरणादिकं सुविशुद्धधर्मधातु[3]ज्ञानत इति ।

इदानीं वज्रसत्त्वकुलस्फरणमुच्यते—गुह्ये शुद्धादित्यादि । इह गुह्यचक्रे शुद्धज्ञानस्कन्धात् शुद्धज्ञानधातोर्नीलत्रिशूकवज्रचिह्नो वज्रसत्त्वो विज्ञानमुद्रितः । एवं ज्ञानधातुः । प्रज्ञा नीला सुम्भराजो वज्रवेगो अतिनीला क्रोधेश्वरी रुद्रो जम्भलः समन्तभद्रः शब्दवज्रा विजयनाग एते अधोवक्त्रात् ज्ञानधर्मात् स्फारिताः सकल-
T 418 जनहिताः प्राणिनां मोक्षहेतोः सुविशुद्धधर्मधातुज्ञानतो नीलवर्णा नीलाक्षोभ्यमूर्त्या वज्रसत्त्वेन मुद्रिताः सर्वकर्मसाधका इति ।

एवं षट्चक्रेषु षट्कुलदेवतानां स्फारणं जगदर्थकरणं षोडशवर्षादूर्ध्वं कालचक्रस्य जनकत्वेन सिद्धमिति नियमः । अत्राक्षोभ्यो नीलेनाक्षोभ्यरूपेण मुद्रितः श्यामो विज्ञानस्कन्धः श्यामेनाक्षोभ्येण नीलो [4]ज्ञानस्कन्धः । अथ कायवाक्चित्तज्ञान[173a]चतुःकुलभेदेन[5] यत्र मुद्रणम्, तत्र वैरोचनः शुक्लश्चन्द्रधर्मतः, अमिताभो रक्तः सूर्यधर्मतः, अक्षोभ्यः कृष्णो राहुधर्मतः, वज्रसत्त्वः पीतः कालाग्निधर्मत इति । अथ आधाराधेय-

---

१. भो. 'चक्रचिह्नाः' नास्ति । २. ग. 'ज्ञान' नास्ति । ३. ग. 'ज्ञान' नास्ति ।
४. ग. विज्ञान । ५. ग. भेदे ।

सम्बन्धेन मुद्रणं साधनापटलोक्तविधिना। तथा हि—अक्षोभ्यो वैरोचनस्य मुद्रणम्, वैरोचनो अमिताभस्य, अमिताभो रत्नसंभवस्य, रत्नसंभवोऽमोघसिद्धेरिति मुद्रणनियमः। एवं त्रैधातुकमहेश्वरोऽनन्तचक्री सर्वतन्त्रान्तरे वेदितव्यः, त्रिकुले पञ्चकुले चेति ॥१७॥

इदानीं प्रज्ञातन्त्रस्फरणमुच्यते—

दिक्पत्रे लोचनाद्या विदिशिदलगतं रक्तपूर्णं कपालं
प्रत्यालीढोऽर्कमूर्ध्नि प्रलयघननिभाक्रान्तसोमेश्वरो वै।
मालाबद्धः कपालैर्जलनिधिवदनो हेरुकः सूर्यबाहु-
र्मुद्राहिव्याघ्रचर्मा प्रलयगजपतेदर्यिचर्मास्थिधारी ॥१८॥

दिक्पत्र इत्यादि। इह किल **चक्रसंवरे** वज्रडाकिन्यादयश्चतस्रो लोचनाद्याः पृथिव्यादिस्वभावाः शान्तिकादिसिद्धिदाः। ताश्च पुनश्चित्तवक्त्रादिकृष्णवर्णादिभिन्नाः सत्यो न पृथिव्यादिकर्मसिद्धिदाः स्युः। तथाह—

पीतेन स्तम्भनं कार्यं श्वेतेन शान्तिकं भुवि।
वश्याकृष्टी च रक्तेन कृष्णेनोच्चाटनादिकम् ॥ इति।

अतः कृष्णवर्णवशाद् वज्रडाकिनी वायुधातुः, रक्तवर्णतो लामा तेजोधातुः, पीतवर्णतः खण्डरोहा पृथ्वीधातुः, शुक्लमुखवर्णतः रूपिणी तोयधातुः। एवं [1]यथा चित्तवाग्ज्ञानकायमुखानां कृष्णरक्तपीतश्वेतवर्णा यथाक्रमम्, तथा तद्विभागे गतानां प्रचण्डादीनामपि नव नव देवीनां वर्णो वेदितव्यो **महालक्षाभिधाने**। इति भगवतो नियमः। तेनाल्पवीर्यवतां **मञ्जुश्रिया**ऽत्र **कालचक्रे** लघूपदेशेन स एव प्रपञ्चः प्रकाशित इति। **दिक्पत्रे लोचनाद्या** इति पश्चिमदले लोचना वर्णतः, खण्डरोहा पीता [2]गुदनाडी-स्वभावतः, पृथ्वीवर्णतो ज्ञानवक्त्रं पश्चिमं पीतं कालचक्रस्य हेरुकस्य [3]चिह्नादिस्वभावत इति। उत्तरदले तोयवर्णतो रूपिणी शुक्ला उत्तरं कायवक्त्रं शुक्लं ललनास्वभावतः। दक्षिणे लामा रक्ता तेजोवर्णतो वाग्वक्त्रं[4] रक्तं रसनास्वभावतः। पूर्वदले वज्रडाकिनी कृष्णा वायुवर्णतः चित्तवक्त्रं[5] कृष्णं मूत्रनाडीस्वभावत इति। एवमवधूतीस्वभावेन वज्रवाराही श्यामा शङ्खिनीस्वभावतः। कालचक्रो हेरुको भगवान् नीलवर्ण इति। एवं चित्तवाक्कायचक्रारेषु पूर्वेऽग्नौ कृष्णा डाकिन्यः, दक्षिणे नैर्ऋत्ये रक्ताः, पश्चिमे वायव्ये पीताः, उत्तरेशाने शुक्लाः। एवमष्टश्मशानेषु देव्यो वेदितव्याः। आसां [6]विस्फरणेन कर्मप्रसरादिकं तन्त्रोक्तं **वज्रपाणिकृतटीकया षट्साहस्रिकया** बोद्धव्यं **लघुतन्त्रे**। तेनात्र न लिखितम्। **विदिशिदलगतमित्यादि** सुबोधम्। एवं **समाजो मायाजाल-**

---

१. च. भो. 'यथा' नास्ति। २. ग. च. 'गुदनाडीस्वभावतः' नास्ति, गृहीतस्तु भोटानुसारी। ३. भो. 'चिह्नादि' नास्ति। ४-५. ग. च. चक्रं। ६. ग. भो. विस्तरेण।

मपि प्रसिद्धं सुबोधम्, तेनात्र न लिखितम्। चित्तवाक्कायवज्रस्फरणमात्रत इति। अत्र मूलतन्त्रे सूत्रलक्षणम्—

द्वावेकश्च त्रयः सार्धा अर्धो ह्येको युगः शशी।
युग एको युगश्चैको भागो द्वात्रिंशदादिषु ॥ इति।

शेषं प्राकाराद्यं कालचक्रमण्डलवदिति ॥ १८ ॥

देवीभिः कृष्णरक्तामलशशितनुभिस्त्रीणि चक्राणि बाह्ये
षड्वज्राः क्रोधजाभिर्द्विभुजशशिमुखाभिस्तथा भूतजाभिः।
द्वारे चण्डाः शवस्था विदिशि च नियताः कर्तिकाशुक्तिहस्ता
वीराणां वेदहस्ते कुलिशडमरुकौ वज्रखट्वाङ्गघण्टे ॥१९॥

श्रीमेरोरष्टदिक्षु क्षितिजलवलये सर्वपीठोपपीठं
क्षेत्रं छन्दोहमेलापकचितिभुवने वह्निवाय्वोश्च मध्ये।
एवं देशे नगर्यां दिशिविदिशिगता देवता वेदितव्याः
प्रज्ञातन्त्राभिधानं त्रिभुवनगुरुणा स्फारितं पूर्ववक्त्रात् ॥२०॥

गर्भे चक्रं नवांशं शशिरविकमले मण्डलादर्धभागं
वज्रस्तम्भावलीभ्यां रचितमपि महास्कन्धधात्वाधिदैवम्।
बाह्ये प्राकारभित्तौ विषयविषयिणश्चन्द्रसूर्यासनस्थाः
सूर्यस्था द्वारपालास्त्वपरगणकुलं वेदिकायां समन्तात् ॥२१॥

इत्यादौ षट्प्रकारं गदितमपि तथा योगतन्त्रं समाजं
क्रोधाः कोणेषु पार्श्वे विषयविषयिणो जम्भलो धान्यहस्तः।
वाक्पादौ पाणिपायू भगरविशशिनः कालनाडीस्वभावाः
प्रज्ञोपायं समस्तं त्रिमुखरसभुजं स्फारितं सव्यवक्त्रात् ॥२२॥

चक्रं गर्भे त्रिकोणे भवति नरपते मण्डलाद् वै त्रिभागं
धातुस्कन्धाधिदेवं पुनरपरपुटे शब्दवज्रादयोऽष्टौ।
बाह्यस्थे मण्डले वै दशदिशि नियतं क्रोधवृन्दं रविस्थं
तस्मिन् प्राकारभित्तौ जलधिहतयुगा बोधिसत्त्वाः समस्ताः ॥२३॥

मायाजालं त्रिभेदं त्रिमुखरसभुजं देवताकायभेदात्
कल्पाद्यं यत्समस्तं जडहृदयवशात् स्फारितं वामवक्त्रात् ।
तन्त्रं योगानुविद्धं द्विगुणमिह महासंवरं डाकिनीनां
षट्चक्रैः षट्कुलैर्वै नृप चितिभुवनैः स्फारितं पश्चिमास्यात् ॥२४॥

इदानीं महासंवरमण्डलमुच्यते—

सूत्रैः षड्रन्ध्रभागैश्चलवलयगतैर्मण्डलं सूत्रयित्वा
गर्भात् षट्षड्विभागैरपि कमलदलं कर्णिकार्धेन युक्तम् ।
कर्तीचक्राब्जरत्नैरसिवरकुलिशैश्चावलीं द्विद्विभागै-
र्निर्यूहं द्वारमर्कैर्ऋतुभिरपि रसैर्वेदिकाहारभूमिम् ॥२५॥

पञ्चप्राकाररेखां त्रिभिरपि शिखिभिः पट्टिकां हारमूले
सूर्यैः पक्षं कपोलं त्रिगुणदिनकरैस्तोरणं स्तम्भमूर्ध्नि ।
अष्टद्वाराणि कुर्याद् दिशिविदिशि महामण्डलं वृत्तमेत-
न्मध्येऽब्जं विश्ववर्णं रविशशिपुटितं चासनं कर्णिकायाम् ॥२६॥

चक्रं नीलावलीं च क्षितिरपि हरिता क्ष्माऽसिता पीतचक्रं
रक्ता भूः श्वेतचक्रं क्षितिरपि धवला सावली रक्तचक्रम् ।
पीता नीला च भूमिस्त्वसितमपि भवेच्छ्यामवर्णं च चक्रं
षड्भागैरङ्गभूमिर्जनकसुखवशाद् द्वारचक्राणि तद्वत् ॥२७॥

बाह्ये द्व्यष्टश्मशानान्यपि च कुलवशाद् गर्भदेव्यस्तथाष्टौ
अष्टौ पत्रे कपालान्यमृतरसयुतान्यष्टपत्रेषु देव्यः ।
बाह्ये लास्यादिदेव्यो दिशिविदिशि महानागराजास्तथाष्टौ
तद्बाह्ये भूमितोयानलचलवलयान्येव वज्रावली च ॥२८॥

सूत्रैरित्यादि। इह पश्चिमास्यात् ज्ञानवक्त्रात् महाचक्रसंवरस्त्रिचक्रसंवरस्य द्विगुणो यतः षट्चक्रैः षोडशश्मशानैरिति। तेनास्य मण्डलं वृत्तमष्टद्वारविशोधनायेति, अतोऽस्य मण्डलस्य लक्ष[173b]णमुच्यते—सूत्रैः षड्रन्ध्रभागैरिति। [1]षण्णवति-विभागैः, चलवलयगतैरिति लोकधातौ चतुर्लक्षयोजनगतैर्वायुवलयान्तैः। शरीरे चतुर्हस्तगतैरिति। मण्डलं सूत्रयित्वा षण्णवतिसूत्रैस्तेषु मध्ये षट्षड्विभागैः प्रत्येकं चक्रं कुर्यादेवं चक्रं षट्षड्विभागैरिति। अपि कमलदलं कर्णिकार्धेन युक्तं षड्विभागैरिति। एवं सप्तसु द्वाचत्वारिंशद्विभागाः पूर्वे, एवं पश्चिमे [2]दक्षिणे उत्तरेऽपि, सर्वेषामेकत्र चतुरशीतिभागा गताः। षण्णवतिषु शेषैर्द्वादशविभागेषु षड्विभागैः पूर्वभूमिः, पश्चिमाप्येवं [3]वामे दक्षिणेऽप्येवं सर्वदिक्षु सूत्राणि शुद्धानीति तत्र पूर्वोक्त-षड्विभागमध्ये चतुर्भिः पद्मदलं द्वाभ्यां कर्णिकार्धम्। एवं चक्रस्याराश्चतुर्भिः, द्वाभ्यां चिह्नावली [4]कर्णिकादीनां मध्ये पद्मं षोडशदलं पद्मदलबाह्ये [5]कर्णिकावली नीला। तस्या भूमिस्तले श्यामा। [6]एवं चक्राराश्च नीला इति ज्ञानधातुचक्रे। ततः पृथ्वी[7]धातुचक्रे चक्रावली पीता चक्रारास्तथा, कृष्णा तले भूमिः। तोयधातुचक्रे पद्मावली शुक्ला चक्राराश्च, भूमिस्तले रक्ता। तेजोधातुचक्रे रत्नावली रक्ता चक्राराश्च, श्वेता तले भूमिः। वायुधातुचक्रे कृष्णा खड्गावली चक्राराश्च, पीता तले भूमिः। आकाशधातु-चक्रे श्यामा वज्रावली चक्राराश्च, तले भूमिर्नीला। ततः षड्भागै रङ्गभूमिर्जनक-मुखवशादिति। पूर्वे कृष्णाग्नौ च दक्षिणे नैर्ऋत्ये रक्ता, पश्चिमे वायव्ये पीता, उत्तर ईशाने श्वेता, द्वारचक्राणि तद्वदित्यष्टमहाश्मशानचक्राणि। अष्टद्वारावसानेऽष्टश्मशानचक्राण्यष्ट[8]द्वारान्तरेषु। एवं षोडशश्मशानचक्राण्यष्टाराणि, [9]गर्भपद्माष्टदलेऽष्टौ देव्यः, अष्टदलेषु कपालान्यमृतपूर्णानि, अष्टदेव्यन्तरान्तरेषु षट्चक्राष्टारेषु पीठोपपीठादि-देव्योऽष्टचत्वारिंशत्। एवं वीराश्च वेदितव्याः। बाह्ये वेदिकायां नागराजानोऽष्टौ,
T 419 तोरणस्तम्भमूले, लास्यादयो द्वारतोरणे, शेषं द्वारादिलक्षणं कालचक्रमण्डलवद् वेदितव्यमिति॥ २५-२८॥

इदानीं षट्[10]चक्रारादिषु देवीबीजान्युच्यन्ते—

दीर्घैर्ह्रस्वैः स्वरैश्चापि स त प ट च क क्षमादिशून्यादिवर्णा
वाय्वाद्यारेषु दीर्घा रविचरणवशात् क्षमादिधातुस्वभावाः।
ऊर्ध्वाद्यारेषु ह्रस्वाः शशिचरणवशात् स्वस्वचक्रारमूर्ध्नि
द्वारे द्वारान्तराले गगनतलगता हक्षयुक्ताः सवर्गाः ॥२९॥

---

१. ग. 'षण्णवति' नास्ति। २. च. ग. मध्य। ३. भो. Byaṅ (उत्तरे)। ४-५. भो. Gri Gug (कर्तिका)। ६. च. 'एवं' नास्ति। ७. ग. 'धातु' नास्ति। ८. ग. द्वारान्तरान्तरेषु। ९. ग. 'गर्भपद्म" द्वादशाङ्गप्रतीत्यः' नास्ति। १०. च. चक्रादिषु।

दीर्घैरित्यादि। **दीर्घैः पञ्चस्वरैः** लॄ ऊ ॠ ई आ इति। **ह्रस्वैश्च** अ इ ऋ उ ऌ इत्येभिर्भिन्नाः **स त प ट च कानां वर्गाणां षण्णां क्ष्मादिशून्यादिवर्णा वाय्वाद्यारेषु दीर्घा** इति। इह ज्ञानचक्रे सवर्गोऽधिदेवः, तस्य स्लॄ वायव्यारे, ≍पू ईशाने, षॄ नैर्ऋत्ये, शी आग्नेय्याम्, ≍का पाताले, वायव्यो[1]त्तरश्मशानचक्रमध्ये एताः पञ्च डाकिन्यो वृश्चिकलग्ने पञ्चमण्डलनायिकाः सर्वसत्त्वानां प्राणवाहत इति [2]संहारक्रमेण दक्षिण-नासापुटे। ततो धनुर्लग्ने ऊर्ध्वे ≍क वायव्य[3]पश्चिमश्मशानचक्रमध्ये ज्ञानचक्रपूर्वारे शि, दक्षिणे षृ, उत्तरे ≍पु, पश्चिमे स्ऌ इति वामनाडी[4]प्रवाहो धनुर्लग्ने। ततः पृथ्वीचक्रे तवर्गोऽधिदेवः। तस्य त्लॄ वायव्ये, थू ईशे, दॄ [5]नैर्ऋत्यारे, धी अग्नौ, ना पाताले वायव्य-द्वारे श्मशानचक्रमध्य इति कन्यालग्ने। तथा तुलायामूर्ध्वे न, पश्चिमद्वारे धि, [174a] पूर्वे दृ, दक्षिणे ड़ृ, थु उत्तरे, त्ऌ पश्चिमे इति। ततस्तोयधातुचक्रे पवर्गोऽधिदेवः। तस्य प्लॄ वायव्ये, फू ईशे, बॄ नैर्ऋत्ये, भी अग्नौ, मा पाताले ईशद्वारे। एवं कर्कटलग्नेऽधि-देवताः। तथा सिंहलग्ने आकाशे म, उत्तरद्वारे पूर्वारे भि, दक्षिणे बृ, उत्तरे फु, पश्चिमे प्ऌ इति। ततस्तेजश्चक्रे टवर्गोऽधिदेवः। तस्य ट्लॄ वायव्यारे, ईशे ठू, डॄ नैर्ऋत्ये, अग्नौ ढी, अधो णा नैर्ऋत्यद्वार इति वृषलग्ने। ततो मिथुने ण ऊर्ध्वे, दक्षिणद्वारश्मशाने पूर्वारे ढि, दक्षिणे डृ, उत्तरे ठु, पश्चिमे ट्ऌ इति। ततो वायुचक्रे चवर्गोऽधिदेवः। तस्य च्लॄ वायव्यारे, [6]ईशारे छू, नैर्ऋत्ये जॄ, अग्नौ झी, पाताले ञा अग्निद्वारे मीनलग्ने इति। ततो मेषलग्ने ऊर्ध्वे ञ, पूर्वद्वारश्मशानचक्रे पूर्वारे झि, दक्षिणे जृ, उत्तरे छु, पश्चिमे च्ऌ इति। तत आकाशधातुचक्रे कवर्गोऽधिदेवः। तस्य वायव्यारे क्लॄ, ईशे खू, नैर्ऋत्ये गॄ, अग्नौ घी, अधो ङा आग्नेय[7]दक्षिणद्वारमध्ये श्मशानचक्रोपरि इति मकरलग्ने। ततः कुम्भलग्ने ऊर्ध्वे ङ, आग्नेय[8]पूर्वद्वारमध्ये पूर्वारे घि, दक्षिणारे गृ, उत्तरारे खु, पश्चिमारे क्ऌ इति। **द्वारे द्वारान्तराले तलगगनगता हक्षयुक्ताः सवर्गा** इति। इह षड्वर्गाणां शून्यमण्डलवाहका द्वादशवर्णा दीर्घह्रस्व[9] ≍का ≍क ना न मा म णा ण ञा ञ ङा ङ इति द्वादशश्मशानदेवीनाम्। [10]अन्ये चतुःसन्ध्याभेदेन त्रित्रिलग्नान्ते चत्वारो वर्णा ह हा क्ष क्षा इति चतुर्षु वामेशानदक्षिणनैर्ऋत्यश्मशानेषु। एवं षोडशश्मशानेषु षोडश देव्यः, षट्चक्रेष्वष्टचत्वारिंशद्गर्भपद्मदलेष्वष्टदेव्यः। आसां बीजानि अ पूर्वदले, अः दक्षिणदले, अं उत्तरदले, आ पश्चिमदले, ह अग्निदले, हः नैर्ऋत्यदले, हं ईशानदले, हा वायव्यदल इति तासामन्तरान्तरेष्वष्टदलेष्वष्ट-कपालानि। मध्ये वज्रडाकिनीकालचक्रो हेरुको भगवान् नायको हूँ फ्रें आसां डाकिनीनां डाकानां च बीजान्ते वज्रम्, तेन सह नाम स्लॄवज्रा ≍ पूवज्रा इत्यादि क्लॄ[11]वज्रापर्यन्तम्। आसां डाका भावभेदेनाष्टचत्वारिंशत् [12]सिवज्रः षृवज्रः।

---

१. च. पश्चिम। २. च. संचार। ३. च. उत्तर। ४. भो. Srog Bab Paḥo (प्राणवाहो)। ५. भो. bDen Bral Du (नैर्ऋत्ये)। ६. भो. dBaṅ lDan Du (ईशे)। ७. च. पूर्व। ८. च. दक्षिण। ९. च. ≍ क ≍ का न ना म मा ण णा ञ ञा ङ ङा। १०. च. मध्ये। ११. च. वज्र। १२. भो. शि।

यत्र डाकिनीबीजं [1]दीर्घं तत्र डाकबीजं ह्रस्वम्, यत्र ह्रस्वं तत्र [2]दीर्घम्। स्लृवज्रा[3]सिवज्र इति प्रज्ञोपायः। [4]~पूवज्रा पृवज्र इति। एवं सर्वत्र वक्ष्यमाणमिति। एवं मण्डले यजेत द्विगुणं डाकिनीजालसंवरमिति नियमः। इह वृश्चिकधनुरादिना यो विलोमेन न्यासः, स प्रपञ्चेनोक्तः। अत्र द्वादशाङ्गनिरोधेन विवृत्या परमार्थसत्यतो धनुर्वृश्चिकादिविलोमेन पीठोपपीठादिन्यासः। संवृत्या मकरकुम्भादिक्रमेणोपपीलवादिन्यासो द्वादशाङ्गप्रतीत्यतः। यथा त्रिचक्रसंवरे एकः प्रचण्डाचण्डाक्ष्यादिना विलोमेन पीठादिन्यासः, द्वितीयो महावीर्यादिना। [5]अनुक्रमेणोपश्मशानादिना। अत्र लोकव्यवहारे या संवृतिः सा विवृतिरिति ज्ञेया। एवं वाय्वाद्यारेषु दीर्घा रविचरणवशाद् दक्षिणनाड्यां प्राणचरणवशादिति। ऊर्ध्वाद्यारेषु ह्रस्वाः [174b] शशिचरणवशादिति वामनाड्यां प्राण[6]संचारवशादिति न्यास उक्तः। क्रमेण पुनः संवृत्या उपपीलवादिना मकरादिमण्डलेषु क च ट प त स वर्गाणां वर्णा दीर्घा ह्रस्वा देयाः। ककारादयो [7]ऌकारादिस्वरभिन्ना विवृत्या ~कादयो ह्रस्वा अकारादिस्वरभिन्ना धनुर्वृश्चिकादिभेदेनेति। एवं पृथिव्यादयो वाय्वाद्यारेषु दक्षिणमण्डले वाहत ऊर्ध्वाद्यारेषु आकाशादयो वाममण्डलप्रवाहत इत्यध्यात्मनि नियमः ॥२९॥

डाकिन्यो ह्रस्वभावाः शशधरवदनाः कर्तिकाशुक्तिहस्ता
आलीढाः स्वस्वपात्रैर्दनुजरुधिरपा मुक्तकेशा विवस्त्राः।
पादे कट्यां ललाटे श्रवणगलकरे घुर्घुराद्यस्थिमुद्रा
माला खण्डैः कपालैः शिरसि कटितले पञ्चवर्णैर्जिनानाम् ॥३०॥

द्व्यास्या डाकाः करेषु सु॰विडमरुकौ वज्रखट्वाङ्गघण्टे
कण्ठे श्रीमुण्डमाला शिरसि च मुकुटो वज्रपट्टे मणिश्च।
श्रीकण्ठी नूपुरोऽङ्घ्रौ रुचकमपि करे मेखला कुण्डलानि
माला पूर्णैः कपालैः सकलतनुगता दंष्ट्रिणो भस्ममुद्रा ॥३१॥

भर्तुर्माला कपालैः शिरसि च गलके मुण्डमाला शतास्यै-
रर्धेन्दुर्वज्रमौलौ स्वकटिकरगतं द्वीपिचर्मेभचर्म।
मारेशौ पादमूले शशिरविहुतभुङ् मण्डलेऽङ्गे च भस्म
मुद्रा नागेन्द्रयुक्ता प्रलयशिखिनिभा डाकिनी चुम्बमाना ॥३२॥

दिक्पत्रे डाकिनीनामधिकडमरुको वज्रखट्वाङ्गमेव
विण्मूत्रासृङ्नृमांसैर्विदिशि दलगतं शुक्रपात्रं करे च।

१-२. च. दीर्घे। ३. भो. शि। ४. भो. ~पु। ५. च. अत्र, भो. 'अनु' नास्ति।
६. ग. भो. संचरण। ७. भो. लृ।

तद्वच्चाष्टौ च देव्योऽप्युभयसुखसमापत्तिचक्रं समन्तात्
पीता श्वेताऽरुणाभाऽसितहरितवपुर्नीलवर्णाः स्वदिक्षु ॥३३॥

वर्णाश्चिह्नानि भर्तुर्जिनजनककुले पूर्ववत् त्र्यक्षिजाल-
मन्योन्यालिङ्गनं च स्वपरकुलवशाद् वेदितव्यं समन्तात् ।
नानाद्यैः स्कन्धभूतैर्विषयविषयिभिश्चान्यपञ्चेन्द्रियाद्यै-
र्दिक्क्ष्माभिर्दिग्बलैः श्रीजिनसुतवसिताभिश्च देव्यो विशोध्याः ॥३४॥

शेषाण्यत्र पञ्चवृत्तानि सुबोधानि ॥ ३०-३४ ॥

इदानीं देवीनां पीठादिस्थानमुच्यते—

मेरोर्दिक्ष्वष्टभेदैर्दिशि विदिशिगतं सर्वपीठोपपीठं
क्षेत्रं छन्दोहमेलापकचितिभुवनं वेश्मवाय्वर्धसीम्नः ।
बुद्धस्यैतार्कभूम्यामणु तनुजनृणां भूतदेवासुराणां
शक्तेर्भर्तुर्दिनैकं विचरति कुलिका सूर्यचन्द्रप्रचारात् ॥३५॥

मेरोरित्यादि । इह **मेरोरष्टदिक्षु** ऊर्ध्वे योगिनीचक्रं वायुवलयान्तम्, अधोभूम्यां सत्त्वार्थाय सञ्चारः । एवं समुद्रवलयेऽग्निवलये वायुवलये आकाशान्त इति पञ्चलक्षयोजनं यावल्लोकधातुमण्डले सत्त्वानां शरीरे केशान्तं व्यापकत्वम्, भगवतो योगिनीसंचारत इति । इह मेरुमूर्ध्नि पञ्चाशत्सहस्रयोजनं गर्भपद्मं षोडश [1]दलं भगवतः । तस्य त्रिभागा कर्णिका, कर्णिकोपरि सूर्यमण्डलम्, सूर्योपरि कालचक्रस्य दक्षिणपादतले मारः, वामपादतले क्लेशः, स च रुद्र इति । अष्टदलेषु धूमाद्या वज्रडाकिन्योऽष्टौ । तासामन्तरान्तरे दलेष्वष्टौ T 420 कपालान्यमृतपूर्णानि । एवं षोडशदलमानन्दचक्रं षोडशानन्दभेदेन देव्याः कपालानि च । भगवांश्चतुर्बिन्दुधरत्वाच्चतुर्मुखः, चतुर्विंशतिपक्षरोधतः चतुर्विंशतिकरः, अधिकमासपक्षयोर्निरोधतो द्व्यधिकजिनकरः, पूर्वोक्तो वज्रवेग इति । भगवत्या एकमुखं शून्यता, भुजद्वयमनिमित्ताप्रणिहिते, कर्तिकाकपालमुद्रादयोऽनभिसंस्कार इति । ततः पद्मबाह्ये मेरोरष्टदिक्षु दिग्विभागेन पञ्चविंशत्सहस्रयोजनं भूमिवलयमानेन ज्ञानधातुचक्रम्, तस्य त्रिभागभूम्यां कर्तिकावली, भागद्वयेनाष्टारम् । एवं समुद्रार्धे पृथ्वीचक्रम्, अपरार्धे तोयचक्रम् । एवमग्निवलयार्धे वह्निचक्रम्, अपरार्धे वायुचक्रम् । एवं वायुवलयार्धे आकाशचक्रम्, अपरार्धे रजोभूमिः । आकाशवलये षोडश श्मशानानीति नियमः । इह हि केशान्तं पञ्चहस्तं शरीरम्, तेनाकाशमण्डले बाह्यश्मशानानि, तद्विशुद्ध्या लोकधातुश्च पञ्चलक्षयोजनानि महाचक्रसंवरे । एवं यथाक्रमेण मेरोरष्टदिक्षु ज्ञानधातुचक्रे पीठानि

१. ग. 'दलं भगवतः''''मकरे । ततः' नास्ति ।

दिगारेषु, धनुर्निरोधेन जरामरणनिरोधत उपपीठानि विदिगारेषु वृश्चिकनिरोधेन जातिनिरोधतः। एवं श्मशानद्वयम्। ततः पृथ्वीधातुचक्रे दिगारेषु चत्वारि क्षेत्राणि तुलानिरोधेन भवनिरोधतः। विदिगारेषूपक्षेत्राणि कन्यानिरोधेनोपादान-निरोधतः। एवं श्मशानद्वयम्। ततस्तोयधातुचक्रे दिगारेषु छन्दोहाश्चत्वारः सिंहनिरोधेन तृष्णानिरोधतः। विदिगारेषूपच्छन्दोहाः कर्कटनिरोधेन वेदनानिरोधतः। एवं श्मशानद्वयम्। ततस्तेजोधातुचक्रे दिगारेषु मेलापकाश्चत्वारो मिथुननिरोधेन स्पर्शनिरोधतः। विदिगारेषूपमेलाप[175a]का वृषनिरोधेन षडायतननिरोधतः। एवं श्मशानद्वयम्। ततो वायुधातुचक्रे दिगारेषु चत्वारि श्मशानानि मेषनिरोधेन नाम-रूपनिरोधत इति। विदिगारेषूपश्मशानानि मीननिरोधेन विज्ञाननिरोधतः। एवं श्मशानद्वयम्। तत आकाश[1]धातुचक्रे दिगारेषु चत्वारि पीलवानि वेश्मानि वा कुम्भ-निरोधेन संस्कारनिरोधतः। विदिगारेषूपपीलवानि मकरनिरोधेनाऽविद्यानिरोधतः। एवं श्मशानद्वयम्। लग्नचतुःसन्ध्यानिरोधेनापरश्मशानचतुष्टयम्। अथ षोडशचन्द्र-कलानिरोधेन षोडश श्मशानानि। एवम्—"द्वादशाकारसत्यार्थः षोडशाकारतत्त्वविद्" (ना० सं ९.१५) अष्टप्रहरनिरोधेनाष्टौ देव्यः। अथ वारनिरोधत इति विवृत्याधारे देव्यो निरावरणा आधेयस्वभावा इति। परमार्थसत्यतः लोकसंवृत्या पुनर्मन्त्रदेवतोत्पादः पीठादिके भगवता मूलतन्त्रे उक्तः। तद्यथा—

कामरूपं च जालाख्यं पीठं पूर्णगिरिस्तथा।
ओड्डियाणं चतुर्थं स्यात् शिषृ⌒पुस्लृषु नायिकाः॥

गोदावरी च रामेशं देविकोट्टं च मालवम्।
उपपीठानि चत्वारि स्लृ⌒पूषृश्येसु नायिकाः॥

अर्बुदं मुन्मुनीक्षेत्रम् ओड्रं कार(रु)ण्यपाटकम्।
धिदृथुत्लृ इति देवीनामाधारो वसुधातले॥

त्रिशकुनीत्युपक्षेत्रं तथा कर्मारपाटकम्।
कोशलं लाडदेशं च त्लृथूदृध्येषु नायिकाः॥

कलिङ्गं हरिकेलं च छन्दोहं च चतुर्विधम्।
चन्द्रद्वीपं च लम्पाकं भिवृफुप्लृसु नायिकाः॥

काञ्ची कोङ्कणकं तथोपच्छन्दोहं च हिमालयम्।
[2]चतुर्थश्चैव नेपालं प्लृफूबृभ्येषु नायिकाः॥

मातृगृहं प्रयागं च कोल्लगिरिर्गृहदेवताः।
मेलापकं चतुर्धा स्याद् ढिडृठुठ्लृसु नायिकाः॥

---

१. च. 'धातु' नास्ति। २. च. चतुष्पथो वै।

सौराष्ट्रं चैव काश्मीरं सुवर्णद्वीपं सिंहलम् ।
उपमेलाकस्तेषु ट्लृठ्लृड्लृढ्येषु नायिकाः ॥

नगरं महेन्द्रशैलं च सिन्धुदेशं किरातकम् ।
चतुर्विधं श्मशानं स्याद् झिजृछुच्लसु नायिकाः ॥

मरुदेशं गह्वरं च कुलता [1]समलं तथा ।
उपश्मशानमेवोक्तं च्लृछूजृझ्येषु नायिकाः ॥

[2]चरित्रं हरिकेलं चैव विन्ध्यं कौमारिकापुरी ।
चतुर्धा पीलवं ख्यातं घिगृखुक्लषु नायिका ॥

उपवेश्म विरजाः कोङ्कं त्रिपुरी श्रीहट्टकम् ।
चतुर्विधमिदमाख्यातं क्लृखूगृघ्येषु नायिकाः ॥

द्वादश ᳵकादयो दूत्यः शून्यमण्डलनायिकाः ।
चतस्रो हादयो बाह्यश्मशानेषु च षोडश ॥

अ आ अं अः ह हा हं हः दूत्यः पद्मदलेषु ताः ।
अष्टस्वेव कपालानि कर्णिका खेट[3]नायिकाः ॥

द्वादशाङ्गनिरोधेन लग्नाधारप्रत्यूहतः ।
भूमयो द्वादश ख्याताः पीठाद्याः परमार्थतः ॥

अविद्याद्यनुलोमेन संवृत्या मकरादिषु ।
धनुराद्या विलोमेन ता जरामरणादयः ॥

निरावरणधर्मेण डाकिन्यः कायधातवः ।
द्वासप्ततिविधाः प्रोक्ता धर्मशुद्धप्रभेदतः ॥

संवृत्या मन्त्रसिद्धा यास्ता वेश्मादिषु नायिकाः ।
अथ [4]बीजाक्षरं तासां पीठादेरादि संभवेत् ॥ इति ।

तद्यथा—क्रा जा पू ओ इति पी[175b]ठेषु । गो रा दे मा इति उपपीठेषु । अ मु [5]ओ का इति क्षेत्रेषु । त्रि क को ला इति उपक्षेत्रेषु । क ह च ल इति छन्दोहेषु । कां कों हि ने इत्युपछन्दोहेषु । मा प्र को गृ इति मेलापकेषु । सौ [6]का सु सि इत्युपमेलापकेषु । न म सि कि इति श्मशानेषु । म ग कु स इत्युपश्मशानेषु । [7]च के विं को इति पीलवेषु । वि कों त्रि श्री इत्युपपीलवेषु । तथा षोडशश्मशानेषु वायव्यद्वारे वामदक्षिणयोः कं क ल ल कं एवं को ल ह ल ल को । अथ ᳵकᳵका । एवं पूतिगन्धे T 421

---

१. च. ममलम् । २. च. हरिद्रं । ३. भो. gTso Bo (नायकः) । ४. च. बीजाङ्कुरं ।
५. च. उ । ६. भो. क । ७. च. ह ।

[1]पू सर्पदंशे स पश्चिमवायव्यद्वारे। अथ न ना क्लृ क्लॄ उत्तरद्वारे बालमृत्यौ बा [2]ईश्वरे। अथ म मा शवदहने शा घोरयुद्धे घ। अथ ण णा दक्षिणनैर्ऋत्यद्वारे शूलभेदे शू, उच्छिष्टे उ। अथ ञ ञा पूर्वाग्नेयद्वारे आग्नेयद्वारवामदक्षिणयोः, भीमे भी, भयंकरे भ। अथ ङ ङा ईशानद्वारवामदक्षिणयोः, हहाकारे ह, अट्टाट्टहासे आ। अथ ह हा नैर्ऋत्यद्वारवामदक्षिणयोः, रौद्रनादे रौ, फेत्कारे फे। अथ क्ष क्षा इति षोडशश्मशानदेवीबीजानि। एवं द्विगुणं डाकिनीजालसंवरं लौकिकदेशव्यवहारेण बालजनावतारणायोक्तम्। विचार्यमाणं कामरूपजालन्धरादिपीठादिकं मृषा, एकविषयेऽपि कोटिग्रामाधिदैवे पीठादीनामुक्तत्वात्। तथा भोटचीनमहाचीनादिषु षण्णवतिविषयेषु कोटिकोटिग्रामाधिदैवेष्वनुक्तत्वादव्यापकत्वं दूतीनाम्। तेन मूलतन्त्रे भगवतोक्तम्। तद्यथा—

पीठं पूर्वविदेहं स्याज्जम्बूद्वीपं च दक्षिणे।
पश्चिमेऽपरगोदानी उत्तरकुरुरुत्तरे॥
उपद्वीपं विदिक्षु स्यादुपपीठं पृथ्वीतले।
एवं क्षेत्रादिकं सर्वं समुद्रवलयादिषु॥ इति।

अतस्त्रिचक्रसंवरे हेवज्रे पूर्वापरवचनविरोधो भगवतो यः, स सत्त्वानां ग्रहमोचनाय तीक्ष्णेन्द्रियाणाम्। इह हि यानि पीठोपपीठादीनि चक्रसंवरे उक्तानि, तानि हेवज्रे क्षेत्रोपक्षेत्रादीन्यस्तव्यस्तानि प्रोक्तानि। यथा लौकिकसिद्धयोऽपि योगिनां बाह्यपीठादौ न संभवन्ति। अध्यात्मनि द्वादशलग्नानि द्वादशाविद्याद्यङ्गानि निरुद्धानि जरामरणादिनिरोधेन धनुरादिना पीठादीनि बोद्धव्यानि। तेषु पीठादिषु तथागतविशुद्धस्कन्धधात्वायतनादिधातूनां देवतारूपेणागमनं गमनं वाऽतीतकाले [3]भूतम्, वर्तमाने भवति, अनागते भविष्यत्यधिकारभोगलयभेदेन च। संवृत्या पुनस्त्रिचक्रसंवरे भोगलयाधिकाराधिपतित्वं सन्ध्याप्रहरलग्नार्धभेदेन चतुरष्टचतुर्विंशतिदेवीनामुक्तम्। अत्र षट्चक्रमहासंवरे लग्नमण्डलप्रवाहेणाधिकारो भोगो लयश्चेति। अत्राधिकारो नाम प्राणाधिष्ठानम्, स एव भोगोऽधिपतित्वं च, लय इति गम्यस्थानम्॥ ३५॥

देवीपृष्ठेऽधिकारो लय इह पुरतः पञ्चतत्त्वस्वभावै-
र्वाय्वीशे दैत्यवह्निचोरधसि च खसुरे याम्ययक्षापरेषु।
उष्णीषे हृत्प्रदेशे गलशिरसि गते नाभिगुह्ये तु चक्रे
चक्रेऽष्टारे तलोर्ध्वं प्रतिदिनमकराद् द्विद्विलग्नान्तराले॥ ३६॥

तेन **देवीपृष्ठेऽधिकारो लय इह पुरतः पञ्चतत्त्वस्वभावै**रित्यादि वितन्यते। इह मकरलग्ने पञ्चदण्डात्मके प्रथमदण्डे पृथ्वीमण्डलं दक्षिणनाड्यां नाभौ [176a] द्वादशदलेषु [4]मकरदलस्य पश्चिमदिग्विभागे प्राणप्रवाहोऽधिकारो वाय्वार इति कल्पना। इह

१. च. स्लृ। २. भो. dBan lDan Du (ईशे)। ३. च. कृतं। ४. च. लग्ने मकर।

यदा प्राणशक्तेर्देव्याः पृथ्वीमण्डले**ऽधिकारः** स्थितिस्तदा [1]मध्यतोयमण्डले **लयः**। पुनर्जन्मग्रहणं पूर्वस्य निरोधोऽपरस्य उत्पादः स्वाध्यायदीपादिदृष्टान्तवदत्रापि मारणान्तिकौपपत्त्यङ्गिकधर्मणोरिति । तेन पृथ्वीमण्डलेऽधिकारस्तोयमण्डले लयः, तोयमण्डलेऽधिकारस्तेजोमण्डले लयः, तेजोमण्डलेऽधिकारो वायुमण्डले लयः, वायुमण्डलेऽधिकारः शून्यमण्डले लयः, शून्यमण्डलेऽधिकारो ज्ञानमण्डले लय इति मकरे। ततः कुम्भदले [2]मध्यमायां यः संचारः, स चक्रे ऊर्ध्वे उक्त इति। इह ज्ञानमण्डले यदा अवधूत्यामधिकारस्तदा वामनाड्यामाकाशमण्डले लयः, यदा [3]आकाशेऽधिकारस्तदा वायौ लयः, एवं वायावधिकारस्तेजसि लयः, तेजस्यधिकार उदके लयः, उदकेऽधिकारः पृथिव्यां लयः, पृथिव्यामधिकारो ज्ञानमण्डलेऽवधूत्यां लयः। एवं मीनमेषमण्डलेषु, तथा वृषमिथुनयोः, कर्कटसिंहयोः, कन्यातुलयोः, वृश्चिकधनुषोरिति षष्टिमण्डलेषु भोगलयाधिकारास्त्रिलग्नान्ते चत्वारो मध्यमायां वेदितव्याः। [4]एवं **वाय्वीशे दैत्यवह्न्योरधसि च खसुरे याम्ययक्षापरेषु** दशसु मण्डलेषु, चकारात् ज्ञानमण्डलेऽपि। मकरे कुम्भे, एवमन्ये[ष्व]पीति। इदानीं मकरादीनामाधारचक्रनाड्य उच्यन्ते-**उष्णीष** इत्यादि। इहोष्णीषचक्रप्रथमपरिमण्डले चतुर्नाड्यः, मध्ये एका। एवं हृदयादिचक्राणाम्। तेनोष्णीषचक्रे मकरकुम्भयोर्वाय्व्यारादिसंचारः, [5]पूर्वे चक्रस्याकाशशुद्धितो वज्रचिह्नम्। तेन मण्डले आकाशचक्रे [6]वज्रावली। एवं **हृदय**स्वभावतो वायुचक्रे खड्गावली मीनमेषयोः। एवं **गलगते** तेजःस्वभावतश्तेजश्चक्रे रत्नावली वृषमिथुनयोः। **शिरसि** गते तोयस्वभावतस्तोयचक्रे पद्मावली कर्कटसिंहयोः। **नाभिचक्रे** पृथ्वीस्वभावतः चक्रावली कन्यातुलयोः। **गुह्यचक्रे** ज्ञानस्वभावतः कर्तिकावली वृश्चिकधनुषोरिति। एषु **चक्रे**ष्वष्टाष्टारेषु **तलोर्ध्वं च प्रतिदिनं मकरलग्ना**दारभ्य एष सञ्चारो योगिना प्राणस्य वेदितव्यः। इह यत्र यत्र प्राणोऽधिकारं करोति, तत्र [7]तत्र मण्डलनायिकाया नाम्ना सार्धं भगवतोऽष्टचत्वारिंशत्पदिकस्यैकपदं गृहीत्वा जपेत् प्राणप्रवाहेण, नाक्षसूत्रेणेति। एवं षोडश[8]पदिकस्यैकपदं गृहीत्वा श्मशानदेवीनामसहितं जपेद् अष्टपदिकं [9]कमलदलाष्टदेवीभिः सहेति वक्ष्यमाणम्। एवं मकरादिदूतीनां **द्विद्विलग्नान्तराले चक्रसंचारो** दश दश दण्डेषु। एवमहोरात्रेण षष्टिदण्डैः षष्टिमण्डलेषु T 422 संचारः प्राणस्येति। एव[10]मत्र दनुजनरभूतदेवासुरादीनां स्वस्वदिने स्वस्वमण्डलेषु योगिनीसंचार उत्पादप्रलयहेतुभूतः —

महामाया महारौद्रा भूतसंहारकारिणी।
यथा तथा स्वयं कर्ता हर्ता वज्रधरः स्मृतः॥

---

१. च. मध्ये। २. च. मध्ये। ३. भो. mṅhaḥi dKyil ḥKhor (आकाशमण्डले)। ४. भो. 'एवं' नास्ति। ५. भो. Daṅ Po La (प्रथमे)। ६. ग. 'वज्रावली.... वायुचक्रे' नास्ति। ७. ग. 'तत्र' नास्ति। ८. ग. पदस्य, भो. rKaṅ Pa Re Re स्यैकैकपदं)। ९ ग. सकमलदले। १०. ग. मण्डलतु, भो. Lus Las sKyes Paḥi Phra Mo (एवमणुतनुज)।

प्रज्ञापारमिता कर्त्री कर्ता बुद्धो न देहिनाम् ।
हन्त्री हर्ता न बौद्धानां देशितो भूतवादिना ॥
कायवाङ्मानसं कर्म यः करोति शुभाशुभम् ।
सत्त्वस्तस्य फलं भुङ्क्ते कर्ता नान्योऽस्ति कस्यचित् ॥

इति भगवतो नियमः ॥ ३६ ॥

इदानीं नायकासनमुच्यते[176b]—

भर्त्रंब्जं सर्ववज्रैः कुलिशमणिगतैश्चाक्षरैर्बिन्दुभिश्च
सर्वानन्दं समन्तात् समसुखनिलयं वज्रिणः सर्वकालम् ।
तस्मिन् चन्द्रद्रवे यो विशति गुरुमुखे कालचक्रः स एव
माराणां कालमुक्तं मरणभयकरं डाकिनीचक्रमेतत् ॥ ३७ ॥

[1]भर्त्रित्यादि । इहोष्णीषादिषट्चक्रेषु योगिनीसंचारः ककारादिवर्णैः, तेन **भर्त्रंब्जं** [2]मध्यकमलं मण्डले यत्तत्, **सर्ववज्रैरि**ति चतुर्बिन्दुभिरक्षरैरित्यच्युतैः, **कुलिशमणिगतैः** कुलिशमणिगतं कमलं **सर्वानन्दं समन्तात् समसुखनिलय**मच्युतत्वाद् **वज्रिणः सर्वकालं** योगिनीनामानन्दजनकम् । अतस्त**स्मिंश्चन्द्रद्रवे**ऽच्युते सुखे **यो विशति गुरुमुखे** ज्ञानवक्त्रे **कालचक्रः स एव** योगी भवतीति नियमः । एवमेतच्चक्रं **कालमुक्त**मित्यविद्यादि-धर्ममुक्तम् । **माराणां** स्कन्धादीनां चतुर्णां **मरणभयकरं डाकिनीचक्रमेत**दिति सर्वावरणविनिर्मुक्तं नान्यदेवतागणं कल्पितमिति ॥ ३७ ॥

इदानीं लौकिकसिद्धिसाधनाय मन्त्रजाप उच्यते—

प्रज्ञोपायाक्षराभ्यामुभयकुलवशाद् डाकिनीडाकनाम
जाप्यं वज्रत्रयेणापरपदसहितेनादिमध्यान्तभिन्नम् ।
प्राणेनाधिष्ठितं यद् ह्युभयगतिवशात् स्वस्वकर्मानुरूपं
सिद्धिं गच्छन्ति शीघ्रं रसगतिषु गता डाकिनीवज्रडाकाः ॥ ३८ ॥

प्रज्ञोपायेत्यादि । इह कालचक्रे **प्रज्ञोपायाक्षराभ्या**मिति । इह यत्र [3]प्रज्ञाया ह्रस्वबीजं तदोपायस्याभिमुखकुलवशाद्दीर्घं भवति, यदा प्रज्ञाया दीर्घस्तदोपायस्य ह्रस्वम् । एव**मुभयकुलवशाद् डाकिनीडाकनामे**ति शिवज्रा स्लृवज्र इत्यादि । एवं स्लृवज्रा शिवज्रः । पृथ्वीवायुः(यू) परस्परं प्रज्ञोपायभेदतः । एवं तोयतेजसोः षृ-वज्रा ≂पू वज्र इति । तथा ≂पूवज्रा षृवज्र इति सर्वडाकिनीडाकानां नाम **जाप्यमिदं वज्रत्रयेणापरपदसहितेनादिमध्यान्तभिन्न**मिति । आदावोङ्कारः, मध्ये मालामन्त्रस्या-दिमं पदादिकम्, ततो वज्रदूतीबीजं वज्रडाकसहितम्, ततो ह्रस्व[4]हुंकारं चित्तवज्रम्, दीर्घं वाग्वज्रम्, अन्ते फट्कारमिति । [5]ततो मालामन्त्रो द्वासप्ततिपदिकः । तेषु

---

१. ग. भर्तुरित्यादि । २. ग. मध्ये । ३. ग. प्रज्ञा । ४. च. हुंकार । ५. ग. तत्र ।

द्वासप्ततिपदेष्वष्टपदान्यादौ पद्मदलदेवीभिः सार्धम्, षोडशपदानि श्मशानदेवीभिः सार्धम्, अष्टचत्वारिंशत्पदानि षट्चक्रवीरवीरेश्वरीनामसहितानि जाप्यानीति। अत्राष्टपदानि चतुःश्मशानपदानि मध्यमायां द्वादशप्रवेशेषु जाप्यानि प्राणेनाधिष्ठितानि। मकरादौ संक्रान्तिकाले शेषाणि षष्टिपदानि पञ्चमण्डलाधिष्ठानेन **प्राणाधिष्ठितं** यन्मण्डलं तस्याधिदेवतासहितं मालामन्त्रं योगिनां सिद्ध्यति। वाह्भेदे **सिद्धिं गच्छन्ति शीघ्रं रसगतिषु** गताः षड्गतिषु गता भगवतः [1]**सर्वडाकिनीवज्रडाका** इति नियमः। अत्र संवृत्योपपीलवादिन्यासो मकरादिना कवर्गादिना देवीमालामन्त्रे। तत्र द्वादशसंक्रान्तिपदानि। तद्यथा ॐ आः हुं होः हं क्षः हंक्ष्म्ल्व्र्य कालचक्र हा वज्रे हुं हूं फडिति मकरसंक्रान्तौ सपादषट्पञ्चाशत् श्वासजापः। एवं कुम्भसंक्रान्तौ ॐ दुर्दान्त[2]दमक जातिजरामरणान्तक [3]स्वा वज्रे हुं हूं फट्। ॐ त्रैलोक्यविजय [4]हः वज्रे हुं हूं फडिति मीने। ॐ महावीरेश्वर [5]अः वज्रे हुं हूं फट् मेषे। ॐ वज्रभैरव हः वज्रे हुं हूं फडिति वृषे। ॐ वज्रकाय अः वज्रे हुं हूं फडिति मिथुने। ॐ वज्रगात्र हं वज्रे हुं हूं फडिति कर्कटे। ॐ वज्रनेत्र अं वज्रे हुं हूं फडिति सिंहे। ॐ वज्रश्रोत्र हा वज्रे हुं हूं फडिति कन्यासंक्रान्तौ। ॐ वज्रघ्राण [6]ह वज्रे हुं हूं फडिति तुलायाम्। ॐ वज्रजिह्व क्षा वज्रे हुं हूं फडिति वृश्चिके। ॐ वज्रदन्त [7]क्ष वज्रे हुं हूं फडिति धनुःसंक्रान्तौ श्वासेन सार्धं जपेत्। [177a] इति द्वादशसंक्रान्तौ ज्ञानमण्डलजापः। ॐ वज्रनख क्लॄ वज्रे घि वज्र हुं हूं फडिति मकरपृथ्वीमण्डले सपादैकादशोनषष्ट्युत्तरत्रिशतजापः। एवं सर्वत्र षष्टिमण्डलेषु। ॐ वज्रकेश खू वज्रे गृ वज्र हुं हूं फडित्युदके। ॐ वज्रलोम गॄ वज्रे खु वज्र हुं हूं फडिति तेजसि। ॐ वज्राभरण घी वज्रे क्लृ वज्र हुं हूं फड़िति वायौ। ॐ वज्रहास [8]दा वज्रे हुं हूं फडिति आकाशमण्डले श्मशाने भगवानुपायस्तेन द्वितीयबीजाभावः। एवं सर्वत्राकाशमण्डले ज्ञेयः। ॐ वज्रगीत [9]द वज्रे हुं हूं फडिति कुम्भाकाशमण्डले श्वासजापः। ॐ वज्रनृत्य घि वज्रे क्लॄ वज्र हुं हूं फडिति वायौ। ॐ वज्रायुधक गृ वज्रे खू वज्र हुं हूं फडित्यग्नौ। ॐ वज्रक्रोधाधिपते खु वज्रे गॄ वज्र हुं हूं फडित्युदके। ॐ वज्रडाक क्लृ वज्रे घो वज्र हुं हूं फडिति पृथ्वीमण्डले श्वासजापः। एवं [10]कवर्गो गतः। ततो मीने ॐ वज्रडाकिनीजालपरिवृत च्लॄ वज्रे झि वज्र हुं हूं फडिति पृथ्वीमण्डले श्वासजापः। ॐ शीघ्रमागच्छागच्छ छू वज्रे जॄ वज्र हुं हूं फडिति तोये। ॐ वज्रसत्त्वाज्ञया सर्वमारविघ्नविनायककिन्नरकिम्पुरुषगरुडगन्धर्वयक्षराक्षसभूत[11]प्रेतकुम्भाण्डापस्मारक्षेत्रपालवेतालपूतनादुष्टनागग्रहादयो ये सर्वज्वरसर्वव्याधिभिः क्षुद्रोपद्रवकारिणः सर्वसत्त्वापकाररताः, तान् सर्वान् जः शीघ्रं वज्राङ्कुशेनाकृष्याकृष्य जॄ वज्रे छु वज्र हुं हूं फडित्यग्निमण्डले। ॐ ऊर्ध्वदिशि गता-

---

१. भो. rDo rJe mKhaḥ ḥGro Ma (वज्रडाकिनी)। २. भो. दमकः। ३. ग. भो. ह वज्रे। ४. ग. ह, भो. आ। ५. ग. भो. अ। ६. ग. आ। ७. ग. 'क्ष वज्रे.....आकृष्य ढि' नास्ति। ८. च. हां। ९. च. हं। १०. भो. Ka sDe La gNas Pa rNam So (कवर्गगताः)। ११. भो. महाप्रेत।

नाकृष्याकृष्य झी वज्रे च्लृ वज्र हुं हूं फडिति वायौ। ॐ पूर्वदिशि गतानाकृष्याकृष्य ञा वज्रे हुं हूं फडिति आकाशमण्डले श्मशाने। ततो मेषे ॐ दक्षिणदिशि गतानाकृष्याकृष्य ञ वज्रे हुं हूं फडित्याकाशमण्डले श्मशाने। ॐ उत्तरदिशि गतानाकृष्याकृष्य झिवज्रे च्लॄ वज्र हुं हूं फडिति वायौ। ॐ पश्चिमदिशि गतानाकृष्याकृष्य जृ वज्रे छू वज्र हुं हूं फडिति तेजसि। ॐ वायव्यदिशि गतानाकृष्याकृष्य छु वज्रे जॄ वज्र हुं हूं फडिति तोये। ॐ ईशदिशि गतानाकृष्याकृष्य च्लृ वज्रे झी
T 423 वज्र हुं हूं फडिति पृथ्वीमण्डले श्वासजापः। ततो वृषलग्ने ॐ नैर्ऋत्यदिशि गतानाकृष्याकृष्य ट्लॄ वज्रे ढि वज्र हुं हूं फडिति पृथ्वीमण्डले श्वासजापः। ॐ आग्नेयदिशि गतानाकृष्याकृष्य ठू वज्रे डृ वज्र हुं हूं फडिति तोये। ॐ अधोदिशि गतानाकृष्याकृष्य डॄ वज्रे ठु वज्र हुं हूं फडिति तेजसि। ॐ आकाशमण्डलगतानाकृष्याकृष्य ढो वज्रे ट्लृ वज्र हुं हूं फडिति वायौ। ॐ वायुमण्डलगतानाकृष्याकृष्य णा वज्रे हुं हूं फडिति आकाशमण्डले श्मशाने श्वासजापः। ततो मिथुने ॐ तेजोमण्डलगतानाकृष्याकृष्य ण वज्रे हुं हूं फडिति आकाशमण्डले श्मशाने श्वासजापः। ॐ उदकमण्डलगतानाकृष्याकृष्य ढि वज्रे ट्लॄ वज्र हुं हूं फडिति वायौ। ॐ पृथ्वीमण्डलगतानाकृष्याकृष्य डृ वज्रे ठू वज्र हुं हूं फडिति [177b] तेजसि। ॐ कामधातुगतानाकृष्याकृष्य ठु वज्रे डॄ वज्र हुं हूं फडित्युदके। ॐ रूपधातुगतानाकृष्याकृष्य ड्लृ वज्रे ढी वज्र हुं हूं फडिति पृथ्वीमण्डले श्वासजापः। ततः कर्कटलग्ने ॐ अरूपधातुगतानाकृष्याकृष्य प्लॄ वज्रे भि वज्र हुं हूं फडिति पृथ्वीमण्डले श्वासजापः। ॐ कायधातुगतानाकृष्याकृष्य फू वज्रे बृ वज्र हुं हूं फडिति तोये। ॐ वाग्धातुगतानाकृष्याकृष्य बॄ वज्रे फु वज्र हुं हूं फडिति तेजसि। ॐ चित्तधातुगतानाकृष्याकृष्य भी वज्रे प्लृ वज्र हुं हूं फडिति वायौ। ॐ पञ्चस्कन्धगतानाकृष्याकृष्य मा वज्रे हुं हूं फडिति आकाशमण्डले श्मशाने श्वासजापः। सिंहे ॐ पञ्चधातुगतानाकृष्याकृष्य म वज्रे हुं हूं फडिति आकाशमण्डले श्मशाने श्वासजापः। ॐ पञ्चेन्द्रियगतानाकृष्याकृष्य भि वज्रे प्लॄ वज्र हुं हूं फडिति वायौ। ॐ पञ्चविषयगतानाकृष्याकृष्य बृ वज्रे फू वज्र हुं हूं फडिति तेजसि। ॐ पञ्चकर्मेन्द्रियगतानाकृष्याकृष्य फु वज्रे बॄ वज्र हुं हूं फडिति तोये। ॐ [1]पञ्चकर्मेन्द्रियविषयगतानाकृष्याकृष्य प्लृ वज्रे भी वज्र हुं हूं फडिति पृथ्वीमण्डले श्वासजापः। ततः कन्यालग्ने ॐ सर्वत्र यत्रकुत्रचिद्गतानाकृष्याकृष्य तॢॄ वज्रे धि वज्र हुं हूं फडिति पृथ्वीमण्डले श्वासजापः। ॐ महाश्मशाने वज्राग्निज्वलितभूम्यां निपातय [2]निपातय थू वज्रे दृ वज्र हुं हूं फडिति तोये। ॐ वज्रपाशेन सर्वभुजेषु बन्धय बन्धय दॄ वज्रे [3]थु वज्र हुं हूं फडित्यग्नौ। ॐ वज्रशृङ्खलया सर्वपादेषु निरोधय निरोधय धी वज्रे त्लृ वज्र हुं हूं फडिति वायौ। ॐ सर्वसत्त्वकायवाक्चित्तक्षुद्रोपद्रवकाररतान् महाक्रोध [4]वज्रेण चूर्णय चूर्णय ना वज्रे हुं हूं फडित्याकाशमण्डले श्मशाने। ततस्तुलालग्ने

१. च. ग. 'पञ्च' नास्ति। २. ग. 'निपातय' नास्ति। ३. ग. 'थु वज्र' नास्ति। ४. भो. वज्रिन्।

ॐ वज्रखड्गेन निकृन्तय निकृन्तय न वज्र हुं हूं फडित्याकाशमण्डले श्मशाने श्वासजापः। ॐ वज्रत्रिशूलेन भेदय भेदय धि वज्रे ल्लृ वज्र हुं हूं फडिति वायौ। ॐ वज्रकर्तिकया हन हन दृ वज्रे थू वज्र हुं हूं फडिति तेजसि। ॐ वज्रबाणेन बिन्ध बिन्ध थु वज्रे दॄ वज्र हुं हूं फडिति तोये। ॐ वज्रकीलकैः कीलय कीलय ल्ल वज्रे धी वज्र हुं हूं फडिति भूमिमण्डले श्वासजापः। ततो वृश्चिकलग्ने ॐ वज्रमुद्गरेणाकोटयाकोटय ल्लॄ वज्रे शि वज्र हुं हूं फडिति पृथ्वीमण्डले श्वासजापः। ॐ वज्रचक्रेण छेदय छेदय ⌒ पू वज्रे षृ वज्र हुं हूं फडिति तोये। ॐ वज्रकुन्तेन भिन्ध भिन्ध षॄ वज्रे ⌒ पु वज्र हुं हूं फडिति तेजसि। ॐ वज्रदण्डेन ताडय ताडय शी वज्रे ल्ल वज्र हुं हूं फडिति वायौ। ॐ वज्रपर्शुना छिन्द छिन्द ⌒ का वज्रे हुं हूं फडिति आकाशमण्डले श्मशाने श्वासजापः। ततो धनुर्लग्ने ॐ सार्धत्रिकोटिखण्डानि कृत्वा श्मशानभूम्यां सर्वभूतेभ्यो बलिं कुरु कुरु ⌒ क वज्रे हुं हूं फडित्याकाशमण्डले श्मशाने श्वासजापः। ॐ वज्रडमरुकेण वज्रडाकिनीरावाहयावाहय शि वज्रे ल्लॄ वज्र हुं [178a] हूं फडिति वायौ। ॐ वज्रडाकिनीभ्यो मारकायिकानां रुधिरं निवेदय निवेदय पृ वज्रे ⌒ पू वज्र हुं हूं फडिति तेजसि। ॐ पञ्चामृतहारिणीभ्यः पञ्चामृतं निवेदय निवेदय ⌒ पु वज्रे षॄ वज्र हुं हूं फडिति तोये। ॐ सर्ववज्रडाकिनीसहितः सर्वसत्त्वानां शान्तिकं पौष्टिकं रक्षावरणगुप्तिं कुरु कुरु ल्ल वज्रे शी वज्र हुं हूं फडित्यवनिमण्डले श्वासजापः। एवं मालामन्त्रं प्रतिदिनं [1]श्वासचक्रसंख्यं जपेत्। अत्र नाक्षसूत्रं न मन्त्रोच्चारः, श्वासोच्छ्वासाभ्यां सह मन्त्राक्षराणां प्रवेशो निर्गमः पुष्पमालावदनुलोमविलोमेन चन्द्रसूर्यस्वभावेन द्रष्टव्यः। एवं पञ्चदिनैरष्टसहस्राधिको लक्षजापोऽध्यात्मनि योगिना कर्तव्यः। पञ्चशतदिनैः कोटिजापोऽष्टलक्षाधिकः श्वासानाम्। ततः कायशुद्धिरेवं वाग्विशुद्धिस्तथा चित्तविशुद्धिः। एवं पञ्चशतदिनैः श्वासो निष्कम्पो भवति। कुम्भकावस्थां प्राणः प्राप्नोति। ततः पञ्चाभिज्ञा जायन्ते योगिनामिति वज्रजापक्रमो नपुंसकजापक्रमो [2]वा वामदक्षिणमध्यमाप्राणसंचारेण भवतीति भगवतो नियमः॥ ३८॥

इदानीमवधूतीश्वासैः कायवाक्चित्तज्ञानपञ्चचक्रैः सर्वबुद्धसंवरमुच्यते—

ये श्वासा मध्यमायां सपदरसशरा जन्मकाले बभूवु-
स्तैश्चक्राण्यष्टकैः स्युस्तलगगनवशाद् द्वारमध्यस्थदेव्यः।
पादेनैकेन जाता त्रिभुवनजननी कर्तिकाशुक्तिहस्ता
आलीढोऽर्केन्दुमूर्ध्नि त्वमृतसुखकलालिङ्गितः कालचक्रः॥३९॥

ये श्वासा इत्यादि। इह मध्यमायां ये [3]**श्वासा जन्मकाले** बालस्य सपादषट्पञ्चाशत् श्वासाः **सपदरसशरा बभूवुः, तैश्चक्राण्यष्टकैः स्युस्तलगगनवशाद् द्वारमध्य-**

१. ग. श्वासजाप। २. च. 'वा' नास्ति। ३. ग. 'श्वासा' नास्ति।

स्थदेव्य इति । एषां श्वासानां मध्ये कायवाक्चित्तज्ञानधर्मिणोऽष्टश्वासाः प्रज्ञोपायभेदतः, ते गर्भपद्मदलेऽष्टौ देव्यः । अत्र कपालानि न भवन्ति वीराश्च अष्टौ रूपविशुद्ध्या पृथ्वीचक्रे, अष्टौ संज्ञाशुद्ध्या तोयचक्रे, अष्टौ वेदनाशुद्ध्या तेजश्चक्रे, अष्टौ संस्कारविशुद्ध्या वायुचक्रे, अष्टौ विज्ञानविशुद्ध्याऽऽकाशचक्रे, अष्टौ [1]ज्ञानशुद्ध्याऽष्टश्मशानेषु । एवं गुह्यनाभिहृदयकण्ठललाटोष्णीषचक्रेषु षट्सु अष्टचत्वारिंशत् । एवं घ्राणरन्ध्रयोर्द्वौ, नेत्ररन्ध्रयोर्द्वौ, श्रोत्ररन्ध्रयोर्द्वौ, जिह्वामुखोष्णीषरन्ध्रयोर्द्वौ—इति देवीगणः । एवं षट्पञ्चाशत् । **शेषपादेनैकेन जाता त्रिभुवनजननी** विश्वमाता **कर्तिकाशुक्तिहस्ता**, तया प्रत्यालीढया **अमृतकलया आलीढोऽर्केन्दुमूर्ध्नि** मारक्लेशोपरि स्थित **आलिङ्गितः कालचक्रो** भगवान् परमाक्षरसुख इति । एषां श्वासानां बीजानि वक्ष्यमाणेन [2]"लाद्या यास्त्वष्टमात्रा" (का० त० ५.१२८) इत्यादिना वक्तव्यानि, तेनात्र न लिखितानि । अत्र नीतार्थः—सर्वकालं योगिना मध्यमायां प्राणो भावयितव्यः, प्रवेशनिर्गमतया यावत् स्थिरीभवति कुम्भकावस्थां गच्छति सर्वकालम्, ततो योगी पञ्चाभिज्ञालाभी भवति प्राणजापत इति भगवतो नियमः । एवं "जपेन्मन्त्र-
T 424 मभिन्नाङ्गं प्राणयुक्तं मन" इति सर्वतन्त्रेषु वज्रपदं पूर्वोक्तम् । यद्यपि मन्त्रोच्चारणाक्ष-[178b]सूत्ररहितः प्राणजापस्तथापि जाप इत्युच्यते, प्राणनिर्गमप्रवेशादिति ॥ ३९ ॥

इदानीं बाह्ये वाऽध्यात्मनि देवतासनशुद्धिरुच्यते—

पञ्चत्र्यर्चीन्दुसूर्या विषयगुणवशादासनान्यव्यभिचारा
वाराः सप्तार्कपूर्णा दिनकरशशिनश्चापराण्यासनानि ।
कृष्णा श्वेतार्कपूर्णा दिनकरशशिनश्चापराण्यासनानि
वाराः सप्तार्कपूर्णाः समविषमपदे सूर्यचन्द्रासनानि ।।४०।।

पञ्चेत्यादि । इहैकवीरस्यासनं **चन्द्रः** [3]शुक्रं **सूर्यो** रज इति, पञ्चधातूनां प्रज्ञाधर्मत्वात् चन्द्रगुणाः **पञ्चविषयास्ते**ऽत्र लोचनादीनां चन्द्रासनान्याकाशधातुपर्यन्तम् । **गुणत्रयवशाद्** रत्नसंभवामिताभामोघसिद्धीनां त्रीणि **सूर्यासनानि** । चतुर्भूतात्मकं महारूपमिति, चतुर्धातुधर्मित्वाद् वैरोचनस्य चन्द्रासनम्, ज्ञानार्चिधर्मित्वात् सूर्यासनं वेदनादीनाम् "अरूपित्वं तु शेषाणाम्" इति वचनात् । एवं पञ्च चन्द्रमण्डलानि, चत्वारि सूर्यमण्डलानीति सत्त्वरजस्तमःसमताभेदेन । एवं नवात्मकः समाजः स्कन्धधातूनां गुणविषयाधारतः, यथा गर्भे जातकविज्ञानादीनां तथा देवतायामपि पुनरपराणि चत्वारि क्रोधासनानि । **अव्यभिचारा** इति सूर्यस्य रविकाधनऋणवृद्धिहानिवशात् क्रोधानां सूर्यासनानि । एवं क्रोधानां चारा इति त्रयोदशात्मकः समाजः, एवं **सप्तवाराः** सूर्यासनानि, द्वादशपूर्णाश्चन्द्रमण्डलानि, एकोनविंशदात्मकः समाजस्तृतीयः, **कृष्णपूर्णा**

---

१. ग. विज्ञान । २. भो. लाद्या । ३. च. शुक्लं ।

अमावास्या प्रतिवर्षे द्वादश, श्वेतपूर्णा पौर्णमास्यो द्वादश, एवं चतुर्विंशतिः **सूर्यचन्द्रासनानि** नायकस्य कुलवशाच्चन्द्रो वा सूर्यो वा। एवं पञ्चविंशदात्मकः **समाजो** देवतानामाधारभेदत इति। पुनस्तेषु मध्येऽपर**सप्तवारा**सनानि क्षिप्तानि द्वात्रिंशदासनानि भवन्ति। पञ्चस्कन्धचतुर्धातूनां द्वादशायतनानामेकादशक्रोधानामिति द्वात्रिंशदात्मकः समाजः। पुनः **समविषमपदे** प्राणस्य गतिः **सूर्यासनमागतिश्चन्द्रासनम्**, तेन चतुस्त्रिंशदात्मकः समाजः। एवं षट्प्रकारो यथा गर्भे बालस्य धातूनामाधाराधेयमेलापकस्तथा देवतानां मीलनमितिन्यायात् षट्प्रकारः समाजः ॥ ४० ॥

इदानीं त्रिचक्रसंवरे आसनशुद्धिरुच्यते—

आराश्चन्द्रार्कचाराः कमलदलचतुर्द्वारकोणासनानि
भूयश्चारा द्विगुण्या दिनकरशशिनश्चासनान्येव तानि।
पूर्णा वारार्कचाराः समविषमपदे चासनान्यब्धिचाराः
सूर्ये वा पूर्णचन्द्रे भवति कुलवशान्नायकः संपुटे वा ॥४१॥

आरा इत्यादि। इह त्रिचक्रे **आराश्चतुस्त्रिंशतिः**, ते च "भूता भूतेषुवेदा गुणकरशशिन" (का० त० १.३२) इति पूर्वोक्ताश्**चन्द्रचाराः** पञ्चविंशतिः, तेषां चतुर्विंशतिस्त्रिचक्रारा भवन्ति। एकः **पद्मदल**देवतायाः पञ्चविंशतितमः, प्रेतासनमिति। **अर्कचारा** रसयुगशशिन इत्येकादश, तेषां गर्भपद्मदलेषु त्रयः, शेषा अष्टौ अष्टश्मशानेषु शवरूपेणावस्थिताः, आरा इत्याधारः। शवा इति शवानि देवीवाहनानि। एवं त्रिचक्रसंवरः। **भूयः** पूर्वापरभेदेन **चारा द्विगुणा** महासंवरे देवीनामासनानि द्वासप्ततिर्भवन्ति। एवं षट्चक्रसंवरः। मायाजाले पूर्णाश्चतुर्विंशतिः शुक्लकृष्णाश्चन्द्रसूर्यासनानि, तथा सप्त[1]**वाराः** सप्तसूर्यासनानि, **अर्कचारा** एकादश सूर्यासनानि। अथ भावभेदेन चन्द्रासनानि, एवं त्रयश्च(त्रिच)त्वारिंशदासनान्येके। **समविष**[179a]**मपदेन** पूर्ववच्चन्द्रसूर्यासनमिति पञ्चचत्वारिंशदासनानि द्वितीये। **अब्धिचारा** इति रविकाभेदेन चत्वारि सूर्यासनानि चन्द्रासनानि वा कायभावभेदेन भवन्ति। एवमेकोनपञ्चाशदासनानि तृतीये मायाजाले देवतानाम्। यथा गर्भे बालस्य प्राणस्याधारभूता धातवस्तथा बाह्येऽपि परेऽपि सिद्धाः। एवं समाजमायाजालत्रिचक्रषट्चक्रसंवरपरिशुद्धिनियमः। तेषु तन्त्रेषु नायकः **सूर्ये(र्यो) वा**ऽरूपस्कन्धधर्मित्वात्, प्रज्ञाधर्मे **चन्द्रे(न्द्रो)वा भवति** रूपधर्मित्वात्, वैरोचनः करुणाधर्मे चन्द्रमण्डले भवति **कुलवशात्** प्रज्ञाकरुणावशाद् **नायकः, संपुटे** वा प्रज्ञाकरुणाद्वये कालचक्र इत्यादिबुद्धो निरन्वयत्वादिति सिद्धः ॥ ४१ ॥

इदानीं वाय्वादिदेवतानां वक्त्रशुद्धिरुच्यते—

वायोः स्पर्शास्यमेकं त्वपरगुणवशान्मुद्रणास्यं द्वितीयं
रूपस्पर्शद्वयास्यं भवति च शिखिनो मुद्रणास्यं तृतीयम्।

---

१. च. चारा।

स्पर्शो रूपं रसास्यं मुखमपि पयसो मुद्रणास्यं चतुर्थं
गन्धाद्यं स्पर्शजान्तं गुणमुखमवनेः पञ्चमं मुद्रणास्यम् ।।४२।।

वायोरित्यादि । इह वाय्वादिदेवतानां द्विधा वक्त्राणि –एकानि विषयशुद्ध्या, द्वितीयानि गुणत्रयशुद्ध्या। तत्र वायुधातोः स्पर्शगुणात्मकमेकं वक्त्रं भवति, द्वितीयं शब्दगुणात्मकं मुद्रणम्, तेन संस्कारस्कन्धस्य विज्ञानस्कन्धो मुद्रणम्। एवं **वायोः स्पर्शास्यमेकं त्वपरगुणवशान्मुद्रणास्यं** द्वितीयं शिरसि, न मुखस्थाने। एवं [1]रूपस्पर्शविषयधर्मेण **मुखद्वयं तेजसो** मुद्रणास्यं तृतीयम्। गुणेन तेन वेदनयाऽपि विज्ञानमुद्रणम्। तथा **स्पर्शरूपरसास्यं मुखत्रयं पयस** आकाशलक्षणः शब्दो **मुद्रणास्यं चतुर्थम्**, तेन संज्ञया विज्ञानमुद्रणम्। **गन्धाद्यमिति** गन्धरसरूपस्पर्शविषयधर्मेण वक्त्रचतुष्टयं **पृथिव्या** भवति। तेन रूपस्कन्धस्यापि विज्ञानस्कन्धो मुद्रणमिति सिद्धम् ॥ ४२ ॥

शून्यं पञ्चप्रकारं मुखमपि नभसो मुद्रणास्यं च षष्ठ,
मेवं वै ज्ञानधातोर्भवति गुणवशाच्छून्यषट्केन वक्त्रम्।
एकं मिश्रं चतुष्के समसुखफलदं पञ्चकं द्वित्रिमिश्रं
प्रज्ञोपायं दशास्यं त्रिविधगुणवशाद् द्वादशास्यं चतुर्धा ।।४३।।

शून्यं पञ्चप्रकारं "पञ्चाक्षरो महाशून्यः" (ना० सं० १०.२) इति वचनाद् मुखपञ्चकमाकाशधातोर्विज्ञानस्कन्धस्य **मुद्रणास्यं** षष्ठं ज्ञानस्कन्धम्। **एवं वै ज्ञानधातोर्भवति गुणवशात् शून्यषट्केन वक्त्रं** षण्मुखस्य, तस्यापि विज्ञानधातुमुद्रणमिति मुद्रानियमो धातुविषयगुणवशाच्छुद्धम्। अथैकं **मिश्रं चतुष्केण समसुखफलदं पञ्चकं द्वित्रिमिश्रमिति**। इहैकस्पर्शगुणात्मको वायुधातुराकाशमुद्रितो गन्धादिचतुर्गुणात्मके पृथ्वीधातावाकाश[2]गुणमुद्रिते यदा मिश्रो भवति, तदा समसुखफलदः प्रज्ञोपायात्मको योगो भवति। एवं [3]स्पर्शरूपद्विगुणात्मकोऽग्निराकाशगुणमुद्रितः, तोयधातुस्त्रिगुणात्मक आकाशगुणमुद्रितः परस्परमिलितः पञ्चकं भवति। [4]एवं पृथ्वीवाय्वोः पञ्चकम्। एवं **प्रज्ञोपायं दशास्यं** पूर्वापरं वामदक्षिणं परस्परमिलितम्। अस्याध्यात्मपटले प्रपञ्च उक्तः—"प्रज्ञोपायोऽस्थिमांसं ससलिलरुधिरं पावको मूत्रमेव" (का० त० २.३०) इत्यादिनेति नियमः।

पुनरपरगुणत्रयभेद उच्यते—त्रिविधेत्यादिना। इह सर्वधातूनां सत्त्वरजस्तमोगुणाः सन्ति, तैः सर्वे धातवस्त्रिमुखाः। गन्धादिधर्मधात्वन्ताः षड्विषया धातूनाम्, तैः
T 425 षड्भुजाः। एवं **त्रिविधगुणवशाद् द्वादशास्यं** [5]**चतुर्धा** प्रज्ञोपायं पूर्वापरं वाम[।79b]-

---

१. भो. Ro Daṅ Reg Byaḥi (रसस्पर्शस्य)। २. भो. 'गुण' नास्ति। ३. भो. Reg Bya Daṅ Roḥi (स्पर्शरस)। ४. ग. 'एवं ...... कायचित्ते' त्रुटितः। ५. च. 'चतुर्धा' नास्ति।

दक्षिण ऊर्ध्वमिति नियमः। समाजे सर्वेषां चिह्नं शुक्रनाड्यस्थिविशुद्ध्या वज्रं पद्मं चक्रं दक्षिणे, रजो रक्तं मांसं वज्रघण्टा मणिः खड्गो वामेऽक्षोभ्यस्य। इह यस्या देवतायाः स्वचिह्नं दक्षिणे प्रथमकरतले गच्छति, तस्य स्थाने वज्रचिह्नं याति। एवं समाजनियमः। यथा समाजे यो बुद्धो मध्ये विशति तस्य स्थानेऽक्षोभ्यो गच्छति, तथा चिह्नेऽपि नियमः। एवं पञ्चमुखषण्मुखयोरेकादशास्यं विज्ञानज्ञानधात्वोः पञ्चाननषण्मुखयोः पञ्चाक्षरमहाशून्यबिन्दुशून्यषडक्षरयोः। पुनस्तयोः परस्परापेक्षकत्वेन द्वात्रिंशदास्यः समाज इति नियमः॥ ४३॥

इदानीं कालभेदेन वक्त्रादिशुद्धिरुच्यते—

सन्ध्याभेदाच्चतुर्धा त्रिविधमपि मुखं लग्नभेदात् त्रिवर्णं
लग्नार्धाद् बाहुभेदो विषममपि समालिङ्गनं कायचित्ते।
सन्ध्याङ्गे पूर्वपृष्ठे त्रिमुखरसभुजालिङ्गनं मध्यमाङ्गे
प्रज्ञासङ्गः समापत्तिरपि हि हसिताद्यानि यामाभिसन्धौ ॥४४॥

सन्ध्येत्यादि। इह "दिनस्तु भगवान् वज्री नक्तं प्रज्ञा प्रकीर्तिता" इति नियमात् [1]प्रहरप्रहर**सन्ध्याभेदेन** भगवांश्चतुर्मुखोऽष्टभुजोऽर्धप्रहरभेदेनार्धरात्रान्मध्याह्नं यावत्, एवं प्रज्ञाऽपि मध्याह्नादर्धरात्रं यावच्चतुर्मुखा अष्टभुजेति। **समालिङ्गनं** मध्याह्ने दिवारात्र्योः, **विषममपि** पूर्वसन्ध्या-अपरसन्ध्ययोर्दिवारात्र्योर्हीनाधिकवशतः, तत्र कुत्रचिद् भगवान् पञ्चमुखो दशभुजो भगवती त्रिमुखा षड्भुजा दिवावृद्धितः। निशावृद्धितो भगवती पञ्चमुखा भगवांस्त्रिमुख इत्यादिसिद्धः, इत्येका कालचक्रविशुद्धिः। तथा द्वितीयोच्यते—**त्रिविधेत्यादि**। इह द्वादशराशयो मकरादयः, तेषां मध्ये मकरकुम्भमीनराशयश्चित्तवज्रस्य तमोरजःसत्त्वभेदेन कृष्णरक्तसितमुखानि **लग्नभेदात् त्रिवर्णा**नीति। एवं मेषवृषमिथुनमुखानि रजःसत्त्वतमोभेदेन रक्तसितकृष्णवर्णानि वाग्वज्रस्येति। कर्कटसिंहकन्यामुखानि सत्त्वतमोरजोभेदेन शुक्लकृष्णरक्तवदनानि कायवज्रस्येति। तुलावृश्चिकधनुर्लग्नमुखानि [2]तमोरजःसत्त्वभेदेन पीतरक्तसितवर्णानि ज्ञानवज्रस्येति। **लग्नार्धाद्बाहुभेदो** भवति त्रिवर्णः। षण्णां द्वयोर्द्वयोर्यथासंख्यं मूलवक्त्रादिना वामदक्षिणयोः। एवं द्वादशास्यश्चतुर्विंशतिकरो भगवानेकः कालचक्रः। अत्र पूर्वोक्तानां देवतानामेकमुखचतुर्मुखादीनां यद्विषमसमालिङ्गनम्, तत्**सन्ध्याङ्गे पूर्वपृष्ठे** पूर्वसन्ध्याया अपरसन्ध्याया मेलापकः, त्रिमुखषड्भुजानां यत्परस्परमालिङ्गनं तन्**मध्यमाङ्गे** मध्याह्नसन्ध्याया [3]अर्धरात्रसन्ध्यायाः। एवं **कायचित्ते** इति पञ्चम्यर्थे सप्तमी कायभावभेदादिति। एवं पूर्वापरसन्ध्या योगिनीतन्त्रालिङ्गनं विषमसमापत्तित एकमुखचतुर्मुखयोरेकमुखाद्यष्टमुखाद्योर्वेति योगतन्त्रे सममुखभुजयोरालिङ्गनं तुल्यदिवानिशाकाले इति नियमः कालविशेषेण। एवम्—

१. भो. 'प्रहर' नास्ति। २. च. तमोऽन्तरजः। ३. च. 'अर्धरात्रसन्ध्यायाः' नास्ति।

शुभाशुभज्ञः कालज्ञः समयज्ञः समयी विभुः ।
सत्त्वेन्द्रियज्ञो वेलज्ञो विमुक्तित्रयकोविदः ॥
(ना० सं० ८.१३)

इति नामसङ्गीत्वां भगवतो नियमः ।

इदानीं क्रियातन्त्राण्युच्यन्ते—[180a] प्रज्ञेत्यादि । इह **प्रज्ञासङ्गो** योगिनीतन्त्रे, **समापत्तिरपि** योगतन्त्रे, पूर्वापरसन्ध्यायोगो मध्याह्नार्धरात्रसंयोग इति सिद्धस्तन्त्रद्वये, **हसिताद्यानि यामाभिसन्धाविति** । इह प्रथमप्रहराभिसन्धौ हसिततन्त्रम्, तृतीयप्रहराभिसन्धौ ईक्षणतन्त्रम्, पञ्चमप्रहरसन्धौ स्तनस्पर्शतन्त्रम्, सप्तमप्रहरसन्धौ पाणिग्रहणतन्त्रम्, एवं चतुर्धा तन्त्रम् । तत्कस्य हेतोः ? इह वायुकृत्स्नानां प्रज्ञाहसितमात्रेण स्पन्दसुखं भवति । तेजःकृत्स्नानामीक्षणेन सुखं भवति । उदककृत्स्नानां स्तनस्पर्शन [सुखं भवति ।] पृथ्वीकृत्स्नानां पाणिग्रहणेन सुखं भवति । [1]एवं षोडश रूपावचराः । अकनिष्ठादिना ब्रह्मकायिकपर्यन्तमेषां विस्तारो वक्ष्यमाणे परमाक्षरज्ञानसिद्धौ वक्तव्य इति । कामावचराणां समापत्तिर्द्वन्द्वयोग इति सिद्धान्तः । सर्वत्रारूपे वीतरागाणां स्थितिः ॥ ४४ ॥

इदानीं कायभावप्रवेश उच्यते—

प्रज्ञाङ्गे रक्तपीते प्रविशति नियतः कालचक्रस्य भावः
प्रज्ञाभावः सिताङ्गे कषणघननिभे वज्रिणो वामपूर्वम् ।
प्रज्ञाभावेन भिन्नं भवति वरतनौ वामपूर्वाङ्गसौम्यं
रौद्रं सव्यापराङ्गं परमजिनपतेर्भावभिन्नं तथैव ॥४५॥

प्रज्ञाङ्ग इत्यादि । इह **प्रज्ञाङ्गे रक्ते** तेजोधातौ **पीते** पृथ्वीधातौ **प्रविशति नियतः कालचक्रस्य भावः** प्रज्ञोपायो ग्राह्यः, यतः समापत्तौ या प्रज्ञा सा उपायभावग्राहिका, यश्चोपायः स प्रज्ञाभावग्राहकः । तेन भावग्रहणेन सुखोत्पत्तिः, तेन कालचक्रस्य श्वेतं तोयधातू रक्ताङ्गेऽन्यङ्गे प्रविशति समरसो भवति । एवं कृष्णः पीताङ्गे पृथिव्यां समरसो वायुर्भवति । एवं दक्षिणे पश्चिमे देवतानामिति । एवं **प्रज्ञाभावः सिताङ्गे** तोयधातौ रक्तभावः प्रविशति । **वज्रिणो वामाङ्गे** देवतानां कृष्णवर्णवायुधातौ पृथ्वीभावः पीतः पूर्वे विशति । एवमूर्ध्वाधो हरितनीलयोः परस्परं संयोगः । एवं **प्रज्ञाभावेन भिन्नं भवति वरतनौ** सर्वसत्त्वानां **वामपूर्वं च सौम्यम्, रौद्रं सव्यापराङ्गं परमजिनपतेर्भावभिन्नं तथैवेति**, ऊर्ध्वं सौम्यमधो रौद्रं सिद्धम् ॥ ४५ ॥

प्रज्ञाभिन्नं जिनस्य प्रवरगणकुलं द्विस्वभावत्वमेति
प्रज्ञाया भर्तृभिन्नं विदिशि च नियतं योगिनीवृन्दमेव ।

---

१. च. एषां ।

युग्मं सव्यावसव्यं रविशशिवपुषाप्येव पूर्वापरं च
कृष्णं पीतं च नीलं हरितमपि तथाकाशपातालसंस्थम् ॥४६॥

एवं [1]**प्रज्ञाभिन्नं जिनस्य प्रवरगणकुलं** [2]शुक्रधातुभूतं तोयवाय्वाकाशलक्षणं कायभेदेन यत्तदेव भावभेदेन रजोधातुर्निभिन्नं पृथ्वीतेजोज्ञानस्वभावं भवतीति द्विस्वभावं प्रवरगणकुलमिति देवतावृन्दं रक्तं शुक्लं च भवति, [3]वामदक्षिणं पीतं कृष्णं च भवति, पूर्वापरमूर्ध्वाधो नीलं श्यामं च भवति। एवं **प्रज्ञाया गणकुलं भर्तृभाव**[4]**भिन्नं विदिशि च नियतं द्विस्वभावत्वमेति।** नैर्ऋत्येशाने श्वेतं रक्तं च भवति, वायव्ये अग्नौ कृष्णं पीतं च भवति द्विस्वभावमिति नियमः। एवमुपायवृन्दं दिशिगतं विदिशिगतं **योगिनीवृन्दं** प्रज्ञावृन्दं लोचनादिकं तारादिकं चेति। एवं **युग्मं सव्यावसव्यं रविशशिवपुषाप्येव पूर्वापरं च कृष्णं पीतं च नीलं हरितमपि तथाऽऽकाशपातालसंस्थं** T 426 देवतागणमिति नियमः ॥ ४६ ॥

प्रज्ञा रक्ताः सितानां शशधरधवला लोहितानां तथैव
पीतानां कृष्णवर्णा वरकनकनिभाश्चासितानां कुलानाम्।
नीलानां विश्ववर्णाः पुनरपि हरितानां च नीलास्तथोक्ता
एवं वै देवतीनां स्वकुलदिशिगता देवता वेदितव्याः ॥४७॥

अतः परकुलालिङ्गनतः **प्रज्ञा रक्ताः सितानामुपायानां** भवति(न्ति), **शशधरधव**(180b)**लाः** प्रज्ञा **लोहितानामुपायानाम्। तथैव पीतानामुपायानां कृष्णवर्णाः** प्रज्ञा **वरकनकनिभाः** पीताः प्रज्ञा**श्चासितानामिति** कृष्णानामुपायानां **कुलानां नीलानां विश्ववर्णा** इति हरिताः प्रज्ञाः। **पुनरपि हरितानामुपायानां नीलाः** प्रज्ञास्**तथोक्ता** इति न्यायः। परकुलालिङ्गनतः क्रियानिष्पत्तिः स्वकुलालिङ्गनेन क्रियासिद्धिर्नास्ति, स्वात्मनि क्रियाविरोधात्। न हि भगजातीयानां धातूनां भगचिन्तया सुखोत्पादः, एवं पुरुषलिङ्गजातीनां वा लिङ्गचिन्तया सुखोत्पादः। अतः **कालचक्रे** स्वाभाः प्रज्ञा न भवन्ति, स्वात्मनि क्रियाविरोधादिति। अथादर्शप्रतिबिम्बधर्मेण स्वाभग्रहणं चित्तस्य तदेव [5]विचार्यते। इहादर्शे पुरुषप्रतिबिम्बं न स्तनकेशवतीसदृशम्, नापि स्त्रीबिम्बं स्तनयोनिरहितम्, तेन [6]स्वाभता नास्ति। तथा अपरोऽपि विरोधः। इह यद्बिम्बस्य वामभुजेषु चिह्नानि तान्यादर्शप्रतिबिम्बस्य दक्षिणभुजेषु गतानि। एवं यद् वाममुखं तद्दक्षिणम्,

---

१. ग. च. प्रज्ञाभावभिन्नं। २. ग. 'शुक्रं' इत्यधिकम्। ३. ग. वामं, भो. Byaṅ (उत्तर)। ४. ग. इतः परं 'ग' मातृका नोपलभ्यते, कानिचन त्रुटितपत्राणि सन्ति तत्र। ५. च. विचार्यंते। अत्रेदमवधातव्यं यदितः परं टिप्पण्यां यत्र च. पाठः स्यात्तत्र मूले भोटानुसारी पाठोऽवगन्तव्यः। ६. भो. Re Śig (केचित्) इत्यधिकम्।

तद्वर्णतापि स्वाभेति न भवति, तेन मण्डलचक्रभावना परकुलालिङ्गनेन [1]कालचक्रन्यायतः। अपरतन्त्रान्तरे [2]पुनः—

येन येन हि भावेन मनः संयुज्यते नृणाम् ।
तेन तन्मयतां याति विश्वरूपो मणिर्यथा ॥
(यो० सं० ११.२)

तेनास्तव्यस्तकरं(रा) वाचो न विचार[3]क्षमा इति। परमार्थतः पुनः शून्यताबिम्बभावनायां रूपबिम्बकल्पना नास्ति, तेन स्वाभास्वाभ इति नास्ति। सर्वाकारतः सर्ववर्णतो ज्ञानज्ञेययोः परमाणुद्रव्यविकल्परहितयोः स्वभावो नास्ति। अतो निःस्वभावभवभावना घटपटशकटसेनादिकानां कार्या, न प्रादेशिकी सकललोकव्यवहाररहितेति सिद्धान्तो माध्यमिको मन्त्रनये तत्त्वपटले न्यायत इति ॥ ४७ ॥

प्रज्ञातन्त्रं हि पूर्वात् पुनरपरमुखादेव योगानुविद्धं
सव्यास्याद् योगतन्त्रं गदति जिनपतिर्वामवक्त्रात् क्रियाद्यम् ।
योगाचारं हि पूर्वात् पुनरपरमुखान्मध्यगं वै समस्तं
सूत्रान्तं सव्यवक्त्राद् गदति सितमुखाच्छुद्धवैभाषिकं च ।।४८।।

ऋग्वेदं पश्चिमास्यादपि गदति यजुर्वामवक्त्राज्जिनेन्द्रः
सव्यास्यात् सामवेदं परमहरिकुलेऽथर्वणं पूर्ववक्त्रात् ।
पूर्वास्यात् कौलतन्त्रं पुनरपरमुखाद् गारुडं भूततन्त्रं
सिद्धान्तं वामवक्त्रादुदयरविनिभाद् विष्णुधर्मं च सव्यात् ।।४९।।

पृष्ठात् सद्यो निवृत्तिः परमसितमुखाद् वामदेवः प्रतिष्ठा
सव्याद् विद्या त्वघोरः पुनरनिलमुखान्मारुतब्रह्मशान्त्यौ (न्ती?)।
शून्यास्यात् शून्य-ईशो त्रिभुवनपतिना स्फारिता लौकिकार्थं
कृत् त्रेता द्वापरं वै कलियुगमपरं पृष्ठवक्त्रादिभेदात् ।।५०।।

एवं वीरक्रमाद्यं रविगमनवशादेव सन्ध्याचतुष्क-
माहारं सव्यवक्त्रात् परममपि भयं स्फारितं पृष्ठवक्त्रात् ।
पूर्वास्यान्मैथुनं वै परमसितमुखात् स्वप्ननिद्रे च राजन्
पृष्ठाद् वैश्यो द्विजः स्यान्नृपतिरपि तथा शूद्रजातिः क्रमेण ।।५१।।

१. च. कालचक्रे। २. भो. 'पुनः' नास्ति। ३. च. क्रम।

पूर्वात् सर्वास्तिवादं गदति जिनपतिः साम्मितीयं च सव्यात्
पृष्ठास्यात् स्थावरीयं पुनरपि च महासांघिकं वामवक्त्रात् ।
मानुष्यं पूर्ववक्त्रात् पुनरपरमुखात् स्फारितास्तिर्यगा वै
सव्यास्याद् भूतदेवाः परमसितमुखान्नारकाश्चासुराश्च ॥५२॥

हृच्चक्रात् पूर्ववक्त्रात् स्फरणमपि भवेन्नाभिचक्रात् परास्यात्
संभोगात् सव्यवक्त्राद् भवति च सहजाद् वामवक्त्रात् समन्तात् ।
चक्राणां वक्त्रमध्यात् स्फरणनिधनता याति भावः शरीरे
त्रैलोक्यं चापि कृत्स्नं खलु जिनजनकस्यास्यभेदैश्च सम्यक् ॥५३॥

श्रीचन्द्राच्चन्द्रकान्ते स्रवति हि सलिलं निर्विकल्पस्वभावात्
तद्वत् सर्वज्ञधर्मः स्रवति जिनपतेः स्कन्धमाश्रित्य लोके ।
धर्मस्तोयं यथैव व्रजति समरसं बीजधात्वाश्रयेण
सत्त्वानां चित्तशुद्धया भवति बहुविधं पूर्वकर्मप्रभावात् ॥५४॥

चिन्ता सर्वार्थकर्तुस्त्रिभुवननिलये नास्ति चिन्तामणेश्च
चित्तस्थं तन्न पश्यन्त्यशुभफलवशात् कर्मणः पापसत्त्वाः ।
दोषश्चिन्तामणेर्न ह्यशुभशुभफलं सर्वसत्त्वः प्रभुङ्क्ते
शुद्धे सत्त्वे जिनेन्द्रः स च भवति नरः किं जिनेनापरेण ॥५५॥

जातो येनाङ्कुरोऽसौ व्रजति स जनको जातभावाद् विनाशं
जातो नष्टस्य तस्य प्रभवति जनको बीजराजस्य भूयः ।
यः पूर्वः सोऽन्यभावान्मृत इति वचनं न स्वरूपेण जातः
शून्याद् येनागतः क्ष्मां व्रजति दशबलस्तेन सौख्यक्षणेन ॥५६॥

सौख्यात् सौख्यानुरक्तः क्षण इह सहजो नान्यभावानुरक्तः
स्कन्धा ये तेन जाताः पुनरपि जनकास्तेऽस्य सौख्यक्षणस्य ।
शुद्धाद्धर्मस्ततोऽन्यः पुनरपि च ततोऽन्यश्च तस्माद्विशुद्धो
बीजान्मूलानि शाखाः कुसुमफलमिवारोपिताच्छुद्धभूम्याम् ॥५७॥

भूवार्यग्निश्च वायू रसपरमरसौ चाणवः षट् प्रकारा
गन्धाद्येकैकहीना विषयविरहिताश्चान्तिमा ज्ञानदृश्याः ।

कामा रूपास्त्वरूपा यमयमशशिनश्चान्तिमो धर्मधातुः
सर्वाकाराः सदा तेऽच्युतसुखसहजाधारभूताः समन्तात् ॥५८॥

अन्योन्यं स्कन्धभूता विषयविषयिणोऽन्योन्यमारास्त्वविद्याः
पञ्चान्योन्यानुरक्ता रसगतिषु गता दुःखसौख्यक्षणस्य ।
सर्वाकाराः समन्तान्न परगुणरताः संस्थिताऽभेदवज्रा
अन्योन्यं क्ष्मादिधातौ पुनरपि च गता मुख्यभावेऽन्यभावाः ॥५९॥

तैश्चर्धि कालचक्रः प्रकटयति महानेकनिर्माणकायै-
र्वज्रज्वालास्फुरद्भिस्त्वसुरसुरनृणां कामधातौ स्थितानाम् ।
संभोगै रूपिणां वै नभसि जिनसुताद्यर्हतां धर्मकायैः
शून्यांशैः शून्यकृत्स्नं त्रिभुवनसकलं वायुभिर्वायुकृत्स्नम् ॥६०॥

तेजोंऽशैर्वह्निकृत्स्नं ह्युदकमपि जगत्स्फारितैश्चोदकांशैः
पृथ्वीकृत्स्नं धरांशैः समुदितविषयैः सर्ववस्तुस्वभावम् ।
एकात्मानं समन्ताद् गगनसममिदं दर्शयेच्छुद्धभूम्या-
मेवं बुद्धस्य कायो भवति न म्रियतेऽप्येकसौख्यस्वभावात् ॥६१॥

पञ्चाकारात् तदेकात् सकलजिनवरैश्चाभिसम्बोधिरेषा
विंशत्याकाररूपा पुनरपि च ततोऽनेकमायास्वरूपा ।
तस्या एकक्षणा स्यात् समसुखफलदा नान्यकर्मस्वभावा
अत्रोपायोऽच्युतो यः क्षण इह सहजो धर्मधातुप्रवेशे ॥६२॥

बुद्धक्षेत्राण्यनन्तान्यपरिमितगुणा धातवश्चाम्बराद्याः
स्थित्युत्पत्ती विनाशस्त्रिविध इति भवः षड्गतौ सर्वसत्त्वाः ।
बुद्धाः क्रोधाः सुराद्याः सकरुणहृदया बोधिसत्त्वाः सभार्या
एतच्चक्रं जिनस्य त्रिभुवननमितस्यैकमेकस्य शम्भोः ॥६३॥

[1]अतोऽष्टचत्वारिंशद्वृत्तमारभ्य त्रयष्षष्टिमं वृत्तं यावत् षोडश वृत्तानि सुबोधानि ॥ ४८–६३ ॥

---

१. भो. ḥDir (अत्र) ।

इदानीं शरीरे दशाकारशुद्धिरुच्यते—

लोमत्वग्रक्तमांसं सरसमपि तथास्थीनि मज्जा च नाड्य-
स्तासु प्राणादिवाता रविशशिगमनं वायुमध्ये समन्तात् ।
विज्ञानं चन्द्रमध्ये विमलमणिरिवालिङ्गितं सर्वभावै-
र्भावाभावाद्वयत्वं परममृतपदं व्यापकानाहतं तत् ॥६४॥

लोमेत्यादि । इह **लोम** केश आकाशधातुः, **त्वग् मांसं** वायुधातुः, **रक्तं** द्विधा तेजोधातुः, स्वेदं मूत्रं तोयधातुः, **अस्थि मज्जा** पृथ्वीधातुः, **नाड्यः** प्राणादयो ज्ञानधातुः । राहुपुच्छं ज्ञानवज्रम्, राहुश्चित्तवज्रम्, **रवि**र्वाग्वज्रम्, **चन्द्रः** कायवज्रम् । एषां चतुर्णां प्राणमध्ये गमनं समन्तात् । **विज्ञानं चन्द्रमध्ये** शुक्रमध्ये, **विमलमणिरिव** स्फटिक इव, **आलिङ्गितं सर्वभावै**रुपधायोगतः । **भावाभावयोरद्वयत्वं** मायोपमं शून्यताविम्बमत्राक्षरसुखं **परममृतपदं व्यापकानाहतं** तदिति नियमः । शरीरे दशाकारशुद्धिः ॥ ६४ ॥

इदानीं दशभूमिभिस्ते[1] धातवः शोध्यन्ते—

लोमाद्याश्चन्द्रमोऽन्ताः सकलतनुगता भूमयो या दशोक्ताः
षड्वर्गा लादयोऽन्याः समसुखफलदा योगिनां सर्वकालम् ।
तस्मादन्वेषणीया गुरुचरणगतैर्योगिभिर्मोक्षहेतो-
र्नान्यो बुद्धोऽस्ति कश्चित्त्वपि तनुविरहाद् व्यापको मोक्षदो यः ॥६५॥

लोमाद्या इति । इह लोम केशाः प्रमुदिता, चर्म मांसं विमला, रक्तं द्विधा प्रभाकरी, रससलिलमर्चिष्मती, अस्थि मज्जा सुदुर्जया, नाडी प्राणोऽभिमुखी, कालाग्नी रागधातुर्दूरङ्गमा, राहुरचला, रविः साधुमती, चन्द्रो धर्ममेघा, रागत(स्त)मोरजःसत्त्वधर्मेण संवृत्यावतारः । एवं **लोमाद्याश्चन्द्रमोऽन्ताः सकलतनुगता** निरावरणगताः । [181a] तेषां दशभूमयस्ता **दशोक्ता या भूमयः**, ताः पुनः **षड्वर्गा लादयो** न्यासमात्रिका उक्ताः । तत्र कवर्गः प्रमुदिता । एवं यथासंख्यं च ट प त स इति षड्वर्गाः, ल व र य ह अल् ओ अर् ए अ ऌ उ ऋ इ अ हः अमिति । एवं विलोमेनापि दीर्घादिवर्गाः प्रज्ञाभूमयः । अमी **समसुखफलदा योगिनां सर्वकालम्** । **तस्मादन्वेषणीया गुरुचरणगतै**रवधूतीचारगतै**र्योगिभिर्मोक्षहेतो**रिति भगवतो नियमः । **नान्यो बुद्धोऽस्ति कश्चिदपि तनुविरहाद् व्यापको मोक्षदो य** इति । इह शरीरधातवो निरावरणा बुद्धत्वदायका मोक्षदाश्चेति ॥ ६५ ॥

सत्त्वा बुद्धा न बुद्धस्त्वपर इह महान् विद्यते लोकधातौ
तेषामाराधनेन त्वपरिमितभवश्छिद्यते निर्विकल्पात् ।

---

१. च. त्रैधातवः ।

द्रोहं कुर्वन् हि योगी व्रजति हि नरकं रौरवाद्यं महान्तं
तस्माच्चित्ते विशुद्धेऽप्यबुधबुधजनानां विरुद्धं न कुर्यात् ॥६६॥

लब्ध्वा सत्त्वप्रसङ्गं भवति नरपते शुद्धमैत्र्यादिचित्तं
यद्वा संसारिणां स्यादकुशलगुणिनां द्वेषरागादिचित्तम् ।
गच्छन्तं गन्तुकामं द्विविधमपि भवेत् सर्वदा बोधिचित्तं
मोक्षप्रस्थानहीनं प्रणिधिविरहितं सर्वदा मारचित्तम् ॥६७॥

माराः कुर्वन्त्यशान्तिं त्रिभुवननिलये बोधिसत्त्वाश्च शान्तिं
मारेन्द्रश्चर्द्धिहीनः परमभयकरश्चर्द्धिमानेकशास्ता ।
माराणां मारबुद्धिः परहृदयगता तायिनां सौख्यबुद्धि-
स्तस्माद् बुद्धानुभावैस्त्रिभुवनसकलं वर्ततेऽनन्तकालम् ॥६८॥

यन्मानं लोकधातोः कथितमपि जिनैस्तन्नृणां जानतां न
बुद्धानां नास्ति मानं सहजतनुवशादेकहस्तं ह्यनेकम् ।
मानं सत्त्वानुरूपं प्रकटयति सदा प्राणिनां कर्मभूमा-
विच्छामानं त्विदं मे यदि वदति सुरा नास्तिकोऽयं वदन्ति ॥६९॥

येनोत्पन्ना जिनेन्द्राः प्रतिदिवसवशान्निर्गता येन गर्भात्
सिद्धा येन क्षणेन क्षरणविरहिता स्पन्दनिःस्पन्दभूताः ।
त्यक्त्वा तद् बुद्धकृत्यं समसुखरहितं भावयेद् योऽन्यशून्यं
बुद्धत्वं तस्य दूरं सहजमपि सुखं कोटिकल्पैरनेकैः ॥७०॥

न द्राक्षा निम्बवृक्षादमृतमपि विषात् पङ्कजं ब्रह्मवृक्षात्
शून्यान्निर्वाणसौख्यं शुभमशुभवशात् सिद्धयः प्राणिघातात् ।
यज्ञात् स्वर्गः पशूनां परमशिवपदं नेन्द्रियाणां निरोधाद्
वेदात् सर्वज्ञभाषाऽक्षरसुखमचलं न क्षराशुद्धचित्तात् ॥७१॥

सत्त्वानां पापचित्तं भवति नरपतेऽधिष्ठितं मारकायैः
पुण्यज्ञानानुरक्तं सुखदमपि सदाधिष्ठितं बोधिसत्त्वैः ।
निर्वाणं यान्ति यस्मात् सुखसमयवशात् क्लेशमारान्निहत्य
तस्मात् कुर्वन्ति माराः प्रतिदिनसमयेऽनेकविघ्नानि तेषाम् ॥७२॥

सेव्याऽऽदौ कर्ममुद्रा जिनसहजसुखस्यास्य वृद्ध्यर्थंहेतो-
स्तस्मादादित्यरूपा तनुमुखचरणोष्णीषसर्वाङ्गपूर्णा ।
विद्युद्दण्डानुरूपाऽच्युतसुखजननी लक्षणाङ्गप्रपूर्णा
वज्रैरुद्भासयन्ती त्रिभवगततनुर्धर्मधातुस्ततः स्यात् ।।७३।।

एता मुद्राश्चतस्रोऽक्षरसुखफलदा योगिना भावनीयाः
सर्वस्मिन् सर्वकालं सुरतरतिगतैर्लोकमार्गप्रयुक्तैः ।
ग्रामारण्यश्मशानेऽशुचिशुचिनिलये वेश्मदेवालये च
वर्णावर्णाभिचारैस्तनुबलसुखदैरन्नपानादिभोगैः ।।७४।।

अतः पञ्चषष्टिवृत्तादपराणि नव वृत्तानि सुबोधानि चतुःसप्तति-पर्यन्तमिति ॥ ६६-७४ ॥

इदानीं शून्यताबिम्बे दृष्टे सति प्राणनिरोधेन योगिनां क्षणलाभ उच्यते—

वातैः संघट्टमानैस्तडिदनलशिखा द्रावयेद् मूर्ध्नि चन्द्रं
यो यो बिन्दुर्द्रुतोऽस्माद् गलहृदयगतो नाभिगुह्ये निरुद्धः ।
बिन्दोः स्पन्दद्रवं यत् कुलिशमणिगतं सन्निरुद्धं ध्वजाग्रे
प्रज्ञाज्ञानक्षणं तद् यदि ददति सुखं बिन्दुमालाच्युतेन ।।७५।।

वातैरित्यादि । प्राणायामेन दशवातानां संघट्टनं भवति । प्राग्बिम्बे दृष्टे सति तैः प्राणापानादिभिर्दशभिः **संघट्टमानैर्नाभिकर्णिकायां** चण्डाली **तडिदनलस्तस्य शिखा** रश्मिः, सा शिखा **मूर्ध्नि** ललाटे **द्रावयेच्चन्द्रमिति** बोधिचित्तं जन्मस्थानीयम् । **यो यो** बोधिचित्त**बिन्दुर्द्रुतोऽस्माद्** ललाटाद् **गले हृदये नाभौ गुह्ये गतो निरुद्धो** भवति, प्राणापानबलेन कायबिन्दुर्गुह्ये निरुद्धः, एवं वाक्चित्तज्ञानबिन्दुर्नाभौ हृदये कण्ठे निरुद्धः, अस्माद् **बिन्दोः स्पन्दद्रवं यदिति** । इह गुह्यगतस्य कायबिन्दोर्ध्वरुद्धस्य यदपरं स्वच्छद्रवं स्पन्दद्रवं तदुच्यते । तत्र **कुलिशमणिगतं सन्निरुद्धं ध्वजाग्रे** लिङ्गमुखे । **प्रज्ञाज्ञानक्षणं** स्पन्दं **तद् यदि ददति सुखं बिन्दुमालाच्युतेन** हेतुना, तदा न कर्ममुद्राज्ञानम् । प्रज्ञाज्ञानमिति सिद्धम् ॥ ७५ ॥

तस्मान्निःस्पन्दसौख्यक्षणमिह सहजं धर्मधातुर्ददाति
प्राणेनाकृष्य सर्वान् रसगतिषु गतान् क्लेशमारान्निहत्य ।
ऋद्धिं सर्वज्ञभूमिं त्रिभुवनगुरुतां योगिनां जन्मनीह
मृत्युं मार्गप्रविष्टो व्रजति यदि तदा तद्ग्रहादन्यजात्या ।।७६।।

तस्मादच्युताद्धेतोर्यन्निष्पन्दसौख्यक्षणमिह धर्मधातुः प्रज्ञापारमिता ददाति। तेन महामुद्रासुखं परमाक्षरं कर्मज्ञानमुद्रासुखं स्पन्दमुपायसुखं क्षरं [1]स्पन्दं बालं [2]प्रौढं चेति। यथा रसो बालो युवा वृद्धो बद्धश्चेति, एवं शुक्रमपि बालं प्रौढं वृद्धं निरुद्धं सर्वावरणक्षयतः। आवरणं मल इति। तदेव बोधिचित्तमूर्ध्वं यदा याति ललाटे तदा यथागतं तथागतं भवति। तच्चित्तं प्राणेनाकृष्य सर्वान् द्वयुतद्वयष्टशतान् रसगतिषु गतान् पृथिव्यादिषण्मण्डलगतान्। एवं क्लेशमारान्निहत्य ऋद्धीः सर्वज्ञस्य द्वादश भूमीर्वक्ष्यमाणाः, त्रिभुवनगुरुतामिति सर्वज्ञता-सर्वाकारज्ञता-मार्गज्ञता-मार्गाकारज्ञतादिविभूतीर्ददाति, योगिनां जन्मनीह वीर्यवताम्। अतः प्राप्तयोगो यदा
T 427 मृत्युं याति मार्गप्रविष्टः सन्, तदा तद्ग्रहेण वासनाबलेन पुनर्मनुष्यजात्या अन्यया सर्वं प्राप्नोति, सप्तजन्मपर्यन्तेनावीर्यवानपि सन् ज्ञानमभावयन्निति नियमः॥ ७६॥

इदानीं बोधिसत्त्वाधिष्ठानोत्पाद उच्यते—

या नैर्गुण्याल्पभावा विषयविरहिता कायमुद्रा द्विधा सा
तस्या रागानुरक्ता गुणनिधिरपरा वाक्स्वरूपा द्विधा च।
कृष्णा श्वेताऽनुरक्ता विषयगुणरता चित्तमुद्रा द्विधा स्याद्
अष्टौ द्वौ पञ्च पञ्च स्फुटमपि खयुगं शून्यवेदं च वर्षम् ॥७७॥

या नैर्गुण्येत्यादि। इह या कुमारी नैर्गुण्या धर्मधातुगुणरहिताऽच्यवनात्, साऽल्पभावा कायधात्व[181b]पूर्णाऽपतितदन्ता एका अष्टवर्षावधिः। ततो द्वितीया पतितदन्ता दशवर्षावधिका। एवं कायमुद्रा अक्षतयोनिः। तदवधेरेकादशवर्षमारभ्य पञ्चदशवर्षं यावद् एका रागानुरक्ता, गुणनिधिरपराऽपरपञ्चवर्षाणि यावद् वाङ्मुद्रा द्विधा स्यात्। एवमष्टौ वर्षाणि द्वौ संवत्सरौ, ततः पञ्च पञ्च वत्सराः। ततो विंशद्वर्षादूर्ध्वमपरं खयुगमिति चत्वारिंशद्वर्षाणि। एवं चित्तमुद्रा एका कृष्णभावानुरक्ता। एवं षष्टिवार्षिका स्त्री। पुनरपरा शून्यवेदमिति चत्वारिंशद्[3] वर्षं यावत् श्वेतभावानुरक्ता वृद्धा जरापलितवती वर्षशतपर्यन्तम्। एवं चित्तमुद्रापि द्विधेति। आसां तिसृणां मध्ये कायमुद्रातिबाला, [4]वाङ्मुद्रातिप्रौढा, चित्तमुद्रातिवृद्धा। एतास्तिस्रो वर्जयित्वा एकादशवार्षिका सर्वलक्षणसंपूर्णा रक्षणीया राजगुरुणा राज्ञा वा अभिषिक्तेन, अन्यैर्वा ईश्वरैरभिषिक्तैः॥ ७७॥

रत्नेशो यावद-स्याज्जिनवरजननी योगिभी रक्षणीया
रत्नेशोद्भूतकाले सकलगुणनिधिं मण्डलं वर्तयित्वा।

---

१. भो. 'स्पन्दं' नास्ति। २. भो. Laṅ Tshoḥo (युवा)। ३. च. शदन्तानि।
४. भो. 'वाङ्मुद्रा' नास्ति।

बुद्धाधिष्ठानमन्त्रैः सृजति समसुखं गुह्यपद्मे समन्त्रं
गुह्ये रक्षां प्रकृत्य कुलिशमणिगतं स्वादयेद् बोधिचित्तम् ॥७८॥

रत्नेशो यावद-स्यात्। अ-स्यादिति न भवति रजो यावद् **रक्षणीया**। **रत्नेशो**-द्भूतकाले सकलगुणनिधिं **मण्डलं वर्तयित्वा** कालचक्रम्, पूर्वं सुशिक्षितां कृत्वा तत्र तामभिषिच्य **बुद्धाधिष्ठानमन्त्रैः** षड्वज्रैर्मञ्जुश्रीसमाधिना तामपि प्रज्ञां निष्पाद्य **सृजति समसुखं** दक्षिणनाडीप्रवाहकाले बोधिचित्तम्, तस्या **गुह्यपद्मे समन्त्रं** कायवाक्चित्तज्ञानमन्त्रसहितं [1]स्फारयेत्। ततस्तस्या **गुह्ये रक्षां प्रकृत्य** षडङ्गैस्ततः स्वकुलिशमणिगतं **बोधिचित्तमास्वादयेत्**। तं योगी तस्या अपि ददाति। तस्याः पद्मग्राह्यं यत्तदनामिकाङ्गुष्ठाभ्यां गृहीत्वा आस्वादयेत् सर्वरक्षार्थमिति, अनेन विधिना ॥ ७८ ॥

तस्मिन् पुत्रो भवेद् यो जिनजनकसुतो मञ्जुवज्रः स एव
प्रज्ञाधिक्यात् कदाचित् प्रभवति दुहिता बुद्धमाता ध्रुवं स्यात्।
तस्मादन्यैस्त्रिपुष्पैः सितकमलधरो जम्भलो वज्रपाणि-
रन्येऽष्टावष्टपुष्पैर्दिशिविदिशिगता महर्द्धिकाः क्रोधराजाः ॥७९॥

तस्मिन्नाधाने यः **पुत्रो भवति मञ्जुवज्रः, स एव प्रज्ञाधिक्यादिति** रज आधिक्याद् यदि **दुहिता भवति**, तदा विश्वमाताधिष्ठानं भवति। तेन **बुद्धमाता ध्रुवं** सेति मञ्जुश्रीविश्वमाताऽधिष्ठानविधिः। **तस्मादन्यैस्त्रिपुष्पैरिति**। इह यदि प्रथमरजसि गर्भो न जातः, तदा पुनः पुनः प्रत्येकरजोदर्शनेन मण्डलं वर्तयित्वाऽपरसमाधिभि-र्बोधिचित्तमुत्सृजेदिति। एवं द्वितीये **सितकमलधर** इति लोकेश्वरनिर्माणं भवति। तृतीये **जम्भल**निर्माणम्, चतुर्थे [2]**वज्रपाणिः** पुत्रविषये। दुहिताविषये पाण्डरावसुधारा-शब्दवज्राधिष्ठानं भवति। ततो**ऽन्ये**[3]**ऽष्टावष्टपुष्पैर्दिशिविदिशिगता महर्द्धिकाः क्रोधराजा** इति।

इह पूर्वंजम्भलाधिष्ठाने उष्णीषसमाधिनोष्णीषाधिष्ठानं भवति। अतिनीलाया वाग्वज्रपाणिस्थाने शुम्भराजो वा रौद्राक्षी वा भवति। ततः पञ्चमे रजसि विघ्नान्त-कोऽनन्तवीर्या, षष्ठे प्रज्ञान्तको जम्भी, सप्तमे पद्मान्तको मानिनी, अष्टमे यमान्तकः स्तम्भीति। ततो नवमे महाबलो मारे(री)ची, दशमेऽचलश्चुन्दा, एकादशे टक्किर्भृकुटी, द्वादशे नीलदण्डो वज्रशृङ्खलेति विदिक्षु। एवं क्रोधसमाधिना क्रोधाधिष्ठानं भवति गर्भस्ये[182a]ति। ततस्त्रयोदशमो [4]रजः पुनः प्रथमो यथा अविद्या-द्यङ्गम् ॥ ७९ ॥

---

१. च. 'स्फारयेत्' नास्ति। २. च. वज्रयोगः। ३. भो. 'अष्टौ' नास्ति।
४. च. सत्त्वः।

तस्मिन् मासे रजो यत् प्रभवति हि पुनर्मञ्जुघोषोद्भवं तद्
विंशद्वर्षाणि यावत् प्रतिरजसि महासात्त्विको बोधिसत्त्वः ।
किञ्चित् सत्त्वांशहीनः प्रभवति च ततः शून्यवेदानि यावद्
विंशद्वर्षाणि यावत् पुनरपि च ततश्चान्यसत्त्वोऽल्पवीर्यः ॥८०॥

तेन तस्मिन् मासे रजो यत् प्रभवति हि पुनर्मञ्जुघोषोद्भवं तद्रजः । एवं तदुपरि यं समाधिमालम्बयित्वा योगी बोधिचित्तं विसर्जयेत्, तदधिष्ठानं गर्भस्य भवति विंशद्वर्षाणि यावत् प्रतिरजसि यदा बोधिसत्त्वो भवति, एको वा द्वौ वा इत्यादि, मातुर्महासात्त्विको भवति । किञ्चित् सत्त्वांशहीनो भवति चत्वारिंशद्वर्षाणि यावन्मातुर्विंशतिवर्षाणि यावत् । पुनरपि च ततश्चान्यसत्त्वोऽल्पवीर्यः । एवमशीतिवर्षाणि मातुः सत्त्वरजस्तमोभेदेन गर्भस्याधिष्ठानम् ॥ ८० ॥

तस्माद् योनौ रजो न प्रतिहतविषयस्तद्विनाशान्न सेकः
किन्तु प्रज्ञाभिषेको जिनपतिवचनैर्नष्टबीजस्य देयः ।
तासां भूतोयतेजोऽनिलगगनगुणान्वेषणीया जिनाङ्गै-
रेषा सत्त्वार्थकर्त्री भवति बहुफला बोधिचित्तस्य सेवा ॥८१॥

तस्माद्योनौ रजो न प्रतिहतगर्भविषयः, तद्विनाशान्न सेकः प्रज्ञाया उपायस्य च बीजाभावे बीजमिति प्ररोहात् यत्किन्तु ऽज्ञाभिषेको जिनपतिवचनैर्नष्टबीजस्य वृद्धस्य देयो यथा भिक्षोः, तथा प्रज्ञायामपि यथा भिक्षुण्याः । एवं विंशद्वार्षिकाः शोभनाः सेकार्थमधिष्ठानार्थं भूधातुर्विंशतिविंशतिवर्षैस्तथैव तोयतेजोऽनिलगगनगुणा वर्षशतं यावज्जिनाङ्गैरन्वेषणीया इति । एषा सत्त्वार्थकर्त्री भवति बहुफला बोधिचित्तस्य सेवा बोधिसत्त्वोत्पादनत इति ॥ ८१ ॥

इदानीममृतपानमुच्यते—

याऽसृक्पानं करोति प्रवरसुरनृणां मक्षिका साऽमृतैका
छर्दिर्गुह्यादिवक्त्रात् कुलिशमणिगतं नाब्जमध्ये प्रविष्टम् ।
विण्मूत्रं रक्तमांसं परमसमरसं छर्दिमध्ये प्रविष्ट-
मेतज्ज्ञानामृतं च त्रिभुवनपतिना देशितं सर्वतन्त्रे ॥८२॥

याऽसृक्पानमित्यादि । इह बाह्ये नेयार्थेन याऽसृक्पानं करोति मक्षिका, सा नीतार्थेनावधूती । या च्यवनकाले रजोधातुं पिबति प्रवरसुरनृणां सा मक्षिकाऽमृता, एकाऽवधूती, रुद्धेत्यर्थः । या बाह्ये भुक्तच्छर्दिः सा नीतार्थेन छर्दिर्बोधिचित्तम्, गुह्यादिवक्त्रात् कुलिशमणिगतं न बाह्ये प्रज्ञाब्जमध्ये प्रविष्टम् । एवमच्युतं विण्मूत्रं

रक्तमांसं परमसमरसम् अश्रावं छर्दिमध्ये प्रविष्टं निरुद्धं निरावरणं भवति। एतज्ज्ञानामृतं स्यादच्युतं पञ्चामृतं त्रिभुवन[1]पतिना देशितं सर्वतन्त्रे, न बाह्ये विष्ठादिकं सिद्धये देशितमित्यमृतनियमः ॥ ८२ ॥

इदानीं बाह्ये समयरक्षणभक्षणमुच्यते—

प्रज्ञाधर्मोदये यत् पतितमपि सुखं रक्षणीयं प्रयत्नाद्
यः कश्चित्तेन सत्त्वो भवति जिनकुले बोधिसत्त्वः स एव ।
तस्मात् तं भक्षयन्ति प्रतिदिनसमये राक्षसा मारभूताः
प्रज्ञापुष्पेण युक्तं शिवसुखफलदं भक्षितं देशयन्ति ॥८३॥

प्रज्ञेत्यादि। इह समापत्तौ भावनां कुर्वतो योगिनोऽयन्त्रितं बोधिचित्तं [2]यदि प्रज्ञाधर्मोदये पतति, तदा प्रज्ञाधर्मोदये पतितमपि सुखं रक्षणीयं प्रयत्नात्। तत्कस्य हेतोः? यः कश्चित्तेन बोधिचित्तेन समाधिनोत्सृष्टेन भवति, स जिनकुले बोधिसत्त्व एव सुगतवंशप्रवर्धनो यस्मात् तस्मात् तं बोधिचित्तं सौगतानां रक्षारहितमसमाहितानां प्रतिदिनसमये भक्षयन्ति [3]मारभूता राक्षसाः शुक्राहारिणः, योगिव्यपदेशेन नरा अपि प्रज्ञापुष्पेण युक्तं शिवसुखफलदं भक्षितं देशयन्ति। अन्येषां बालजनानां नरक- T 428
गमनायेति ॥ ८३ ॥

नाकट्यं वज्रमब्जात् परमसुखगतं संकुचं नैव यावद्
बुद्धाधिष्ठानमेवं प्रभवति हि यदा कामसिद्धिस्तदा वै ।
वज्राब्जाभ्यां प्रविश्य स्वकुलिशहृदये ज्ञानचक्रं प्रविष्टं
चक्राकारं करोति ह्युभयतनुमिमां रश्मिभिः पूरयित्वा ॥८४॥

ततो बौद्धमन्त्रिणा नाकट्यं वज्रमब्जाद् यावन्न संकोचो भवति, बुद्धाधिष्ठानमेवं प्रभवति हि यदा कामसिद्धिस्तदा वै वज्रमार्गेण उपायहृदये प्रविश्य पद्ममार्गेण प्रज्ञाहृदये प्रविश्य [4]स्वकुलिशहृदये देवताचक्रं प्रविष्टं चक्राकारं करोत्युभयतनुमिमां रश्मिभिः पूरयित्वेति ॥८४॥

एषा सिद्धिर्यदि स्यान्नहि कुलिशमणौ संस्थितं भक्षणीयं
प्रज्ञाधर्मोदयस्थे सकलजिनकुलं स्थापयेद् रक्षणार्थम् ।

---

१. भो. bLa Ma Yis (गुरुणा)। २. च. 'यदि प्रज्ञाधर्मोदये पतति तदा' नास्ति, गृहीतस्तु भोटानुसारी। ३. भो. bDud Kyi Pho Ña (मारदूताः)। ४. भो. Rañ Rañ (स्वस्व)।

प्रज्ञायुक्ते त्वथैके पुनरपि वचनं प्रोच्यते बुद्धकायो
यः कश्चिच्चास्य नाशं ह्यभिलषति शठो मार्यते वज्रिणा सः ॥८५॥

एषा सिद्धिर्नहि स्याद्यदि, तदा कुलिशमणौ संस्थितं बोधिचित्तमनामाङ्गुष्ठाभ्यां गृहीत्वा **भक्षणीयम्**। एवं प्रज्ञायाः[182b] पद्मबाह्ये आगतं तदेव द्वाभ्यामपि भक्षणीयम्। **प्रज्ञाधर्मोदयस्थे** पुनः सकलजिनकुलं स्थापयेद्रक्षणार्थं षड्वज्राणि ललाटादिषु हृदयादिषु षडङ्गमिति। **प्रज्ञायुक्त** इति रजोयुक्ते, **अथैके** बोधिचित्ते रक्षिते महत्पुण्यं भवति। **पुनरपि वचनं प्रोच्यते बुद्धकाय** इदं बोधिचित्तम्। **यः कश्चिद्** मारकायिकोऽस्य **नाशमभिलषति शठो मार्यते वज्रिणा स** हेरुकेणेति बोधिचित्तस्य समयरक्षणभक्षणनियमः ॥८५॥

ये प्रोक्ताऽनेकमन्त्रास्त्रिभुवनपतिना क्रूरकर्मस्वभावा-
स्ते सर्वे मारपक्षक्षयभयजनकाः प्राणिनां नो कदाचित्।
कर्तारो ये स्मृतीनां रणविषयरता मारकान्येऽपि तीर्थ्या-
स्तेषां ते योजनीयाः परमजिनसुतैः प्राणिनां रक्षणार्थम् ॥८६॥

इह मन्त्रनये **ये प्रोक्ता अनेकमन्त्रास्त्रिभुवनपतिना क्रूरकर्मस्वभावाः, ते सर्वे मारपक्षक्षयभयजनकाः प्राणिनां नो कदाचित्**। अत्र माराः **कर्तारो ये स्मृतीनां रणविषयरता मारका अन्येऽपि तीर्थिकाः, तेषां ते योजनीयाः परमजिनसुतैः प्राणिनां रक्षणार्थम्**। तेषां पक्ष इति वेदधर्मादिकः, तस्य धर्मस्य क्षयभयहेतोः, न तेषां प्राणहानये ॥८६॥

डाकिन्यो वज्रपूर्वाः पशुजननिधनेऽध्येषणीया न विद्भिः
सत्त्वानां रक्षणार्थं त्रिभुवनपतिना स्फारिता लोकधातौ।
तस्मात् ता रक्षयन्ति प्रतिदिनसमये साधकं द्वेषयन्ति
साध्यः कर्मप्रभावाद् व्रजति हि मरणं साधकस्यैष मारः ॥८७॥

इह योगिनीतन्त्रे या **वज्रडाकिन्यस्ताः पशुजना**नामज्ञानिनां मारणार्थं **नाध्येषणीया** बौद्धैर्**विद्वद्भिः**। कुतः? यतस्ताः **सत्त्वानां रक्षणार्थं त्रिभुवन**[1]**पतिना स्फारिता लोकधातौ। तस्मात् ता रक्षयन्ति** लोकान्। परमकारुणिकाः **साधकं द्वेषयन्ति** लोकविसंवादकम्, अथ मारणादिकर्मणि कृते सति यदि **साध्यः कर्मप्रभावाद् व्रजति हि मरणम्**, तदा **साधकस्यैष मारो** मया हत इत्यहङ्कारतः साधको नरकं याति क्षुद्रकर्मणेति निर्ममो निरहङ्कारः क्षुद्रकर्म न करोति, यथा आत्मानं तथा पश्यति सत्त्वान् ॥८७॥

---

१. भो. bLa Mas (गुरुणा)।

पुंसां चित्तं समन्तादशुभफलवशात् क्षुद्रविद्यानुरक्तं
विद्येयं मे करोति त्रिभुवनसकलं वश्यमेकक्षणेन ।
इत्याशालुब्धचित्तः प्रविशति नरकं ज्ञानदानं विहाय
पृष्ठे द्रव्यं स्वभार्या भवति परवशाऽहो कुधर्मप्रवृत्तिः ॥८८॥

इह संसारिणां **पुंसां चित्तं समन्तादशुभफलवशात् क्षुद्रविद्यानुरक्तम् । विद्येयं मे करोति त्रिभुवनसकलं वश्यमेकक्षणेनेत्याशालुब्धचित्तः प्रविशति नरकं ज्ञानदानं विहाय** मरणमुपगतः । **पृष्ठे** मरणमुपगते सति परवशं **द्रव्यम्, स्वभार्या परवशा भवति** अन्यासक्ता । **अहो** संसारिणां **कुधर्मप्रवृत्तिः** ॥ ८८ ॥

[1]इति मूलतन्त्रानुसारिण्यां लघुकालचक्रतन्त्रराजटीकायां
द्वादशसाहस्रिकायां विमलप्रभायां
योगिनीतन्त्रादिस्फरणमहोद्देशः
प्रथमो ज्ञानपटलः ॥

(२) चतुःकायाविशुद्धिनिर्णयमहोद्देशः

न सन्नासन्न सदसन्न चाप्यनुभयात्मकम् ।
चतुष्कोटिविनिर्मुक्तं नत्वा कायं महासुखम् ॥

उद्धृतं मञ्जुवज्रेण आदिबुद्धान्निरन्वयात् ।
लक्षणं बुद्धकायानां चतुर्णां तद्वितन्यते ॥

न प्रज्ञा नाप्युपायः सहजतनुरियं धर्मकायो बभूव
प्रज्ञोपायस्वरूपः खलु विगततमो ज्ञानविज्ञानभेदात् ।
सोऽयं संभोगकायः प्रतिरवक इवानेकसत्त्वार्थकर्ता
सत्त्वानां पाकहेतोर्भवति पुनरसौ बुद्धनिर्माणकायः ॥८९॥

न [2]**प्रज्ञे**त्यादि । इह प्रज्ञा पञ्चदशकलात्मकः शुक्लपक्षः, कृष्णपक्षश्चन्द्रकलाहानिरुपायः । एवं शुक्लो रात्रिः कृष्णो दिवा । अतः सहजकायो **न प्रज्ञा नाप्युपायः सहजतनुरियं** बुद्धानाम् । एवं न सच्छुक्लपक्षः, नासत्कलाभावः कृष्णः, न सदसद् अनयोः परस्परविरोधतो मेलापको नास्ति । न चाप्यनुभयात्मकमिति न चाभ्यां शुक्लकृष्णपक्षाभ्यां विना तत् सहजसुखम् । एवं चतुष्कोटिपरिशुद्धा षोडशी कला शून्यता-

---

१. भो. 'इति' नास्ति । २. च. प्रज्ञेत्यादिना ।

धर्मिणी सहजतनुरुच्यते, निःष्यन्दलक्षणात्तुर्याक्षयतो योगिनाम्। एवं नपुंसकमिति सिद्धम्। इह सहजतनुः स्वार्थसम्पत् परार्थसम्पदे **धर्मकायो** [183a] **बभूव** सुषुप्तक्षयतः। **स च प्रज्ञोपायस्वरूपः खलु विगततमो ज्ञानविज्ञानभेदादिति**। इह ज्ञानं ग्राहकचित्तं योगिनः, विज्ञानं परचित्तज्ञानं ग्राह्यं ज्ञेयलक्षणम्। एवं ग्राहकचित्तं प्रज्ञा कल्पनारहितत्वात्, योगिनामुपायो [1]ग्राह्यचित्तं [2]परिकल्पितं करुणालक्षणम्। तेन ग्राहकग्राह्यभेदेन प्रज्ञोपायस्वरूपः परार्थकर्ता धर्मकायः। स च सहजाद् बभूवेति। एवं निष्यन्दो नाभौ सहजः, धर्मचक्रे हृदये विपाकः, **सोऽयं** धर्मकायः **संभोगकायः** परार्थसम्पदे **प्रतिरवक इवानेकसत्त्वार्थकर्ता**। इह दिव्यचक्षुषा यदतीतानागतं रूपं दृष्टं प्रतिबिम्बाकारं स्वच्छम्, तस्मिन् शब्दो यो निश्चरति स प्रतिशब्दः सम्भोगकायः प्रज्ञोपायस्वरूपः। दिव्यश्रोत्रेण [3]दिव्यविज्ञानं ग्राहकम्, प्रतिशब्दो ग्राह्यः। तेनातीतानागतकालसंख्यां जानाति—अमुककल्पेऽमुकयुगेऽमुकवर्षेऽमुकमासेऽमुकपक्षेऽमुकदिनादिकेऽमुको भूतः, अमुको भविष्यतीति। तेन सत्त्वा वैनेया इति स्वप्नावस्थाक्षयतः कण्ठे पुरुषकारः सम्भोगकाय ऊर्ध्वरेतसः। **सत्त्वानां पाकहेतोर्भवति पुनरसौ** सम्भोगकायो निर्माणकायो भवति प्रज्ञोपायात्मकः। एकोऽपि सत्त्वानां नानानिर्माणदर्शनतोऽनेकः। एवमेकानेकयोर्योगो विवृत्या प्रज्ञोपायः, संवृत्या एकानेकविरोधः। स च जाग्रदवस्थाक्षयतो ललाटे वैमल्यो **निर्माणकायः** "अशेषरूपसन्दर्शी रत्नकेतुर्महामणिः" (ना० सं० ९.२४) इति। एवमेकः सहजः, स एव धर्मः सम्भोगो निर्माणश्चेति चतुर्धेति ॥८९॥

एकोऽसौ वज्रसत्त्वः प्रलयघननिभो हेरुको वै बभूव
रौद्राणां पाचनार्थं स च समयजिनो मोहितानां सुखार्थम्।
रत्नेशो दुःखितानां स च कमलधरो रागिणां रागहेतो-
र्विघ्नानां ध्वंसनार्थं त्वसिकरकमलोऽमोघसिद्धिर्बभूव ॥९०॥

स एव पूर्वोक्त **एकोऽसौ वज्रसत्त्वः प्रलयघननिभः** कृष्णो **हेरुको वै बभूव**। अच्युतधर्मेणान्यत् तद्विज्ञानं हेरुकः। **स च रौद्राणां पाचनार्थं** वज्रसत्त्वस्फरणमिति। स च वज्रसत्त्वो **मोहितानां** पाचनार्थं **समयजिनो** वैरोचनो बभूव, अन्यत् तद्रूपम्। स च
T 429 **रत्नेशो दुःखितानां** दानार्थं रत्नसम्भवो बभूव, अच्युतधर्मेणान्या सा वेदना सर्वदुःखापहन्त्रीति। **स च कमलधरो रागिणां रागहेतो**रमिताभो बभूव, अच्युतधर्मेणान्या सा संज्ञा या अच्युतसुखदात्रीति। स च **विघ्नानां ध्वंसनार्थं त्वसिकरकमलोऽमोघसिद्धिर्बभूव**, अच्युतधर्मेणान्ये ते संस्काराः, ये निरावरणं चित्तं कुर्वन्ति, माराद्यावरणं विध्वंसयन्तीति पञ्चबुद्धविशुद्धा इति ॥ ९० ॥

---

१. च. 'ग्राह्य' नास्ति। २. भो. rTags Pa gSan Te (परकल्पितं)।
३. भो. 'दिव्य' नास्ति।

इदानीं पञ्चधातव उच्यन्ते—

द्वेषाद् या विश्वमाता प्रलयशिखिनिभा डाकिनी सा बभूव
मोहात् सा लोचनाख्या परमकरुणया मामकी मानहेतोः।
रागात् सा पाण्डराख्या सकलगुणनिधिस्तारिणी चेर्ष्यया सा
एतौ द्वौ विश्वरूपौ विषयविषयिणोऽन्ये च सर्वे बभूवुः ॥९१॥

द्वेषादित्यादि। इह प्राकृतद्वेषक्षयान्महा**द्वेषाद् या** प्रज्ञापारमिता शून्यता सर्वाकारा **विश्वमाता**, **सा** वज्रधात्वीश्वरी वज्र**डाकिनी बभूव**। एवं मोहक्षयान्महा**मोहाल्लोचना परमकरुणया मामकी** मानक्षयान्महा**मानहेतोर्बभूव**। रागक्षयान्महा**रागात् पाण्डरा सा सकलगुणनिधिस्तारिणी** सा **ईर्ष्याक्षयान्महेर्ष्यातो बभूव**। एवमन्य आकाशधातुः, अन्यः पृथ्वीधातुः, अन्यस्तोयधातुः, अन्य[183b)स्तेजोधातुः, अन्यो वायुधातुरिति धातुलक्षणं निरावरणबिम्बतोऽच्युत[1]सुखत इति सिद्धम्। **एतौ द्वौ विश्वरूपौ** कालचक्रविश्वमातरौ प्रज्ञोपायौ एकलोलीभूतौ। **विषयविषयिणोऽन्ये सर्वे बभूवुः**, गन्धादयोऽन्ये ते विषयाः श्रोत्राद्याः, अन्ये ते विषयिणः, अन्ये वाक्पाण्यादयः, अन्ये कर्मेन्द्रियक्रियादयः। एवं—

सर्वतः पाणिपादं तत् सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति॥

(भ० गी०. १३.१३)

वज्रसत्त्व इति। एवं—

आत्मवित् परवित् सर्वः सार्वीयो ह्यग्रपुद्गलः।
लोकोपमामतिक्रान्तो ज्ञेयो ज्ञानाधिपः परः॥ इति।

(ना० सं० १०.१३)

तथा—

सिद्धार्थः सिद्धसंकल्पः सर्वसंकल्पवर्जितः।
निर्विकल्पोऽक्षयो धातुर्धर्मधातुः परोऽव्ययः॥

(ना० सं० ६.१५)

[इति] नामसङ्गीत्यां ज्ञानकायलक्षणनियमः॥ ९१॥

---

१. भो. bDen Pa Las (सत्यतः)।

इदानीं बुद्धानां सत्त्वाशयवशेन नानाविहरणमुच्यते—

पञ्चस्कन्धस्वभावैर्विहरति कृपया वज्रयोषिद्भगेषु
सत्त्वानां पाचनार्थं त्वविहितनियमानामपुण्यार्जितानाम् ।
शुद्धावासादिके यद्विहरति भगवान् श्रावकाणां निमित्त-
मेवंकारे स्थितिर्या परमनियमिनामुत्तरे स्थापनार्थम् ॥९२॥

पञ्चेत्यादि । इह यत् क्लेशाद्यावरणरहितानां गर्भावक्रमणं **पञ्चस्कन्धग्रहणं वज्रयोषिद्भगेषु** स्त्रीगर्भे सम्भवाय विहरणम्, तत् **कृपया अविहितनियमानां** प्राकृतजनाना**मपुण्यार्जितानां पाचनाय** । तथाह—

वज्रकायशरीराणां बुद्धानां यदनित्यता ।
कदलीगर्भतुल्येषु का चिन्ताऽन्येषु जन्तुषु ॥

इत्यादिनाऽनित्यवादिनां पाचनाय। पुनः **शुद्धावासादिके** यदुत्पादः, स **श्रावकाणां** देवत्वं गतानामहङ्कारविनाशाय । इदं देवत्वं च्यवनकाले महद् दुःखमिति देशनया तेषां पाचनम् । **एवंकारे स्थितिर्या** शून्यतायां सा **परमनियमिनां** सुभूत्यादीनां **मैत्रेयप्रभृतीनामुत्तरे** सम्यक्सम्बुद्धत्वे **स्थापनाय** चतुर्थकायदेशनयेति । शून्यस्वभावः शून्यता, इहातीतानागतं ज्ञेयं शून्यम्, तस्य दर्शनं भावः शून्यता, गम्भीरोदारा अतीतानागताभावाद् गम्भीरा, अतीतानागतदर्शनादुदारा । तथाह—

शून्यतावादी वृषभो गम्भीरोदारगर्जनः ।
धर्मशङ्खो महाशब्दो धर्मगण्डी महारणः ॥

अप्रतिष्ठितनिर्वाणो दशदिग्धर्मदुन्दुभिः ।
अरूपो रूपवानग्र्यो नानारूपमनो[1]मयः ॥

सर्वरूपावभासश्रीरशेषप्रतिबिम्बधृक् ॥

(ना० सं० ८.२-३)

इति **नामसङ्गीत्यां** भगवतो नियमः ॥ ९२ ॥

सत्त्वानां पाकहेतोस्त्रिविधविहरणं कायवाक्चित्तभेदै-
र्बाह्याध्यात्मं परं च प्रभवति नियतं वज्रिणः सर्वकालम् ।
बाह्ये नानाप्रदेशे भवति वरतनौ प्राणवायोः प्रचारो
भूम्यादौ मण्डले यत् प्रभवति च विभोर्वज्रयोषिद्भगे तत् ॥९३॥

---

१. भो. sKyes (भवः) ।

शब्दादौ यच्च चित्तं व्रजति न विषये चापरं तद्वदेव
एवंकारे स्थितिर्या परमसुखपदे कायवाक्चित्तवेगः ।
एको वज्री त्रिभेदो विषयविषयिभिश्चावृतो धातुभिश्च
त्र्यध्वस्त्रिस्थानवासी त्रिभवमपि गतोऽनेकसत्त्वार्थहेतोः ॥९४॥

तन्त्रेष्वेवं मया यत् श्रुतमिति वचनं तन्मया ज्ञातमेवं
वज्री चन्द्रद्रवाद्यः शिरसि गलहृदब्जे च नाभौ च गुह्ये ।
वज्रस्त्रीणां भगे तत् परकमलगतो बिन्दुमोक्षत्रयेण
बुद्धक्षेत्रे प्रविष्टस्तदिह स भगवान् योगिभिर्वेदितव्यः ॥९५॥

एकं पश्यन्त्यनेकं प्रणिधिगुणवशाच्छान्तरागादिभावै-
श्चक्रस्थं पूर्वंजन्मस्वहृदयजनितैर्वासनाया बलेन ।
एकार्थानन्तभाषा प्रविशति हृदये प्राणिनां स्वस्वभावै-
श्चक्रस्थः पिण्डपातं व्रजति विहरितुं स्था(ता)यिनां पुण्यहेतोः ॥९६॥

तिर्यक्प्रेतासुराणामुरगसुरनृणाम् आर्यभोटादिकानां
भूतेष्यद्वर्तमानं त्रिविधमपि सदा सत्यधर्मं ब्रुवन्ती ।
मार्गे संस्थापयन्ती त्रिभवमविकलं स्वस्वभाषान्तरेण
एषा सर्वज्ञभाषा समसुखफलदा देवभाषा न च स्यात् ॥९७॥

बुद्धानामप्यगम्या त्वपरिमितगुणा बुद्धनिर्माणमाया
आत्मानं दर्शयन्ती त्रिभुवननिलये शक्रजालं यथैव ।
नानाभावैर्विभिन्ना सजिनसुरनृणां स्वस्वचित्ते प्रविष्टा
एषामुत्पन्नधर्मा पयसि नभ इव भ्रान्तिदोत्पत्तिरत्र ॥९८॥

सर्वाकारं ह्यगम्यं विषयविषयिणां कायवज्रं जिनस्य
वाग्वज्रं सर्वसत्त्वस्वहृदयरुतकैर्धर्मसंपादकं च ।
सत्त्वानां चित्स्वभावं सकलभुविगतं वज्रिणश्चित्तवज्रं
भावानां ग्राहकं यद् विमलमणिरिव ज्ञानवज्रं तदेव ॥९९॥

दानाद्याः षट् चतस्रः समसुखफलदाः शक्तयस्ता दशोक्ता-
स्तासां शुद्धा उपायाः परमदशविधाः पूर्णचित्ता घटान्ते ।

मारक्लेशक्षया वै मदन इति हरो वज्रवृन्द्रं द्रुमाद्याः
षण्मुद्राः शून्यषट्कं त्रिभुवनजनको ज्ञानविज्ञानमेकम् ॥१००॥

चक्रं स्वच्छं समन्तात् त्रिभव इति सुखं रत्नमस्यैव रागः
पद्मं क्लेशक्षयोऽसिः कुलिशमपि महाज्ञानकायो ह्यभेद्यः ।
छेदोऽज्ञानस्य कर्त्री त्विह[1] षडपि कुलान्येभिरुत्पादिता ये
तेऽप्येवं वेदितव्याः खमिव समरसाः स्कन्धधात्विन्द्रियाद्याः ॥१०१॥

यस्मिन् वै जातिरूपं व्रजति निधनतां तन्महारूपमुक्तं
यस्यां संसारदुःखं व्रजति निधनतां सा महावेदनोक्ता ।
यस्यां संसारसंज्ञा व्रजति निधनतां सा महावज्रसंज्ञा
यस्मिन् संसारवृद्धिर्व्रजति निधनतां वज्रसंस्कार एव ॥१०२॥

यस्मिन् [2]जाग्राद्यवस्था व्रजति निधनतां तच्च विज्ञानमुक्तं
यस्मिन्नज्ञानभावो व्रजति निधनतां तन्मुनेर्ज्ञानमेव ।
एते वैरोचनाद्याः परमजिनवराः षड्विधाः षट्कुलानि
अन्ये षड्धातुभेदा अवनिशिखिपयोमारुताकाशशान्ताः ॥१०३॥

यस्यां मोहः समस्तो व्रजति निधनतां लोचना सा धरित्री
यस्यां मानः समस्तो व्रजति निधनतां मामकी साऽम्भ एव ।
यस्यां रागः समस्तो व्रजति निधनतां पाण्डरा सा हविः स्याद्
यस्यामीर्ष्या समस्ता व्रजति निधनतां तारिणी साऽनिलश्च ॥१०४॥

यस्यां द्वेषः समस्तो व्रजति निधनतां वज्रधात्वीश्वरी खं
यस्यां मात्सर्यसर्वं व्रजति निधनतां विश्वमाताक्षरं सा ।
दृष्टादृष्टं हि रूपं मनसि नभसि वै पश्यते यः स चक्षु-
र्दूराच्छब्दं शृणोति प्रकटमिव महाश्रोत्रमेतज्जिनस्य ॥१०५॥

सर्वं गृह्णाति गन्धं परमसुखकरं सा सुनासा विभोश्च
सा जिह्वा या स्वचन्द्रामृतमपि च सदा स्वादते सौख्यदं च ।

---

१. मु. वर । २. मु. भो. gÑid (निद्रा) ।

वज्रस्पर्शं समन्तादपहरति सदा वज्रकायेन्द्रियं तत्
प्रज्ञोपायप्रसङ्गाद् विशति समसुखे यो मनः सोऽस्य धर्मः ॥१०६॥

एते षड्भेदभिन्ना विषयविषयिणो बोधिसत्त्वाः सभार्या
विश्वे रूपादयोऽमी जिनदरविषयाः षट्प्रकाराः समन्तात् ।
स्वच्छाऽजाता निरुद्धाः परमसुखकराऽनाविला ज्ञानगम्या
नान्यो ग्राह्यस्त्रिधातौ तु सकलजगतश्चेन्द्रियद्वारगम्याः ॥१०७॥

अतो द्वानवतिवृत्तादूर्ध्वं पञ्चदशवृत्तानि सुबोधानि ॥ ९३-१०७ ॥

ततो वृत्तैकं गूढम्, तदेव वितन्यते—

ज्ञानाकृष्टिं करोत्यत्र पुनरतिबलस्तत्प्रवेशं च जम्भः
स्तम्भस्तद्बन्धनं वै परमसुखवशान्मानकस्तोषणं च ।
चक्रस्य ज्ञानचक्रे समरसकरणं वज्रवेगः करोति
एवं वै वज्रदेव्यः प्रकटितनियता योगिनीतन्त्रकाये ॥१०८॥

ज्ञानेत्यादि। इह किल मण्डलचक्रभावनायां समयसत्त्वं निष्पाद्य ततो ज्ञानचक्रस्याकर्षणं प्रवेशनं बन्धनं तोषणं समरसं कर्तव्यं मन्त्रिणा। जः हूं वं होरिति वज्राङ्कुशेनाकर्षणं वज्रेण प्रवेशनं वज्रपाशेन बन्धनं घण्टया तोषणं पूर्वदक्षिणपश्चिमोत्तरद्वारेषु स्थितैः क्रोधराजैर्योगिनीतन्त्रे वज्रडाकिनीभिः सर्वत्र [1]कीर्तितम्। तदेवाध्यात्मन्युच्यते—**ज्ञानाकृष्टिं करोत्यत्र** शरीरे **पुनरतिबल** इति। युवतीप्रसङ्गे ज्ञानसत्त्वः शुक्रं सन्ध्याभाषान्तरेण तस्याकर्षणं प्राणादिवायुवृन्द[2]भेदं करोत्यूर्ध्वे शिरसि परिपूर्णं करोति बोधिचित्तमित्यर्थः। **तत्प्रवेशं च जम्भ** इति तेजस्तद्द्रावयित्वा द्रवस्य बिन्दुरूपस्य कण्ठे हृदये नाभौ गुह्यकमले प्रवे[184a]शं करोतीति। **स्तम्भ** इति पृथ्वीधातुस्तस्य बिन्दुरूपस्य बन्धनं करोत्यागतस्यातिवेगेन गन्तुं न ददाति **परमसुखवशा**दिति। **मानकस्तो**यधातुबिन्दोः स्वच्छद्रवं गुह्यकमले वज्रमणौ गतं स्पन्दमित्युच्यते, तस्याच्युतसुखवशात्तोयधातुस्**तोषणं** शरीरे शैत्यं करोतीत्यर्थः। पुनस्तत्स्थानादूर्ध्वगमनार्थं तदेव [3]निःष्यन्दसुखं लोचनादयः प्रबोधयन्ति वज्रगीतिकाभिः पूर्वोक्ताभिः। ततो नाभौ [4]निष्यन्दनार्थं लोचना चोदयति, हृदये मामकी विपाकार्थम्, कण्ठे पाण्डरा पुरुषकारार्थम्, शिरसि तारा वैमल्यार्थम्। एवमादिभिरुत्थापितो महासुखो वैमल्यं गतः सर्वस्कन्धधात्वायतनादिकं निरावरणं करोति। ततः सर्वज्ञपदं योगिनां भवति, न कल्पितमण्डले योगिनीगीतेनोत्थापित इति नीतार्थः सर्वतन्त्रेषु संवृत्या विवृत्या चेति ॥ १०८ ॥

---

१. च. 'कीर्तितम्' नास्ति। २. च. 'भेदं' नास्ति। ३.४. च. निःस्पन्द।

मारणां ताडनं वै त्रिभुवननिलये नीलदण्डः करोति
बन्धं क्रोधोऽचलश्च प्रलयरविनिभः कीलनं चातिवीर्यः ।
टक्किस्तद्वीर्यनाशं त्ववनितलगतं स्तम्भनं स्तम्भ एव
उष्णीषश्चर्द्धिनाशं प्रकटितनियताः पूर्ववत् क्रोधदेव्यः ॥१०९॥

प्रेतानां पाचनार्थं स्फुरणमपि ततश्चर्चिकादेर्बभूव
इन्द्रादीनां सुराणां दिशि विदिशि तथा रक्षणार्थं जनानाम् ।
नागानां पाचनार्थं फणिकुलसकलं स्फारितं वज्रिणा च
दैत्यानां पाचनार्थं स्फुरणमपि महाश्वानवक्त्रादिकानाम् ॥११०॥

ततो **नीलदण्डादयः** कर्मेन्द्रियक्रियामाकाशे गमनागमनादिकं कुर्वन्ति **मारादिकानां ताडनादिकं** कृत्वेति सर्वमारकायिकान् चतुर्वैशारद्यबलेन निर्जित्य धर्मचक्रं प्रवर्तयति तथागत इति पूर्वोक्तलक्षण इति नियमः ॥ १०९-११० ॥

अन्यद् यत्किञ्चिदस्ति स्फरणमपि विभोर्मण्डले भूतजान्तं
सर्वं सत्त्वार्थहेतोर्वरविविधगुणं वेदितव्यं स्वकाये ।
एवं तन्त्राणि मन्त्रा विविधकुलगता योगिनीयोगभेदात्
सेकोऽस्मिन् द्विप्रकारोऽपि शिशुगुणवशाल्लोकलोकोत्तरश्च ॥१११॥

एवं निरावरणसुखाद**न्यद्यत्किञ्चिदस्ति स्फरणमपि विभोर्मण्डले भूतजान्तं** सार्धत्रिकोटिपर्यन्तमध्यात्मनि लोमपर्यन्तं निरावरणं धातुसमूहं **सर्वसत्त्वार्थमेतद्**
T 430 **वरविविधगुणं वेदितव्यं स्वकाये । एवं तन्त्राणि मन्त्रा विविधकुलगताः, योगिनीयोग-**
भेदाल्लौकिकसिद्धय इति । **सेकोऽस्मिन्** कालचक्रे **द्विधाऽपि शिशुगुणवशाद्** लौकिकः, **अनुत्तरो**ऽनुत्तरमार्गकाङ्क्षिणां गुणवशादिति नियमः ॥ १११ ॥

इदानीं लौकिकलोकोत्तराभिषेकार्थमुच्यते—

प्रज्ञाया या स्तनस्पृष्टिरपरममृतास्वादनालिङ्गनं यत्
प्रज्ञासङ्गे चतुर्थक्षणममृतगतं बोधिचित्तद्रुते यत् ।
तत् सर्वं लौकिकं वै परमकरुणया दर्शितं मार्गहेतोः
सेको लोकोत्तरो यः परमजिनपतेर्दिव्यमुद्रानुषङ्गः ॥११२॥

प्रज्ञेत्यादिना । इह यद्धसितेक्षणपाण्यासिद्वन्द्व इति चतुर्विधोऽभिषेक आचार्य-गुह्य-प्रज्ञा-ज्ञानम्, "चतुर्थं [तत्] पुनस्तथा" (गु० स० १८.११२)[इति]शब्देनोक्तः **समाजादौ**

कलशादिकः, स सेकः संकेतमात्रं संवृत्याचार्यकरणाय, न तत्त्वम्, "सिक्त्वा तत्त्वं प्रकाशयेत्" इति वचनाच्चतुर्विधः सेकस्तत्त्वं न भवति हसितेक्षणपाण्यासिद्वन्द्वयोग इति। इह तत्त्वं निर्द्वन्द्वं कर्ममुद्राहेतुनोत्पन्नमद्वयज्ञानं न भवति विचार्यमाणम्। इह यदि प्रज्ञाया हेतुनोत्पन्नं सुखमुपायस्य प्रज्ञाज्ञानम्, तदा उपायहेतुनोत्पन्नं प्रज्ञाया उपायज्ञानं भवति सिद्धये। एवं चेद् द्वे ज्ञाने भवतः, उभयज्ञानभेदात्। अतोऽद्वयं न भवति। अद्वयाभावाद् बुद्धत्वाभाव इति। अथ प्रज्ञाया ज्ञानं [1]प्रज्ञाज्ञानम्, तथापि दोषः, उपायस्य ज्ञानमुपायज्ञानमिति सिद्धम्। तस्मादुपायस्य सुखं क्षरं द्विधा बालं प्रौढम्, प्रज्ञायाः स्पन्दसुखं वृद्धम्, तयोर्द्वयोर्यदा निःस्पन्दं भवति महामुद्राद्वारेण [2]तद् द्वीन्द्रियरहितमद्वयम्। अतः प्रज्ञायाः स्तनस्पर्शनादिकं लौकिकं दर्शितं मार्गावतारणार्थम्। सेको लोकोत्तरो यः परमजिनपतेर्दिव्यमुद्रानुषङ्गः स एवोच्यते ॥ ११२ ॥

चित्तस्याभासमात्रा स्वमनसि जनिताऽऽदर्शबिम्बोपमा वै
योगीन्द्रैः सेवनीया सकलजिनसुतैः सेविता या च बुद्धैः।
सा ज्ञानार्चिः प्रवृद्धा दहति सविषयं मारवृन्दं समस्तं
रागादींश्चापि काये ददति समसुखं योगिनां वर्षयोगात् ॥११३॥

चित्तस्याभासमात्रेत्यादि वृत्तं सुबोधम् ॥ ११३ ॥

प्रज्ञा ज्ञानं च चित्तं भवति दशविधस्तस्य चाभास एव
सेकोऽस्मिन् मज्जनं यद्विमलशशिनिभादर्शबिम्बोपमा(मं) वै।
तस्मान्निर्वाणसौख्याच्युतमपि सहजं चाक्षरं वै चतुर्थं
यस्यैतद् बुद्धवक्त्रं हृदयमुखगतं वर्तते श्रीगुरुः सः ॥११४॥

प्रज्ञा ज्ञानमित्यादि वितन्यते[184b]। इह **प्रज्ञा च ज्ञानं च** यथासंख्यं ग्राहकचित्तम्, तस्य च ग्राहकचित्तस्य यो **दशविधो** धूमादिको ग्राह्य **आदर्शाभासः** प्रतिसेनावत्, स एव ज्ञानं ग्राह्यचित्तमित्यर्थः। एवमादर्शे स्वचक्षुःप्रतिबिम्बमिव स्वचक्षुर्ग्राह्यमिति प्रज्ञा च ज्ञानं च। **सेकोऽस्मिन् मज्जनं यदिति**। इह ग्राह्यचित्ते ग्राहकचित्तस्य यस्तस्मिन् प्रवेशो बाह्यविषयेष्वप्रवृत्तिः, प्रत्याहारो ध्यानं प्राणायामो धारणा मज्जनमित्युच्यते। षडङ्गैस्**तस्मान्**मज्जना**न्निर्वाणसौख्याच्युतमपि सहजं चाक्षरं वै चतुर्थं** सुखं बालप्रौढस्पन्दानां परं लोकोपमामतिक्रान्तं त्रैलोक्याचारमुक्तमित्यर्थः। हसितेक्षणस्पर्शालिङ्गनपाण्यासिद्वन्द्वरहितं कर्ममुद्राज्ञानमुद्राहेतुरहितं शून्यतासर्वाकारप्रतिभासलक्षणमिति। इदं **बुद्धवक्त्रं** [3]ज्ञानवक्त्रं **यस्या**चार्यस्य **हृदयगतं** भावितं स्वानुभवं(भूतं) **मुखगतं** शिष्येभ्यः प्रतिपादनाय **वर्तते** सर्वकालम्, **स श्रीगुरु**र्वज्रधर इत्यर्थः। नान्ये द्वीन्द्रियसुखावबोद्धार इति ॥ ११४ ॥

---

१. च. 'प्रज्ञाज्ञानम्' नास्ति। २. भो. Deḥi Tshe (तदा)। ३. च. 'ज्ञानवक्त्रं' नास्ति।

इदानीमस्य स्वचित्तस्याभासे प्रवेश उच्यते—

आकाशासक्तचित्तैरनिमिषनयनैर्वज्रमार्गं प्रविष्टैः
शून्याद् धूमो मरीचिः प्रकटविमलखद्योत एव प्रदीपः ।
ज्वाला चन्द्रार्कवज्राण्यपि परमकला दृश्यते बिन्दुकश्च
तन्मध्ये बुद्धबिम्बं विषयविरहितानेकसंभोगकायम् ॥११५॥

आकाशेत्यादिना । इह मन्त्रयाने पारमितायाने द्विधा योगाभ्यासः—आकाशे योगाभ्यासः, अभ्यवकाशे च । य आकाशे योगमाप्स्यते स रात्रौ निश्छिद्रगृहेऽन्धकारे आकाशासक्तचित्तो धूमादिकं निमित्तं पश्यत्यनिमिषनयनो वज्रमार्गं प्रविष्ट इति । इह मध्यमाप्राणप्रविष्टः शून्यादेवाकाशासक्तचित्तैरनिमिषनयनैर्वज्रमार्गं प्रविष्टैः शून्याद्धूमो मरीचिः प्रकटविमलखद्योत एव प्रदीप इति निशायोगेन पश्यति । ततो निरभ्रं गगनं पश्यति । ततो गगनात् पुनर्दिवायोगे—"गगनोद्भवः स्वयम्भूः प्रज्ञाज्ञानानलो महान्" (ना० सं० ६.२०) इति ज्वाला दृश्यते निरभ्रे गगने । एवम्—"वैरोचनो महादीप्तिर्ज्ञानज्योतिर्विरोचनः" (ना० सं० ६.२१) चन्द्राभासः, जगत्प्रदीपः सूर्यः, ज्ञानोल्को वज्रराहुः, महातेजाः प्रभास्वरो विद्युत्परकलेति, विद्याराजोऽग्रमन्त्रेशो बिन्दुक इति । [1]एवं दशधा निमित्तं समाजादौ रात्रियोगेन, नामसङ्गीत्यां दिवायोगेन भगवतोक्तम् । ततो "मन्त्रराजो महार्थकृत्" (ना० सं० ६.२२) इति सर्वाकारं पटघटादिकं बिम्बदर्शनमिति । तन्मध्ये बिन्दुमध्ये बुद्धबिम्बं विषय[2]विरहितं द्रव्याभावात् कल्पनाभावादनेकसम्भोगकायम् । ततो बिम्बयोगेनानाहतध्वनिर्यः, स एव श्रूयते । एवं निर्माणकायो रूपावभासतः, शब्दावभासतः सम्भोग इत्यर्थः ॥११५॥

आकाशं स्तब्धदृष्ट्या जलधररहितं योगिनाऽऽलोकनीयं
यावद्बै कृष्णरेखा स्फुरदमलकरा दृश्यते कालनाड्याम् ।
तस्यां सर्वज्ञबिम्बं पयसि रविरिवानाविलं विश्ववर्णं
सर्वाकारं स्वचित्तं विषयविरहितं नापरं चित्तमेव ॥११६॥

अत्र दिवायोग आकाशं स्तब्धदृष्ट्या जलधररहितं योगिनाऽऽलोकनीयं पूर्वाह्णे अपराह्णे रवेः पृष्ठं दत्त्वा । अन्यथा रविरश्मिभिस्तिमिरं भवति, तेन तद्बाधात् । प्रतिदिनमवलोकनीयं यावद्बिन्दुमध्ये कृष्णरेखा बालप्रमाणा स्फुरदमलकरा दृश्यते । कालनाड्यामवधूत्यामन्तर्भूतं सर्वज्ञबिम्बं त्रैधातुकमशेषं पयसि रविरिवानाविलं विश्ववर्णं सर्वाकारं स्वचित्तं विषयविरहितं नापरं चित्तमे[185a]व परचित्तं न भवति,

१. घ. 'एवं' नास्ति । २. च. रहितं ।

परचित्तज्ञानाभावात्। इह प्रथमं स्वचित्ताभासो मांसचक्षुषा, तथागतस्य दृश्यते, दिव्यादिचक्षुषा परचित्तज्ञानं दृश्यते, तेन **धर्मसंग्रहे** उक्तानि पञ्चचक्षूंषि भगवत इति। एवं क्रमान्मांसचक्षुर्दिव्यचक्षुर्बुद्धचक्षुःप्रज्ञाचक्षुर्ज्ञानचक्षुर्भावनाबलेन भविष्यति। ततोऽदृष्टं न किञ्चिदस्ति सर्वज्ञस्येति ॥११६॥

दृष्टे बिम्बे प्रकुर्यात् प्रतिदिनसमये प्राणवायोर्निरोधं
यावद्वै भ्राम्यमाणं स्वतनुपरिवृतं दृश्यते रश्मिचक्रम्।
षण्मासैः स्पर्शहीनं व्रजति समसुखं मार्गचित्तं यतीनां
रागारागान्तगाद्यं क्षणमपि च विभोर्वर्धते श्वाससंख्यम् ॥११७॥

ततो **दृष्टे बिम्बे प्रकुर्यात् प्रतिदिनसमये प्राणवायोर्निरोधम्** इति कुम्भकम्, **यावद्वै भ्राम्यमाणं स्वतनुपरिवृतं दृश्यते रश्मिचक्रं** पूर्वोक्तबिम्बादध्यात्मनि। ततः **षण्मासैः स्पर्शहीनं** द्वीन्द्रियद्वन्द्वरहितं **व्रजति समसुखम्** अक्षरसुखं **मार्गचित्तं** शून्यताबिम्बचित्तं **यतीनाम्** आदिकर्मिकब्रह्मचारिणाम्। तत एकक्षणाभिसम्बोधिलक्षणं **रागारागान्तगाद्यं** T 431
क्षणमिति। राग इति शुक्लपक्षस्तस्यान्तगं षोडशीकलालक्षणम्। अरागः कृष्णस्तस्यादिगं कृष्णपक्षेन प्रविष्टमभिसम्बोधिकाललक्षणम्, तदेव **क्षणमपि वर्धते श्वाससंख्यं** द्वययुतद्वयष्टशतसंख्यमिति। गुह्ये वज्रमण्यग्राद्वर्धते षट्त्रिंशच्छतैः क्षणैः प्राणांस्तत्संख्यान्मारयित्वा गुह्यपद्मं प्राप्नोति, तेन भूमिद्वयं भवति। एवं नाभौ हृदये कण्ठे ललाटे चतस्रः षडष्टदशभूमयो भवन्ति। उष्णीषे द्वादश सर्वप्राणानां क्षयेणेति ॥११७॥

ओड्रा ज्वालान्तराले विरमसहजयोर्ज्ञानविज्ञानमध्ये
निद्रा घूर्माभिसन्धौ कुलिशकमलयोर्यत्सुखं द्वन्द्वयोगे।
वृद्धि तस्य प्रकुर्याद् गुरुनियमवशाद् वर्धते नात्र चित्रं
हत्वा क्लेशांश्च मारान् विशति जिनपतिं वर्षयोगात् सुयोगी ॥११८॥

अत **ओड्रा ज्वालान्तराले** आगतं गुह्ये, **विरमसहजयोर्मध्ये** नाभौ, **निद्राघूर्माभिसन्धौ** हृदये, **ज्ञानविज्ञानमध्ये** कण्ठे, कायवाक्चित्तज्ञानबिन्दुरूपेण यल्ललाटादागतं **द्वन्द्वयोगे सुखम्, वृद्धि तस्य** सुखस्य शुक्रस्य **प्रकुर्याद्** ऊर्ध्वगमनम्। **गुरुनियमवशात्** पूर्वोक्तात् प्राणनिरोधाद्**वर्धते नात्र चित्रं** ललाटं यावत्। एवं **हत्वा क्लेशांश्च मारान् विशति जिनपतिं** वामदक्षिणगतान् प्राणान् मारयित्वा विशति जिनपतिं शून्यताबिम्बम्। **वर्षयोगात् सुयोगी** अवधूत्यां स्थितः। ततः कुम्भकेन महासुखक्षणमुत्पाद्य विवर्धयेत् सुखमिति नियमः ॥११८॥

इदानीं बिम्बलक्षणमुच्यते—

भूम्याकारो दृढो न द्रुतसलिलवपुर्नं द्रवस्त्वद्रवत्वाद्
वह्न्याकारो न वह्निश्चलपवनतनुर्निश्चलो योऽनिलो न।

शून्याकारोऽपि दृश्यः सितहरितमहाविश्ववर्णो न वर्णः
सर्वाकारोऽप्यदृश्यः स्वहृदयकलुषक्लेशमारप्रभावात् ॥११९॥

भूम्येत्यादिना। इह शून्यप्रतिभासो[1]ऽद्रव्यो भूम्याकारो दृश्यते न दृढः, द्रुताकारो मरीचिको जलवन्न च जलमद्रवत्वात्। एवं वह्न्याकारो न वह्निः। चलपवनतनुरद्रवत्वान्निश्चलो यः सोऽनिलो न। अद्रव्याच्छून्याकारः, तदपि दृश्यते मायानगर इव सितादिवर्णयुक्तोऽप्यद्रव्यत्वान्न च वर्णः। सर्वाकारोऽपि स सर्वदा बालानामदृश्यः। तत् कस्य हेतोः? क्लेशमारप्रभावाद् वामदक्षिणनाडीप्राणप्रचारादिति नियमः॥ ११९॥

इदानीं स्थानं नाडीगमनायोच्यते—

नादो बिन्दुः कला ज्ञानममृतपदगाः शृङ्खलाबद्धनाडचः
प्राणापानत्रिमार्गाः सकुलिशकमलं वज्रमेवाब्जयुक्तम्।
वाय्वोः संघट्टमध्ये विषय विषयिणां निर्गमश्च प्रवेशो
धूमादीनां निमित्तग्रहणमपि च यत् सर्वमेतद् रहस्यम् ॥१२०॥

नाद इत्यादिना। इह नादो हृदये चित्तबिन्दुः सुषुप्तावस्थाजनकः। बिन्दुरिति ललाटे कायबिन्दुर्जाग्रदवस्थाजनक इति। कलेति कण्ठे वाग्बिन्दुः स्वप्नजनकः। ज्ञानमिति नाभौ ज्ञानबिन्दुस्तुर्याजनक इति। अमृतपदगाः शृङ्खलाबद्धनाड्य इति। अमृतपदं ललाटम्, तत्र गता अमृतपदगता ललनारस[185b]नाऽवधूत्यः, ताश्च(तासु) शृङ्खलाबद्धे(न्धे)न नाभिहृदयमध्ये त्रिपथं कृत्वा पुनरवधूतीमध्ये हृत्कर्णिकां भेदयित्वा व्रजति ललना रसनासव्यवामदलप्रचारेण, ततो हृदयकण्ठमध्ये त्रिपथं कृत्वा पुनर्व्रजति, एवं ललाटकण्ठयोर्मध्ये त्रिपथमुष्णीषललाटयोर्मध्ये त्रिपथम्, एवं चतुस्त्रिपथान् कृत्वा ललना वामनासारन्ध्रेण "व्रजति परपदं द्वादशान्तं कलान्तम्" (का० तं० २.४७) अध्यात्मपटलोक्तम्। रसना दक्षिणेन अवधूती यौगपद्येन रन्ध्रद्वयेन व्रजति। एवमधो नाभिगुह्यमध्ये त्रिपथं कृत्वा विण्मूत्रनाडी वामदक्षिणेन गत्वा शङ्खिनी[2]मध्ये गुह्यकमले गुह्यकम[3]लाधो विण्नाडीमध्यगता वामेन लिङ्गे भगे वा मूत्रनाडीगता दक्षिणे शुक्रनाडीगतेति नाडिकासंचारः पूर्वोक्ताध्यात्मपटले। एवं प्राणापानत्रिमार्गा इति ऊर्ध्वं वामदक्षिणमध्यमार्गाः प्राणस्य, अधो विण्मूत्र[4]शुक्रमार्गा अपानस्य। सकुलिशकमलं स्त्रीणां योनिः स्पन्दत्वात्। समणिवज्रं क्षरत्वादेवाब्जयुक्तं विकाशत इति। वाय्वोः संघट्टमध्ये नाभौ प्राणापानयोः संघट्टमध्ये। विषय इत्यविभक्तिकं पदम्। विषयेषु विषयिणां चक्षुरादीनां [5]नाडीनां निर्गमः प्रवेशश्च नाभौ। स एव पूर्वोक्तः। धूमादीनां

१. च. अदृश्यो। २. च. अन्ये। ३. च. लोर्ध्वं। ४. च. गुह्य। ५. भो. 'नाडीनां' नास्ति।

निमित्तग्रहणमवधूतीद्वारेण, अपिशब्दात् तदेव नाभौ। **सर्वमेतद्रहस्यं** गोपनीयं बालजनानामिति नियमः॥ १२०॥

इदानीं योगोपसंहार उच्यते—

मध्ये प्राणप्रवेशः सरविशशिगतेर्बन्धनं सव्यवामे
चित्तं मुद्राप्रसङ्गे परमसुखगतं वज्रसम्बोधनं च।
पद्मे वज्रध्वनिर्वा स्वकरसलिलजोल्लालनं सौख्यहेतो-
र्बीजात्यागः ससौख्यो मरणभयहरः श्रीगुरोर्वक्त्रमेतत्॥१२१॥

मध्ये प्राणेत्यादिना। इह प्रथमं योगिना **मध्ये प्राणप्रवेशः** कर्तव्योऽवधूत्याम्, येन निमित्तं पश्यति, [1]इत्येकं **श्रीगुरोर्बुद्धस्य** कायवज्रं **वक्त्रमुच्यते**। तस्मात् **सरविणा** दक्षिणगतिना सार्धं **शशिगतेर्वामनाडीगतेः, बन्धनं** प्राणस्येति नियमः, प्राणायामो द्वितीयं वाग्वज्रम्। **चित्तं मुद्राप्रसङ्गे** बिम्बेऽनुरक्तं बोधिचित्तं द्रुतं तृतीयं चित्तवक्त्रं **परमसुखगतं वज्रसम्बोधनं च**। अथ बिम्बद्वारेणानन्दं न भवति, तदा **पद्मे वज्रध्वनिर्वा** शनकैः कर्तव्यः। अथ स्त्री न लभ्यते, तदा **स्वकरमलेनोल्लालनं** कर्तव्यं **सौख्यवृद्धिहेतोः**, न क्षरणहेतोः। एवं **बीजात्यागः ससौख्यो** भवति **मरणभयहरः** श्रीगुरोर्वक्त्रं चतुर्थं ज्ञानवज्र**मेत**दिति योगाभ्यास इति नियमः॥१२१॥

इदानीं [2]पञ्चमण्डलक्षय उच्यते—

पृथ्वी तोयं प्रयाति ज्वलनमपि जलं पावको मारुतं च
वायुः शून्यं च शून्यं व्रजति दशविधं वै निमित्तं निमित्तम्।
सर्वाकारं प्रयात्यक्षरपरमसुखानाहतं ज्ञानकायं
ज्ञानादृद्धिश्च सिद्धिर्भवति नरपते जन्मनीहैव पुंसाम्॥१२२॥

[3]पृथ्वीत्यादिना। इह यदा योगी अनिमिषनयनो भवति क्रोधदृष्ट्या शून्ये आरोपितचित्तः, तदा वामे वा दक्षिणे वा **पृथ्वी**त्युपलक्षणम्, यदा दक्षिणे पृथ्वीप्रवाहकाले योगी भावनां करोति, तदायं विधिर्न पुनर्वामनाडीप्रवाहकाले आकाशमण्डलादिक्रमतः। तेन वामे वा दक्षिणे वा यन्मण्डलं वहति प्राणस्तद्धर्मित्वात्तदेव मण्डलमुच्यते। तेन दक्षिणनाड्यां पृथ्वीमण्डले प्राणोऽब्मण्डलं **याति**। एवं ज्ञानमण्डलं यावद् वामनाड्यामाकाशादिना याति। एवं **शून्यं व्रजति दशविधं निमित्तं** धूमादि[186a]कं **निमित्तं** सर्वाकारं बिम्बं व्रजति, बिम्बादक्षरसुखं **व्रजति**, तदेव

१. भो. ḥDi Ni (इदं)। २. भो. 'पञ्च' नास्ति। ३. च. भूमिरित्या।

ज्ञानं प्रज्ञापारमितायाः। **ज्ञानादृद्धिश्चाकाशगमनादिका, सिद्धिश्च त्रैधातुकेश्वरत्वं**[1] **भवति नरपते जन्मनीहैव पुंसामि**ति मार्गप्रवेशनियमः ॥ १२२॥

इदानीं चतुष्कायानां षोडशप्रभेदा उच्यन्ते—

कामा निर्माणकायः प्रभवति नियतस्तस्य वागेव पूर्णा
ज्वाला निर्माणचित्तं परमसुखकरं ज्ञानमेवास्य चोड्रा।
आनन्दो भोगकायः स परमविरमानन्दमस्य क्रमेण
वाक्चित्तं ज्ञानवज्रं भवति हि सहजानन्दमेवास्य शम्भोः ॥१२३॥

T 432 कामेत्यादि। इह समुदयसत्याद् यत्रैकः कायस्तत्रान्येऽपि वाक्चित्तादय इति। **कामा** इति कायानन्दस्य निरोधान्निर्माणकायो बुद्धस्य **भवति नियत** इति। **तस्य** निर्माण[2]कायस्य यो वागानन्दक्षयः, **वागेव सा पूर्णा। ज्वाला निर्माणचित्तं** ज्वाला इति चित्तानन्दनिरोधः। **परमसुखकरं ज्ञानवज्रं** निर्माणस्य। **ओड्रा** ज्ञानानन्दनिरोधः। एवं निर्माणचतुष्टयं तथा सम्भोगचतुष्टयम्। **आनन्दो भोगकायः** कायपरमानन्दनिरोधः, **स परमविरमानन्दमस्य क्रमेणे**ति। परमानन्दः संभोगवाक् वाक्परमानन्दक्षयतः। विरमानन्दः संभोगचित्तं चित्तपरमानन्दनिरोधः। एवं **वाक्चित्तं ज्ञानवज्रं सहजानन्दः** सम्भोगस्य(शम्भोरस्य) ज्ञानपरमानन्दनिरोध इति सम्भोगस्ततो धर्मचतुष्टयम् ॥ १२३ ॥

कम्पा वै धर्मकायस्त्रिभुवननमितस्तस्य वागुद्भवः स्याद्
घूर्मा वै धर्मचित्तं भवभयमथनं ज्ञानमस्यैव निद्रा।
वर्णो वै शुद्धकायः स्वररहितकलाबिन्दुनादाः क्रमेण
वाक्चित्तं ज्ञानवज्रं त्रिविधभवगतं शुद्धकायस्य शम्भोः ॥१२४॥

कम्पा वै कायविरमानन्दः, तस्य निरोधो **धर्मकायस्त्रिभुवननमितस्तस्य** धर्मस्य **वागुद्भवः स्यादि**ति वाग्विरमानन्दनिरोधः। **घूर्मा वै** चित्तविरमानन्दनिरोधः, **धर्मचित्तं भवभयमथनं** धर्म**ज्ञानमस्य निद्रा** ज्ञानविरमानन्दस्य निरोध इति। **वर्णो वै** इति कायसहजानन्दः, तस्य निरोधः **शुद्धकायः। स्वररहितकलाबिन्दुनादाः क्रमेणे**ति। कलेति वाक्सहजानन्दनिरोधः शुद्धवाक्। बिन्दुरिति चित्तसहजानन्दनिरोधः शुद्धचित्तम्। नाद इति ज्ञानसहजानन्दनिरोधः शुद्धज्ञानम्। एवं **ज्ञानवज्रं त्रिविधभवगतं शुद्धकायस्य शम्भोः** वज्रसत्त्वस्य षोडशानन्दभेदभिन्नम्, "षोडशाकारतत्त्ववित्" (ना० सं० ९.१५) इति वचनात्। षोडशाकारं तत्त्वं महाक्षरसुखं विवृत्या, संवृत्या द्वादशाकारं बुद्धानां संसारिणां च। तेन द्वादशाङ्गनिरोधेन प्राणक्षयेण "वज्रसूर्यो महालोकः" (ना० सं० ८.३३), "द्वादशाकारसत्यार्थः" (ना० सं० ९.१५) रजोनिरो-

१. भो. Sańs rGyas Ňid Du (बुद्धत्वं) इत्यधिकम्। २. भो. 'काय' नास्ति।

धतः। षोडशकलाशुक्रनिरोधेन "वज्रेन्दुविमलप्रभः" (ना० सं० ८.३३), "षोडशाकारतत्त्ववित्" (ना० सं० ९.१५) इति भगवान् कालचक्रः सिद्धः ॥ १२४ ॥

इदानीं जाग्रदादिनिरोध उच्यते—

जाग्रत्स्वप्नस्वरूपं पुनरपरमिदं सुप्ततुर्यस्वभावं
कायस्थं श्वासलीनं विचरति विषयान् निश्चलं चित्तलीनम् ।
ज्ञानस्थं स्त्रीप्रसङ्गात् क्षणमपि च भवेद् बोधिचित्ते द्रुते च
निर्माणादेः क्रमेण प्रभवति नियतं चित्तवज्रं चतुर्धा ॥१२५॥

जाग्रदित्यादि। इह संसारिणां **कायस्थम्** इति शिरसि स्थितं बोधिचित्तं जाग्रल्लक्षणं भवति, **श्वासलीनमिति** कण्ठे गतं **स्वप्नस्वरूपं** भवति, उभयावस्थायां [1]**विचरति विषयान्। निश्चलं चित्तलीनं** हृदयगतं **पुनरपरमिदं** तृतीयं चित्तं सुषुप्तस्वभावम्। **ज्ञानस्थमिति** नाभिस्थं **तुर्यस्वभावं स्त्रीप्रसङ्गाच्च्युतक्षणलक्षणम्।** बोधिचित्ते द्रुते सति तदेव चित्तं चतुर्विधं निरुद्धं निर्माणसम्भोगधर्मसहजकायलक्षणं बुद्धानां भवति। तेन **निर्माणादेः क्रमेण प्रभवति नियतं चित्तवज्रं चतुर्धेति** ॥१२५॥

एवं चित्तं चतुर्धा त्रिविधभवगतं प्राणिनां बिन्दुमध्ये
योगीन्द्रै रक्षणीयं समसुखफलदं व्यापकं मोक्षहेतोः ।
बिन्दोर्मोक्षे क्व मोक्षो गतपरमसुखे योगिनां जन्मबीजे
तस्मात् संसारसौख्यक्षण इह यतिभिः सर्वदा वर्जनीयः ॥१२६॥

एवं जाग्रदादिलक्षणं **चित्तं** संसारिणां **चतुर्धा त्रिविधभवगतानां बिन्दुमध्ये** बोधिचित्ताधारे बोधिचित्तम्, [186b] तदेव [2]**योगीन्द्रै रक्षणीयं समसुखफलदमक्षरसुखफलदं व्यापकं मोक्षहेतोः। बिन्दुमोक्षे** सत्याधारे पतिते **क्व मोक्ष** आधेयस्य बोधिचित्तस्य **गतपरमसुखे** आधारे **योगिनां जन्मबीजे। तस्मात् संसारसौख्यक्षण इह यतिभिः सर्वदा वर्जनीयः।** इह क्षरः (क्षणः ?) क्षरः स्पन्द इति वर्जनीय इति भगवतो नियमः। ऊर्ध्वे कर्तव्यं योगिना निःष्यन्दादिना यावद् वैमल्यं भवति। यथा आगतं तथा गतमित्यक्षरसुखोत्पादनियमोऽपरश्लोके एकत्वमित्यादिना परमाक्षरज्ञानसिद्धौ विस्तरेण वक्तव्यं(व्यः)। तेनात्र परिच्छेदः॥ १२६ ॥

इति मूलतन्त्रानुसारिण्यां लघुकालचक्रतन्त्रराजटीकायां
द्वादशसाहस्रिकायां विमलप्रभायां
चतुःकायादिशुद्धिनिर्णयमहोद्देशो
ज्ञानपटले द्वितीयः ॥

---

१. भो. rNam Par dPyod Do (विचारयति)। २. च. भोगीन्द्रैः।

३. परमाक्षरज्ञानसिद्धिर्नाम महोद्देशः

नमः श्रीवज्रसत्वाय । नमो महामुद्रायै परमाक्षरसुखाय । नमो गुरुबुद्धबोधिसत्त्वेभ्यः । नमः क्रोधराजवज्रडाकवज्रडाकिनीभ्यः ।

इदानीमक्षरोद्भवसहजकायस्यालिकालिपद्मचन्द्रादित्यासनहूंकारपरिणतचिह्नोत्पादरूपवर्णभुजसंस्थानपरिकल्पनाधर्मप्रतिवेधो हि यस्मात्तस्माद्भगवतः परमाक्षरज्ञानसिद्धिरुच्यते—

एकत्वं ह्यादिकाद्योः शशिदिनकरयोरासनं वज्रिणो न
हूंकारेणैव चिह्नं परिणतमपरं नेष्यते वर्णरूपम् ।
उत्पन्नस्याक्षरेण क्षरनिधनगतस्यास्य दिव्येन्द्रियस्य
सर्वाकारस्य बिन्दोः परमजिनपतेर्विश्वमायाधरस्य ॥१२७॥

एकत्वमित्यादिना । एकत्वं ह्यादिकाद्योरिति । [1]आदिरकारादिस्वरसमूहो हकारश्चन्द्रः, प्रत्येकं स्वरश्च । ककारादिर्व्यञ्जनसमूहः, क्षकारः सूर्यः प्रत्येकं व्यञ्जनं च । तयोरादिकाद्योः **शशिदिनकरयोर्**हकारक्षकारयोर्वा । अकार[2]पकारयोरेकत्वमेकीकरण**मासनमाधारः** । [3]पकारव्यञ्जनात्मकं पद्मम् । अकारात्मकं चन्द्रमण्डलं हकारात्मकं वा, रेफात्मकं सूर्यमण्डलं क्षकारात्मकं वा । आधेयस्य **वज्रिणः**, वज्रमभेद्यस्य परमाक्षरसुख[स्य] ज्ञानमच्युतं तदस्मिन्नस्तीति वज्री, तस्य वज्रिण आधेयस्य । **नेति** निरस्तमासनमाधार इति । तथा **हूंकारपरिणतं** वज्रचिह्नम्, [4]वज्रचिह्नपरिणतो देवताकाय(यो) वर्णभुजसंस्थानपरिकल्पनाधर्म आधेयलक्षणो **नेष्यते** । कस्मात् ? अभिनिवेशलक्षणात् क्षरस्वभावात् । इहाकारादयः स्वराः ककारादीनि व्यञ्जनानि क्षरभूतानि च प्रतीत्यसमुत्पन्नानि शास्त्रविद्भिरक्षराण्युक्तानि । तथा चाह—

"न क्षरति न चलत्यपरस्थानं गच्छतीत्यक्षरशब्देन स्वर इत्युच्यते" । तेन कुमन्त्री भ्रान्तोऽक्षरत्वेन स्वरसमूहं गृह्णाति व्यञ्जनसमूहं वा । परमार्थतः स्वरव्यञ्जनसमूहोऽक्षरो न भवति । अक्षरशब्देन परमाक्षरसुखं ज्ञानं वज्रसत्त्व इति । तथा मनस्त्राणभूतत्वान्मन्त्रोऽपि परमाक्षरज्ञानमुच्यते । तथाऽपराध्यात्मिकी विद्या प्रज्ञापा[187a]-
T 433 रमिता प्रकृतिप्रभास्वरा महामुद्रा सहजानन्दरूपिणी धर्मधातुनिःस्पन्दपूर्णावस्था सहजतनुरित्युच्यते जिनैः । तौ प्रतीत्यसमुत्पन्नानामिन्द्रियाणामगोचरौ दिव्येन्द्रियगोचरौ वज्रसत्त्वबुद्धमातरौ परमाक्षरसुखस्वभावौ परमाणुधर्मतातीतौ आदर्शप्रतिसेनास्वप्नतुल्यौ परमाक्षरस्वरूपाविति । अत्राक्षराणीति रूपवेदनासंज्ञासंस्कारविज्ञानानि निरावरणानि पञ्चाक्षराणि महाशून्यान्युक्तानि । तथा पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशधातवो निरावरणाः

---

१. भो. 'आदिः' नास्ति । २. च. यकार । ३. च. यकार । ४. च. रज ।

पञ्चाक्षराण्युक्तानीति। षडक्षराणि चक्षुःश्रोत्रघ्राणजिह्वाकायमनांसि निरावरणानि प्रत्येकस्वस्वविषयग्रहणवर्जितानि। तथा रूपशब्दगन्धरसस्पर्शधर्मधातवो निरावरणाश्च षडक्षराण्युक्तानीति। एतानि स्कन्धधात्वायतनान्येकसमरसीभूतानि बिन्दुशून्यो भवति। स च विन्दुरच्युतः सन् परमाक्षर उच्यते। परमाक्षरोऽप्यकारोऽकारसंभवः सम्यक्संबुद्धः प्रज्ञोपायात्मको वज्रसत्त्वो नपुंसकपदं सहजकाय उच्यते ज्ञानज्ञेयात्मकः, हेतुफलयोरभेद्यत्वात्। स च कालचक्रो भगवान् परमाक्षरसुखपदमित्युक्तं भगवता नामसंगीत्यां वज्रधातुमहामण्डलस्तवे प्रथमश्लोकेन—

तद्यथा भगवान् बुद्धः संबुद्धोऽकारसंभवः।
अकारः सर्ववर्णाग्र्यो महार्थः परमाक्षरः॥ इति।

(ना० सं० ५.१)

तथा कृत्यानुष्ठानज्ञानस्तवे द्वितीयश्लोकेनोक्तम्, तद्यथा—

सर्वमन्त्रार्थजनको महाबिन्दुरनक्षरः।
पञ्चाक्षरो महाशून्यो बिन्दुशून्यः षडक्षरः॥ इति।

(ना० सं० १०.२)

तथा मूलतन्त्रेऽप्युक्तम्, तद्यथा—

आदिकादिसमायोगो वज्रसत्त्वस्य विष्टरः।
अक्षरोद्भवकायस्य हुंकाराद्यं न चेष्यते॥ इति।

अनेनाक्षरोत्पन्नस्य क्षरनिधनगतस्यास्य दिव्येन्द्रियस्येति क्षर उत्पादनिरोधावस्थालक्षणश्च्युतिक्षणः, स यस्य निधनं गतः, स परमाक्षरोऽच्युतक्षणः काल इत्यभिधीयते। तदेव वज्रज्ञानमिति। [1]तस्य कालस्य निरावरणं स्कन्धधात्वायतनं चक्रं त्रिभवस्यैकत्वं निरावरणं ज्ञेयमिति। तदेव वज्रधातुमहामण्डलमित्युच्यते सर्वाकारं सर्वेन्द्रियं बिन्दुरूपं विश्वमायाधरं भगवतः शरीरं प्रज्ञोपायात्मकमित्युक्तं भगवता तन्त्रराजे पञ्चमपटले पञ्चाकारस्तवे द्वितीयवृत्तेन। तद्यथा—

कालं विश्वादि वज्रं पुरुषमनुपमं सर्वगं निष्प्रपञ्चं
कूटस्थं कर्णनासामुखनयनशिरः सर्वतः पाणिपादम्।
भूतान्तं भूतनाथं त्रिभुवनवरधृक् कारणं कारणानां
विद्याद्यं योगगम्यं परमसुखपदं कालचक्रं नमस्ये॥ इति।

(का० त० ५.२४५)

---

१. च. तुल्य।

तथापराध्यात्मविद्याप्युक्ता भगवताऽध्यात्मपटले [१]षण्णवतिमेन वृत्तेन—

साङ्गो वेदो न विद्या स्मृतिमतसहितस्तर्कसिद्धान्तयुक्तः
शास्त्रं चान्यद्धि लोके कृतमपि कविभिर्व्यासवैश्वानराद्यैः।
विद्येत्यध्यात्मविद्याक्षरमपि मुनिभिः प्रोक्तमेवात्र लोके
त्रैलोक्यं यत्र कृत्स्नं भवति नरपते लीयते यत्र भूयः॥ [187b]इति।
(का० त० २.९६)

पुनः स एव कालचक्रो भगवान् प्रज्ञोपायात्मको ज्ञेयज्ञानसम्बन्धेनोक्तः। अत्र परमाक्षरज्ञानं सर्वावरणक्षयहेतुभूतं काल इत्युक्त उपायः। ज्ञेयं त्रैधातुकमनन्तभावलक्षणं चक्रम्, तदेव प्रज्ञा। ज्ञानज्ञेययोरेकत्वं कालचक्रमिति। उक्तं भगवता तन्त्रराजे पञ्चमपटले त्रिषष्टितमेन वृत्तेन कालचक्रस्य चक्रम्। तद्यथा—

बुद्धक्षेत्राण्यनन्तान्यपरिमितगुणा धातवश्चाम्बराद्याः
स्थित्युत्पत्ती विनाशस्त्रिविध इति भवः षड्गती सर्वसत्त्वाः।
बुद्धाः क्रोधाः सुराद्याः सकरुणहृदया बोधिसत्त्वाः सभार्या
एतच्चक्रं जिनस्य त्रिभुवननमितस्यैकमेकस्य शम्भोः॥ इति।
(का० त० ५.६३)

कालस्य ज्ञानरूपस्य ज्ञेयलक्षणं चक्रम्, अनयोर्ज्ञानज्ञेययोरेकत्वं कालचक्रमिति। अनेनोक्तक्रमेण स एव कालचक्रो भगवानेवंकारो वज्रसत्त्वः सर्वतन्त्रेषु संगीतो जिनैः। उक्तं भगवता मूलतन्त्रे पञ्चमे पटले—

अभेद्यं सर्वतो ज्ञानं वज्रमित्यभिधीयते।
त्रिभवस्यैकता सत्त्वो वज्रसत्त्व इति स्मृतः॥

तस्मादस्याक्षरोत्पन्नस्य सर्वाकारस्य बिन्दोः सहजकायस्य सकलजिनपतेर्विश्वमायाधरस्याधाराधेयसम्बन्धो नेष्यते महामुद्रासिद्ध्यर्थम्। यथा लौकिकसिद्धिसाधनार्थमाधाराधेयसम्बन्ध इष्यते, तथा परमाक्षरसुखसाधनाभिरतेन योगिना, सद्गुरूपदेशलब्धेन, दुष्टसङ्गपरिवर्जितेन, धूमादिनिमित्तभावितेनादिकर्मिकेण, मध्यमाविशोधितेन, सकलसत्त्वैकपुत्रवत् परमस्नेहानुबद्धचित्तेन, लौकिकलोकोत्तरसत्याश्रितेन, पुत्रकलत्रादिस्वशरीरनिरपेक्षकेण, मठविहारगुरुद्रव्योपभोगबाह्यभूतेन, बुद्धबोधिसत्त्वमार्गाश्रितेन, मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाचतुर्ब्रह्मविहारविहारिणा, शान्तिकर्मादिलौकिकसिद्धिसाधनाभिलाषवर्जितेन, सर्वज्ञपदवीमारोढुकामेन, मण्डलचक्रादिविकल्पभावनापरित्यक्तेन, आकाशगतौ सर्वाकारशून्यता-आदर्शप्रतिसेनावदनुत्पन्नधर्मावलोकितेन,

---

१. च. पञ्च। (इदमत्रावधेयम्—टीकायामुद्धृता श्लोकसंख्या मुद्रितग्रन्थानुसारिणी भोटानुसारिणी चात्र दीयते, च. मातृकायां प्रदत्ता संख्या टिप्पण्यां धृतास्ति। एवं सर्वत्राग्रेऽपि।)

स्वचित्तस्फरणप्रतिभासस्वप्नसदृशार्थचित्तेन, परमाणुसन्दोहात्मकधर्मविचारशून्येन, उच्छेदशून्यतादूरीकृतेन, अध्यात्मसुखस्वसंवेद्यधर्मानुरक्तेन, बाह्येन्द्रियस्वसंवेद्यसुखधर्मपरित्यक्तेन, प्रज्ञोपायात्मकेन, बोधिचित्तस्थिरीकरणैकदक्षेण, परमाक्षरमहासुखप्रज्ञा- T 434
ज्ञानमार्गोपदेशलब्धेन आधाराधेयचिह्नवर्णभुजसंस्थानमण्डलदेवतापरिकल्पनाधर्मो नेष्यत इति।

अथ विकल्पचित्तान्मण्डलचक्रस्य स्थितिर्नास्ति। कस्मात्? उत्पादनिरोधधर्मित्वात्। इहोपस्थितक्षणे नायकं भावयेद् योगी। तस्मिन् क्षणे पूर्वादीनां देवतानामभावः। यस्मिन् क्षणे पूर्वदेवतां भावयेत्, तस्मिन् क्षणे नायकादीनामभावः। एवं क्रमेण सर्वासां देवतानामभावः। [188a] यदा नीलमुखं भावयेत् तदा रक्तादीनां मुखानामभावः। यदा रक्तमुखं भावयेत् तदा नीलादीनामभावः। एवं क्रमेण सर्वेषां मुखानामभावः। यस्मिन् क्षणे वज्रचिह्नं भावयेत् तस्मिन् क्षणे खड्गादीनां चिह्नानामभावः। यस्मिन् काले खड्गचिह्नं भावयेत् तस्मिन् काले वज्रादीनां चिह्नानामभावः। एवं क्रमेण सर्वेषां चिह्नानामभावो भवति। कथम्? यथा घटज्ञाने निरुद्धे सति पटज्ञानमुत्पद्यते, तथा मण्डलनायकज्ञाने निरुद्धे सति पूर्वदेवताज्ञानमुत्पद्यते। एवमुत्पादितानामुत्पादनिरोधादभावः, अनुत्पादितानामनुत्पादादभावः, उत्पादानुत्पादयोरभावात् सर्वाभाव इति। तस्माद्योगिना महामुद्रासिद्ध्यर्थं विकल्पभावना न कर्तव्येति। उक्तं च भगवता **नामसंगीत्यां** सुविशुद्धधर्मधातुज्ञानस्तवे पञ्चदशमेन श्लोकेन। तद्यथा—

सिद्धार्थः सिद्धसङ्कल्पः सर्वसङ्कल्पवर्जितः।
निर्विकल्पोऽक्षयो धातुर्धर्मधातुः परोऽव्ययः॥ इति।
(ना० सं० ६.१५)

वज्रसत्त्वाहङ्कारोऽपि न कर्तव्यः। तत्रैव स्तवे [1]द्वादशमेन श्लोकेनोक्तं भगवता—

विद्याचरणसम्पन्नः सुगतो लोकवित् परः।
निर्ममो निरहङ्कारः सत्यद्वयनये स्थितः॥
(ना० सं० ६.१२)

अतस्तथागतवचनाद् विकल्पभावना वज्रसत्त्वाहङ्कारोऽपि परमार्थसत्याश्रितेन योगिना न कर्तव्य इति।

ननु तत्त्वविदा भगवता तथागतेनोक्तं **सर्वतन्त्रराजेषु**—प्रथमं तावद्रक्षाचक्रं [2]भावयेत्। ततः स्वहृदयचन्द्रमण्डले देवताबीजाक्षरं ध्यात्वा विमोक्षमुखादिशुद्धिं कृत्वा गगनतले ज्ञानबीजरश्मिभिस्तथागतान् बोधयित्वा तेषां पूजां कृत्वा पापदेशनां पुण्यानुमोदनां त्रिशरणगमनमात्मभावनिर्यातनं बोधिचित्तोत्पादनं मार्गाश्रयणं शून्यतालम्बनं करोति मन्त्री। ततो धर्मोदयमाकाशधातुस्वभावं भावयेत्, तन्मध्ये [3]हूंकारपरिणतां

---

१. च. भो. त्रयोद। २. च. 'भावयेत्' नास्ति। ३. च. हं।

वज्रभूमिम् । अथ प्रज्ञातन्त्राभिप्रायेण वाय्वादिमण्डलानि सुमेरुपृष्ठे कूटागारं वज्रपञ्जरं वा । ततः कायवज्रपरिणतं मण्डलं सर्वलक्षणसंपूर्णं चन्द्रादित्यासनैर्युक्तम् । अथ मध्ये [1]पंकारपरिणतं पद्ममकारपरिणतं चन्द्रमण्डलं रेफपरिणतं सूर्यमण्डलं वा । तदुपरि चन्द्रादित्यालिकालिज्ञानबीजाक्षरैरादर्शसमताप्रत्यवेक्षणाकृत्यानुष्ठानसुविशुद्धधर्मधातुपञ्च-ज्ञानात्मकं देवताबिम्बं भावयेत् । ततः प्रज्ञारागद्रुतं कायवाक्चित्तवज्रं देवीभिर्वज्रगीतिकाभिः प्रबोधितं पुनः कायवाक्चित्ताधिष्ठितं स्वचिह्ननिष्पन्नम् । ततो मण्डले देवतागणोत्सर्जनं ज्ञानचक्राकर्षणं प्रवेशनं बन्धनं तोषणं समयमण्डलेन समरसीकरणं सर्वतथागतदेवीभिरभिषिञ्चनं वज्रमुकुटालङ्कारयुक्तं वज्रसत्त्वाहङ्काररूपमात्मानं भावयेन्मन्त्रीति ।

इह कथं मण्डलचक्रभावना विकल्पभावनेति प्रतिषेधस्तथागतवचनस्यो[188b]-क्त इति, इह केषाञ्चिदभिप्रायो भविष्यति, तस्मादुच्यते—इह हि सत्यमेतत् तत्त्वविदा भगवता लोकसंवृतिसत्यमाश्रित्य सत्त्वाशयवशाद्बालमतीनां हीनवीर्याणां पारमार्थिकतत्त्वापरीक्षकाणां गम्भीरोदारज्ञानत्रस्तचित्तानां शान्तिकादिकर्मसाधनाभिरतानामिन्द्रियविषयोपभोगासक्तानां खड्गगुटिकाऽञ्जनरसरसायनलौकिकसिद्धिसाधनाभिलाषिणां प्रतीत्यसमुत्पन्नं ज्ञानं प्रतीत्यसमुत्पन्नेन्द्रियगोचरं प्रादेशिकं प्रादेशिकार्थक्रियासमर्थमुक्तमिति । तस्मात् प्रादेशिकार्थक्रियासमर्थत्वात् परमार्थसत्याश्रितम्, तेनेदं तथागतवचनमिति । किन्तु यथा तथागतेनोक्तं प्रादेशिकार्थक्रियासमर्थानां विकल्पध्यानमन्त्रमणिपाषाणखड्गगुटिकारसरसायनादिद्रव्याणां प्रादेशिकानामप्यतर्क्यः प्रभावः । तथा च दृश्यते स इह शुक्लध्यानं शान्तरूपं शान्तिकर्म करोति न मारणादिकं कर्म करोति, एवं कृष्णध्यानं रौद्ररूपं मारणं करोति न वश्यादिकं करोति । तथा रक्तध्यानं रागरूपं वश्यं करोति न स्तम्भनादिकं करोति । तथा पीतध्यानं स्तब्धरूपं स्तम्भनं करोति न शान्तिकादिकं करोति । एवं विषस्यापि ज्ञातव्यम् । शुक्लध्यानं ललाटे बिन्दुरूपं [2]विषं निर्विषं करोति, रक्तध्यानं विषक्षोभणं करोति, कृष्णध्यानं विषसंक्रामणं करोति, पीतध्यानं विषस्तम्भनं करोतीति प्रादेशिकविकल्पध्यानं प्रादेशिकार्थक्रियां करोति, एवं मणिमन्त्रौषध्योऽपि वेदितव्याः ।

इह मन्त्रोऽपि साधितः सन् यः शान्तिं करोति स मारणादिकर्म न करोति । यो मारणं करोति स वश्यादिकं न करोति । यो वश्यं करोति [स] स्तम्भनादिकं न करोति । यः स्तम्भनं करोति स शान्तिकादिकं न करोति । अतो लौकिकं ज्ञानं लोकोत्तरसर्वज्ञार्थक्रियासमर्थं न भवतीति । एवं खड्गादिकं सिद्धमपि सन्न भगवतोक्तम् । एकोऽपि मन्त्रः साधितः सर्वकर्माणि करोति, कथं प्रादेशिको भवतीति ? इह कस्यचिदभिप्रायो भविष्यति । तस्मादुच्यते—इह एकोऽपि मन्त्रः साधितः सर्वकर्माणि करोति नैतदेव प्रमाणम् । कस्मात् ? क्रियाभेदात् । इहैकस्यापि मन्त्रस्य क्रियाभेदेन भेदोऽस्ति, स च तथागतेनोक्तः । तथाहि—शान्तिके नमोऽन्तो मन्त्रजापः, पौष्टिके स्वाहान्तः, आकृष्टौ

---

१. च. वंकार । २. भो. 'विषं' नास्ति ।

वौषडन्तः, विद्वेषे हूंकारान्तः, वश्ये वषडन्तः, मारणे फडन्तः। एवं होमकार्येऽपि कुण्ड- T 435
भेदेन भेद उक्तः। इह वृत्ते कुण्डे उदुम्बरादिक्षीरवृक्षसमिद्भिर्दूर्वादुग्धैर्हुतो मन्त्रः शान्ति करोति, न पौष्ट्यादिकं कर्म करोति। चतुरस्रकुण्डे पूर्वोक्तसमिद्भिः सस्याज्यैर्हुतः पौष्टिकं करोति, न मारणादिकं करोति। चापाकारे कुण्डेऽस्थिसमिद्भिर्नरमांसविषरक्तैर्हुतो मारणं करोति, नोच्चाटनादिकं करोति। पञ्चकोणे कुण्डे काकपिच्छैर्नरवसाराजिकाभि-[189a]र्हुत उच्चाटनं करोति, न वश्यादिकं करोति। सप्तकोणे कुण्डे किंशुकसमिद्भी रक्तपुष्पैर्वज्रोदकेन हुत आकृष्टिं करोति, न वश्यादिकं करोति। त्रिकोणे कुण्डे खदिरसमिद्भिः स्वेदविल्वपुष्पैर्हुतो वश्यं करोति, न स्तम्भनादिकं करोति। [1]षट्कोणे कुण्डे विल्वसमिद्भिर्नैर्माल्यश्लेष्मभिर्हुतः स्तम्भनं करोति, न मोहनादिकं करोति। [2]अष्टकोणे कुण्डेऽर्कसमिद्भिः कनककुसुममद्यैर्हुतो मोहनं करोति, न शान्तिकादिकं करोतीति। एवं रजोभेदेन भेद उक्तः। शान्तिके पौष्टिके श्वेतरजः, मारणोच्चाटने कृष्णरजः, वश्याकर्षणे रक्तरजः, स्तम्भने मोहने पीतरजः, प्रत्युज्जीवने हरितरजः। तथाऽक्षसूत्रभेदेन भेद उक्तः। शान्तिके स्फाटिकाक्षसूत्रेण मन्त्रजापः, पौष्टिके मुक्ताफलाक्षसूत्रेण, मारणे नरदन्ताक्षसूत्रेण, उच्चाटने उष्ट्रदन्ताक्षसूत्रेण खरदन्ताक्षसूत्रेण वा, वश्ये पुत्रजीवाक्षसूत्रेण, आकृष्टौ पद्मबीजाक्षसूत्रेण रक्तचन्दनाक्षसूत्रेण वा, स्तम्भने रुद्राक्षसूत्रेण, मोहनेऽरिष्टाक्षसूत्रेण, प्रत्युज्जीवने मरकताक्षसूत्रेण मन्त्रजाप इति। एवं साधितानामपि मन्त्रौषधिमणिखड्गरसरसायनादिसिद्धद्रव्याणां प्रादेशिको गुणोऽस्ति, न परमाक्षरज्ञानगुणोऽस्ति। इह त्रिसाहस्रमहासाहस्रलोकधातुषु बुद्धक्षेत्रे यथा भगवाननेकनिर्माणकायैर्नानारुतैर्युगपत् सत्त्वार्थं करोति, तथैभिः प्रादेशिकैः साधितैरपि योगी सर्वसत्त्वार्थं कर्तुं न शक्नोति, प्रादेशिकत्वात्। उक्तं भगवता **नामसंगीत्यां** प्रत्यवेक्षणाज्ञानस्तवे प्रथमश्लोकत्रयेण। तद्यथा—

तथता भूतनैरात्म्ये भूतकोटिरनक्षरः।
शून्यतावादी वृषभो गम्भीरोदारगर्जनः॥

धर्मशङ्खो महाशब्दो धर्मगण्डी महारणः।
अप्रतिष्ठितनिर्वाणो दशदिग्धर्मदुन्दुभिः॥

अरूपो रूपवानग्र्यो नानारूपमनोमयः।
सर्वरूपावभासश्रीरशेषप्रतिबिम्बधृक् ॥ इति।

(ना० सं० ८.१–३)

तथा **तन्त्रराजे**ऽपि पञ्चमे ज्ञानपटले सप्तनवतिमेन वृत्तेन सर्वज्ञभाषा भगवतोक्ता। तद्यथा—

तिर्यक्प्रेतासुराणामुरगसुरनृणामार्यभोटादिकानां
भूतैष्यद्वर्तमानं त्रिविधमपि सदा सत्यधर्मं ब्रुवन्ती।

१. भो. Zur brGyad Paḥi (अष्टकोणे)। २. भो. Zur Drug Paḥi (षट्कोणे)।

मार्गे संस्थापयन्ती त्रिभवमविकलं स्वस्वभापान्तरेण
एषा सर्वज्ञभाषा समसुखफलदा देवभाषा न च स्यात् ॥ इति ।
(का० त० ५ ९७)

पुनस्तत्रैव पटले तस्य पृष्ठवृत्तेन सर्वज्ञकायवाक्कृत्यमुक्तम् । तद्यथा—

एकं पश्यन्त्यनेकं प्रणिधिगुणवशात् शान्तरागादिभावै-
श्चक्रस्थं पूर्वजन्मस्वहृदयजनितैर्वासनाया बलेन ।
एकार्थानेकभाषा प्रविशति हृदयं प्राणिनां स्वस्वभावै-
श्चक्रस्थः पिण्डपातं व्रजति विहरितुं स्था(ता)यिनां पुण्यहेतोः ॥ इति ।
(का० त० ५.९६)

इह यथा सर्वाकारं सर्वज्ञकायवाक्चित्तज्ञानं निर्विकल्पं सर्वार्थक्रियासमर्थं भवति, तथा विकल्पध्यानमन्त्रादिकं साधितमपि सर्वज्ञार्थक्रियासमर्थं योगिनां न भवतीति । एवं पृथिव्यादिकृत्स्नमपि साक्षात्कृतं वीतरागैः प्रादेशिकं भवति । कस्मात् ? प्रादेशिकर्द्धिस्फ[189b]रणात् । इह यो वीतरागः पृथ्वीकृत्स्नं साक्षात्करोति, स पृथ्वीकृत्स्नं स्फारयेत्, न तोयादिकृत्स्नं स्फारयितुं समर्थः । एवं प्रत्येककृत्स्नमपि वेदितव्यम्, शून्यकृत्स्नं यावदेव । इह मण्डले[1]वज्री यः समाजमण्डलं स्फारयेत्, स चक्रसंवरादिकं स्फारयितुं न शक्नोति । यश्चक्रसंवरं स्फारयेत्, स समाजादिकं स्फारयितुं न शक्नोति, प्रादेशिकत्वादिति । अथ कस्यचिदभिप्रायो भविष्यति—इहैकस्मिन् मण्डलचक्रे साक्षात्कृते सति सर्वमण्डलचक्राणि त्रैधातुकमपि साक्षात्कृतं भवति, नान्यत् त्रैधातुकं स्कन्धधात्वायतनमण्डलचक्रबाह्यमस्तीति । तस्मादुच्यते—इह हि यद्येके साक्षात्कृते सति धातुकृत्स्ने मण्डलचक्रे वा त्रैधातुकं साक्षात्कृतं भवति, सर्वज्ञतादिकं च भवति, तदा सर्वज्ञपदप्राप्तये सर्वज्ञता-सर्वाकारज्ञता-मार्गज्ञता-मार्गाकारज्ञता-साक्षात्करणं नाम न स्यात्, एकेऽपि पृथिव्यादिकृत्स्ने साक्षात्कृते सति मण्डलचक्रे वा साक्षात्कृते सम्यक्संबुद्धत्वं भवति, श्रावकप्रत्येकबुद्धत्वसिद्धत्वं नाम न स्यात् । इह यथा यानत्रये भगवतो वाक्यं श्रूयते–अमुकबुद्धक्षेत्रेऽमुकलोकधातावमुकस्य पुत्रोऽमुककुलेऽमुककल्पे द्वात्रिंशन्महापुरुषलक्षणोऽशीत्यनुव्यञ्जनालङ्कृतः षडभिज्ञस्तथागतोऽभूत् । अमुकस्थानेऽभिसंबुद्धोऽमुकस्थाने विहरति, धर्मचक्रप्रवर्तनं करोति, नानाधिमुक्तिकानां सत्त्वानां नानारुतैरमुकधर्मं देशयति, अमुकस्थाने महाधातुसंदर्शनं कृत्वा परिनिर्वृतः । एषां धातूनां महातिशयप्रातिहार्यं
T 436 दृष्ट्वा देवासुरमनुष्यैस्ते धातवः [2]पूज्यन्ते, न तथाऽमुकबुद्धक्षेत्रेऽमुकलोकधातावमुककल्पे द्वात्रिंशन्महापुरुषलक्षणोऽशीत्यनुव्यञ्जनः षडभिज्ञो योगी जातोऽमुकस्थानेऽभिसम्बुद्धोऽमुकदेशे विहरति, अमुकस्थाने धर्मचक्रप्रवर्तनं करोति, नानाधिमुक्तिकानां सत्त्वानां नानारुतैरमुकधर्मं देशयति, त्रिसाहस्रमहासाहस्रलोकधातुषु युगपत् काय-ऋद्धिं दर्शयति, अमुकस्थाने महाधातुसंदर्शनं कृत्वा परिनिर्वृतः । तेषां धातूनां महातिशयस्फरणं

---

१. भो. ḥKhor Lo Can (चक्री) । २. च. पूयंन्ते ।

दृष्ट्वा देवासुरमनुष्यैर्धातवः [1]पूज्यन्ते। तस्माद्योगी संबुद्धो न भवत्येकस्मिन् मण्डलचक्रे साक्षात्कृते। कस्मात्? धर्मचक्रप्रवर्तनाभावात्, तथागताव्याकरणात्। इह यथा मैत्रेयनाथस्तथागतेन व्याकृतस्तथागतत्वेन ऐष्यत्काले भविष्यत्यन्ये भस्मेश्वरादयो व्याकृतास्तथागतेन सम्यक्संबुद्धा भविष्यन्ति; न तथा कश्चिद्योगी एकमण्डलचक्रे साक्षात्कृते सम्यक्सम्बुद्धो भविष्यतीति भगवान् व्याकरोति। किन्तु सत्त्वाशयवशाद् मण्डलचक्रभावना भगवतोक्ता खड्गगुलिकाञ्जनरसरसायनादिलौकिकसिद्धिसाधनार्थम्। तस्मान्मण्डलचक्रदेवतासाक्षात्करणात् खड्गादयः सिद्धयः सिद्ध्यन्ते साधकस्य, न सर्वज्ञता सिद्ध्यति। यदि [2]सर्वज्ञता सिद्ध्यते मण्डलचक्रभावनाबलेन तदा किमर्थं सिद्धा इह भगवतो वाक्यं स्वग्रन्थे प्रतिपादयन्ति। अतो लौकिकसि[190a]द्धयः सर्वज्ञगुणदायिका न भवन्ति, प्रादेशिक[3]वचनात्, सर्वज्ञभाषाभावात्, सावरणकायऋद्धिसंदर्शनात्। सावरणे धर्मे साक्षात्कृते योगी सर्वज्ञो न भवति, तस्मान्निरावरणे धर्मे साक्षात्कृते सति योगी सर्वज्ञो भवति, निरावरणधर्मलक्षणात्। सर्वज्ञस्य दिव्यं चक्षुर्दिव्यं श्रोत्रं परचित्तज्ञानं पूर्वनिवासानुस्मृतिः सर्वर्द्धिः सर्वास्रवक्षयः स्थानास्थानज्ञानबलं कर्मविपाकज्ञानबलम् एकानेक[4]धातुज्ञानबलम् इन्द्रियपरापरज्ञानबलं नानाधिमुक्तिज्ञानबलं दुःखनिरोध[5]धर्मगामिनीप्रतिपज्ज्ञानबलं संक्लेशव्यवदानज्ञानबलम् अनेकजन्मावदानज्ञानबलं सर्वाभिज्ञाज्ञानबलम् आस्रवक्षयज्ञानबलं भवतीति। तथा समन्तप्रभा महासूर्यमण्डलवर्चसा भूमिः, अमृतप्रभा महाचन्द्रप्रभास्वरा भूमिः, गगनप्रभा गगनवत्सुप्रतिष्ठिता भूमिः, वज्रप्रभा मनोरमा भूमिः, रत्नप्रभा अभिषेकप्रतिष्ठिता भूमिः, पद्मप्रभा स्वभावशुद्धधर्मनिर्मला निष्परिग्रहा भूमिः, बुद्धकर्मकरी भूमिः, अनुपमा भूमिः, उपमा सर्वोपमा प्रतिवेधतो(धिता) भूमिः, प्रज्ञाप्रभाऽनुत्तरा भूमिः, सर्वज्ञता महाप्रभास्वरा भूमिः, प्रत्यात्मवेद्या योगिज्ञानप्रपूरिका भूमिरिति। [6]तथागतस्य नास्ति स्खलितम्, नास्ति नदितम्, नास्ति मुषिता स्मृतिः, नास्त्यसमाहितं चित्तम्, नास्ति नानात्वसंज्ञा, नास्त्यप्रतिसंख्योपेक्षा, नास्ति छन्दस्य परिहाणिः, नास्ति वीर्यस्य परिहाणिः, नास्ति स्मृतेः परिहाणिः, नास्ति समाधेः परिहाणिः, नास्ति प्रज्ञायाः परिहाणिः, नास्ति मुक्तिज्ञानदर्शनस्य परिहाणिः। अतीतेऽध्वन्यप्रतिहतमसङ्गमप्रणिहितं ज्ञानं दर्शनं च प्रवर्तते, अनागतेऽध्वन्यप्रतिहतमसङ्गमप्रणिहितं ज्ञानं दर्शनं प्रवर्तते, प्रत्युत्पन्नेऽध्वन्यप्रतिहतमसङ्गमप्रणिहितं ज्ञानं दर्शनं प्रवर्तते। सर्वं कायकर्म ज्ञानपूर्वङ्गमं ज्ञानानुपरिवर्ति, सर्वं वाक्कर्म ज्ञानपूर्वङ्गमं ज्ञानानुपरिवर्ति, सर्वं मनस्कर्म ज्ञानपूर्वङ्गमं ज्ञानानुपरिवर्तीति। अतः सर्वत्र सर्वकालं समतायां सुप्रतिष्ठितः शून्यतायां समनुगतत्वात् प्रज्ञापरिशुद्धस्तथागतो भवति, निरावरणलक्षणात्। न पुनः सावरणः प्रज्ञापरिशुद्धः कश्चिदेको मण्डलचक्र[7]रूपदेवतासंख्यावर्णभुजसंस्थानविकल्प[8]परिशुद्धिस्फरणाद् वज्रसत्त्वो दशबलो भवतीति, किन्तु

---

१. च. पूर्यन्ते। २. भो. sGrub Pa Po (साधकस्य) इत्यधिकम्। ३. भो. 'वचन' नास्ति। ४. भो. 'धातु' नास्ति। ५. भो. 'धर्म' नास्ति। ६. भो. De bSin Du (तथा) इत्यधिकम्। ७. च. 'रूप' नास्ति। ८. भो. dZu ḥPhrul (ऋद्धि)।

सर्वज्ञमार्गनष्टो मिथ्याहङ्काराभिभूतः सन्नहमपि वज्रसत्त्वो दशबल इत्येवं मन्यते। नायं दशबलो दशबलान्यप्रतिबलः प्रादेशिको महामूर्खः। अस्यापूर्वमिह बुद्धत्वं महाऽस्त्यद्भुतं योगिनः सर्वावरणतः। उक्तं भगवता प्रत्यवेक्षणाज्ञानस्तवे नवमश्लोकेन **नामसंगीत्याम्**—

त्रिदुःखदुःखशमनस्त्र्यन्तोऽनन्तस्त्रिमुक्तिगः।
सर्वावरणनिर्मुक्त आकाशसमतां गतः ॥ इति।

(ना० सं० ८.९)

अतो भगवतो वचनाद् [190b] विकल्परूपभावनाबलेन योगी सर्वज्ञो न भवतीति।

ननु तथागतेनोक्तं सर्वतन्त्रराजेषु [1]पञ्चस्कन्धा वैरोचनादयो बुद्धाः, धातवो देव्यः, लोचनादयो षडिन्द्रियाणि, क्षितिगर्भादयो बोधिसत्त्वा विषयाः, रूपवज्रादयो देव्यः, मोहवज्रादयो यमान्तकादयः क्रोधराजानः। तस्मात् सत्त्वानां कायो बुद्धनिर्माणकाय इति केषाञ्चिदभिप्रायो भविष्यति। तस्मादुच्यते—इह हि यद्वक्तव्यं मूर्खैः सत्त्वानां कायो बुद्धनिर्माणकाय इति। नैतद्वचनं तथागतस्य, यत् परीक्षमाणं विघटयति। परमार्थसत्ये यदि सत्त्वानां कायो बुद्धनिर्माणकाय इति चेत्, त्रैधातुकस्थाः सर्वे सत्त्वाः सम्यक्सम्बुद्धाः प्रागभूवुः। बुद्धत्वाय श्रुतचिन्ताभावनादानादिक्रिया वृथा स्यात्, प्राक् सम्यक्सम्बुद्धत्वात्। सर्वसत्त्वानामुत्पादनिरोधो न स्यात्। संसारे [2]सुखदुःखक्षुत्पिपासादयो बाधा न स्युः।
T 437 षडभिज्ञादयो बुद्धगुणविभूतयश्च भवेयुः। न चैतद् दृष्टं श्रुतमनुमितं तथागतव्याकृतम्, तस्माद् बुद्धगुणाभावात् सत्त्वा बुद्धा न भवन्ति, संसारे सुव्यवस्थितत्वादिति। उक्तं भगवता **नामसंगीत्यां** सुविशुद्धधर्मधातुस्तवे त्रयोदशमेन श्लोकेन। तद्यथा—

संसारपारकोटिस्थः कृतकृत्यस्थले स्थितः।
कैवल्यज्ञाननिष्ठ्यूतः प्रज्ञाशस्त्रो विदारणः ॥ इति।

(ना० सं० ६.१३)

अतस्तथागतवचनात् सत्त्वानां कायो बुद्धनिर्माणकायो न भवति।

ननु तथागतेनोक्तं भावनाभ्यासवशात् स्कन्धधात्वायतनादिकं मण्डलचक्राकारं भविष्यति, तेनैव बुद्धत्वं चेति कस्यचिदभिप्रायो भविष्यति ? तस्मादुच्यते—इह हि यद्वक्तव्यं बालजनैरभ्यासवशात् स्कन्धधात्वायतनादिकं मण्डलचक्राकारं भविष्यति, तेनैव बुद्धत्वं च तथागतेनोक्तम्। तन्न, [3]पुण्यज्ञानसंभाराभावात्। इह हि यदि योगिनां पुण्यज्ञानसंभारं विना भावनाभ्यासबलेन स्कन्धधात्वायतनादिकं मण्डलचक्राकारं भविष्यति, विकल्पभावनाभ्यासबलेन [4]सम्बुद्धत्वं च भवति, तदाऽन्योऽपि [5]द्रव्यहीनो

---

१. भो. 'पञ्च' नास्ति। २. च. 'सुख' नास्ति। ३. भो. Gaṅ Gi Phyir (यतः) इत्यधिकम्। ४. भो. बुद्धत्वं। ५. भो. bSod Nams dMan Pa (पुण्यहीनो)।

राजाऽहमिति चिन्तयेत्, सोऽप्यभ्यासवशाद् राजा भविष्यति। पुण्यसम्भारं विना न चैतद् दृष्टम्, यथा मिथ्याविकल्पेन पुण्यसम्भारहीनोऽनेककल्पैरभ्यासवशाद् राजा न भविष्यति, ततो पुण्यज्ञानहीनो विकल्पाभ्यासवशादनेककल्पैर्योगी सम्यक्सम्बुद्धो न भवति, पुण्यज्ञानाभावादिति। उक्तं भगवता सुविशुद्धधर्मधातुस्तवे [1]षोडशमेन श्लोकेन। [2]तद्यथा—

पुण्यवान् पुण्यसंभारो ज्ञानं ज्ञानाकरं महत्।
ज्ञानवान् सदसज्ज्ञानी संभारद्वयसंभृतः॥ इति।
(ना० सं० ६.१६)

अतो भगवतो वचनात् पुण्यज्ञानहीनो विकल्परूपभावनाभ्यासवशाद् बुद्धो न भवतीति।

ननु यदि रूपभावना विकल्पः, विकल्पाद्योगी बुद्धो न भविष्यतीति तदा किमर्थमिदं शरीरं मण्डलचक्रदेवतागणैर्विशोधनीयमिति तथागतवचनमिति कस्यचिदभिप्रायो भविष्यति ? तस्मादुच्यते—इह सत्यमेतत्, समयभाषया तथागतेन प्रत्येकं वैरोचनादिकं तदुद्दिष्टम्, न पुनर्घटपटशब्दवद् वाच्यवाचकभा[191a]वेन स्वरूपतः। स्त्रीन्द्रियं पद्मम्, पुरुषेन्द्रियं वज्रम्, गूथो वैरोचनः, मूत्रमक्षोभ्यः, रक्तं रत्नसम्भवः, शुक्रममिताभः, मांसममोघसिद्धिः, किन्तु पञ्चतथागतानां नामभिः पञ्चामृतानां संज्ञा उक्ताः, न पुनः परमार्थयुक्तितो देवताः। तस्माद् देवताकायो वक्तुं न शक्यते पूतिशरीरमिदम्, असारत्वादिति। उक्तं भगवता **नामसंगीत्यां** सुविशुद्धधर्मधातु[3]ज्ञानस्तवे विंशतिमादिश्लोकत्रयेन। तद्यथा—

घनैकसारो वज्रात्मा सद्योजातो जगत्पतिः।
गगनोद्भवः स्वयम्भूः प्रज्ञाज्ञानानलो महान्॥

वैरोचनो महादीप्तिर्ज्ञानज्योतिर्विरोचनः।
जगत्प्रदीपो ज्ञानोल्का महातेजा प्रभास्वरः॥

विद्याराजोऽग्रमन्त्रेशो मन्त्रराजमहार्थकृत्।
महोष्णीषोऽद्भुतोष्णीषो विश्वदर्शी वियत्पतिः॥ इति।
(ना० सं० ६.२०-२२)

अतो भगवतो वचनात् प्रादेशिककायो बुद्धकायो न भवतीति।

ननु तथागतो यदि रूपी न भवति, तदा गर्भावक्रमणं कुमारक्रीडा सर्वशिल्पसंदर्शनमन्तःपुराभिनिष्क्रमणं बोधिमण्डनिषीदनं मारमण्डलविध्वंसनं देवतावतारणं धर्मचक्रप्रवर्तनं द्वात्रिंशन्महापुरुषलक्षणान्यशीत्यनुव्यञ्जनानि धनुःप्रभामण्डलानि

---

१. च. दशमेन। २. च. 'तद्यथा' नास्ति। ३. च. 'ज्ञान' नास्ति।

चतुरीर्यापथादयो व्यापारा आकाशगमनागमनं सत्त्वार्थक्रियास्तस्य न भवन्ति। तथा भगवतो निष्पादितश्रावकसंघोऽपि न स्यात्, महापरिनिर्वाणं महातिशयप्रातिहार्यं [1]धातुसंदर्शनं न स्यात्। त्रिभुवननिवासिभिः पूज्यमानं केशदन्तमांसास्थ्यादिकं धातुस्फरणं न स्यात्। अपरमपि तथागतविकुर्वितमत्यद्भुतं रूपवतो भगवतो भवति, नारूपवतः। तस्माद् भगवतो रूपकायसाधनं मिथ्या न भवतीतीह केषाञ्चिदभिप्रायो भविष्यति। तस्मादुच्यते—इह यद्वक्तव्यं बालजनैर्भगवतो रूपकायसाधनं मिथ्या न भवति, नैतदेव सत्यम्। कस्मात्? उत्पादविनाशधर्मित्वात्। इह हि भगवतो यदि परमार्थतोऽयं गर्भोत्पादः सर्वसत्त्वार्थाय गमनागमनव्यापारो महापरिनिर्वाणधातुसंदर्शनमस्ति चेत्, तदा तथागतस्य साधनं निष्फलं भवति। कस्मात्? कायधातुसंदर्शनान्महापरिनिर्वाणाद् भगवतो रूपकायः साधितोऽप्यसाधित एव। य उत्पन्नकायो विनष्टः साधितः कथं साधकस्याक्षयं कायं करिष्यति, एवद्विपरीतं स्वयमसिद्धः परं साधयिष्यति। अथ धातुसंदर्शनं महातिशयलक्षणमस्ति, इह धातुसंदर्शने सत्यधुना द्वात्रिंशन्महापुरुषलक्षणान्यशीत्यनुव्यञ्जनानि धनुःप्रभामण्डलानि धातुपुञ्जीभूतस्य
T 438 कायस्य विनष्टानि। पूर्वकायाभावाद् धातुपुञ्जे वज्रसत्त्वकायो न भवति। कायाभावेऽन्यस्य वज्रसत्त्वस्य साधनं नास्ति, इह परस्परविरोधात्। अतत्त्विनो नष्टाः, उत्पादनिरोधधर्मित्वात्। उत्पादविनाशधर्मिणो वज्रसत्त्वस्य साधनाय प्रज्ञापारमिता-शून्यता-स्मृत्युपस्थान-सम्यक्प्रहाण-ऋद्धिपादेन्द्रियबल-बोध्यङ्गमार्गसत्यध्यानाप्रमाणारूप्यसमापत्तिविमोक्षमुखाभि[191b]ज्ञासमाधिधारणीबलवैशारद्यप्रतिसंविदावेणिका बुद्धधर्मा वृथा स्युः। त्रिशरणगमनं पापदेशना पुण्यानुमोदना बोधिचित्तोत्पादः पुण्यज्ञानसम्भारानेक[2]बोधिचर्या मुधा स्युः। श्रुतचिन्तामयी(य)प्रज्ञा[3]ज्ञानविशेषा निर्विशेषाः स्युः। प्रज्ञोपायमया विधयो दुर्विधयो भवेयुः। परमार्थसत्ये गम्भीरोदारधर्मप्रतीतिरप्रतीतिः स्यात्। लोकसंवृतिसत्ये लौकिकसिद्धिसाधनाय वज्रकील[4]कवचवज्रप्राकारवज्रपञ्जररक्षाचक्रादिभिरावृतं स्कन्धधात्वायतनकायवाक्चित्ताधिष्ठानमुक्तं द्वारपालन्यासं ज्ञानसत्त्वप्रवेशाभिषेकादिभिर्विहितं पञ्चप्राकारप्रभानिकरमण्डलनिर्माणलोकधातुषु तद्वैनेयानां सत्त्वानां सत्त्वार्थसंभारं सर्वपूजाप्रसरसंचयं सर्वं सर्वदा वृथा स्यात्। न चैवम्। तस्माद् उत्पादविनाशधर्मिणो वज्रसत्त्वस्य दशबलवैशारद्यादयो गुणा न च सम्भवन्तीति। किञ्चान्यत्, यदीह रूपी भगवान्, तदा एकप्रदेशस्थो गङ्गानदीवालुकोपमेषु लोकधातुष्वनेककुलपर्वतरजःसमानां सत्त्वानामर्थक्रियां कर्तुं समर्थो न भवति, रूपकायत्वात्। अथ बालमतीनां वचनं रूपकायेनाप्येकस्मिन् लोकधातौ गत्वा तत्रस्थानां सत्त्वानामर्थक्रियां कृत्वा ततोऽन्यस्मिन् लोकधातौ गच्छति, ततोऽप्यन्यत्र गमनं करोति। तदेव युक्तितो न घटयति। कस्मात्? एकस्मिन्नेव दिग्विभागे लोकधातूनां प्रमाणरहितत्वात्, किं पुनर्दशदिग्विभागे संस्थितानां लोकधातूनामनन्तानन्तसत्त्वानां रूपकायेन गत्वा [5]गत्वा सत्त्वार्थमनेककल्पैः कर्तुं न शक्यते।

---

१. भो. 'धातु' नास्ति। २. भो. Byaṅ Chub Sems dPaḥi sPyod Pa (बोधिसत्त्वचर्या)। ३. भो. 'ज्ञान' नास्ति। ४. भो. 'कवच' नास्ति। ५. भो. 'गत्वा' नास्ति।

अथ ध्यानमन्त्रबलेन नैकबुद्धक्षेत्रलोकधातुस्थान् सत्त्वानाकृष्य पुरतः स्थापयित्वा तेषां धर्मदेशनां करोति। तान् मार्गे स्थापयित्वा स्वस्वलोकधातौ विसर्जयेत्। तदेवातिशयेन विपरीतम्, सर्वाम्बरकुहरेष्वनेकलोकधातुस्थानामसंख्येयानां सत्त्वानां रूपिणां परमाणुरूपेणापि पुरतोऽवस्थानं कर्तुं न शक्यते। अथ बालमतीनां वचनमनेनापि रूपकायेनैकस्मिन् बुद्धक्षेत्रे त्रिसाहस्रमहासाहस्रलोकधातुषु स्थितानां सत्त्वानामर्थक्रियां करोति, एतद्वचनं पारमार्थिक्या युक्त्या विचार्यमाणं निरर्थकम्, यथेश्वरवचनमाज्ञासिद्धं युक्तिप्रमाणरहितम्। आप्तागमादित ईश्वरो निष्कलः सर्वकर्ता। स च कार्यनिरपेक्ष इच्छया क्रीडार्थं विश्वं करोति संहारयति वा। एवं तद्वैधर्म्याद् रूपकायो भगवान् सर्वसत्त्वार्थकर्ता आज्ञासिद्ध इति। एवं बौद्धानां तीर्थिकानां प्रज्ञाहीनत्वाद् विशेषो नास्ति पण्डितानामपि। तस्मादिदं वचनं परीक्षारहितं भगवतो न भवति। भगवतो वचनमादौ कल्याणं मध्ये कल्याणं पर्यवसाने कल्याणमिति।

तथा भगवानाह—

तापाच्छेदाच्च निकषात् सुवर्णमिव पण्डितैः।
परीक्ष्य भिक्षवो ग्राह्यं मद्वचो न तु गौरवात्॥ इति।

अतो भगवतो वचनाद् **नामसंगीत्यां** परीक्ष्यमाणो बुद्धो रूपकायो न भवति। कस्मात्? ग[192a]गनोद्भवत्वात्, स्वयंभूत्वात्, सर्वाकारनिराकारत्वात्, चतुर्बिन्दुधरत्वात्, अकलकलनातीतत्वात्, चतुर्थानन्दकोटिधरत्वात्, विरागादिमहारागत्वात्, निर्ममत्वात्, निरहङ्कारत्वात्, सर्वाक्षयधातुत्वात्, सर्वमन्त्रार्थजनकत्वात्, महाबिन्दुरनक्षरत्वात्, पञ्चाक्षरमहाशून्यत्वात्, बिन्दुशून्यषडक्षरत्वात्, आकाशसमतागतत्वादित्यादि **नामसंगीत्याम्**—"अथ वज्रधरः श्रीमान्" इत्यादिना, "ज्ञानकाय नमोऽस्तु ते" इति पर्यन्तं द्वाषष्ट्यधिकशतश्लोकेन बुद्धेन भगवता वज्रधरकायो वज्रपाणेः प्रकाशित उभयसत्याभ्यामित्यादि। **तन्त्रराजे**ऽपि भगवतोक्ता बुद्धोत्पादनिर्माणमाया पञ्चमपटलेऽष्टानवतिमेन वृत्तेन—

बुद्धानामप्यगम्या ह्यपरिमितगुणा बुद्धनिर्माणमाया
आत्मानं दर्शयन्ती त्रिभुवननिलये शक्रजालं यथैव।
नानाभावैर्विभिन्ना सजिनसुरनृणां स्वस्वचित्ते प्रविष्टा
एषाऽनुत्पन्नधर्मा पयसि नभ इव भ्रान्तिदोत्पत्तिरत्र॥

(का० त० ५.९८)

अतो भगवतो वचनाद् रूपकायो भगवान्न भवति, सर्वबुद्धानां समाजित्वात्। यदि रूपकाया बुद्धाः, तदा परमाणुरूपेणापि मीलनं न स्यादिति। एवमुक्तक्रमेण भगवतो वाक्यं श्रुत्वा तथापि सत्त्वा भगवतोक्तं गम्भीरोदारधर्मं परीक्षयित्वा न गृह्णन्ति, बुद्धत्वाय गुरुं च परीक्षयित्वा नाराधयन्ति, महामूर्खा लोभाभिभूताः सन्त इहैव जन्मन्यस्माकं

पूतिशरीरं बुद्धशरीरं भविष्यतीत्याशालुब्धा अकल्याणमित्रसंसर्गाद् असद्गुरूपदेशाद् इह वैरोचनादीनि पञ्चामृतानि गोकुदहनादिपलानि भक्ष्याणि स्वभावशुद्धानि तथागतेनोक्तानि, T 439 एभिर्भक्षितैः शरीरमजरामरं भविष्यति, वज्रसत्त्वोऽपि वरदो भविष्यतीति। अन्यत्र वज्रकुले क्रोधराजसमाधिना प्राणिनो घात्याः, खड्गकुलेऽमोघसिद्धिसमाधिनाऽसत्यं वक्तव्यम्, रत्नकुले रत्नसम्भवसमाधिना परस्वं हार्यम्, पद्मकुलेऽमिताभसमाधिना परस्त्री ग्राह्या, चक्रकुले वैरोचनसमाधिना पञ्चामृतपलानि भक्षणीयानीति, अपरेऽपि दशाकुशलकर्मपथा देवतायोगेन योगिना कर्तव्या इति, एवं दुष्टाचार्यवचनं प्रमाणीकृत्य दशाकुशलान् कर्मपथान् कुर्वन्ति, अशोधितान्यबोधितान्यप्रदीपितान्यनमृतीकृतानि[1] भक्षयन्ति। तानि च भक्षितानि पञ्चामृतानि न तेषां भक्षकाणां बुद्धत्वगुणदायकानि भवन्तीति, [2]तथागतवचनाप्रबोधत्वादिति।

ननु सर्वतन्त्रराजेषु तथागतेनोक्तानि पञ्चामृतानि योगिना भक्षणीयानि, इह कथमेषां प्रतिषेधः ? [इति] कस्यचिदभिप्रायो भविष्यति। तस्मादुच्यते—इह यद्वक्तव्यं बालजनैः पञ्चामृतादीनि भक्ष्याणि तथागतेनोक्तानि सर्वतन्त्रराजेषु, तत्सत्यम्, किन्तु योगिनां न प्राकृतसत्त्वानाम्। येषां मन्त्रबलेन ध्यानबलेन वा शोधितानि बोधितानि प्रदीपितान्यमृतीकृतानि विषाणि निर्विषाणि भवन्ति, मद्यानि क्षीराणि भवन्ति, विषोदकादीनि दुष्टानि सत्त्वानां मरण[192b]दायकानि रसायनानि भवति, अस्थीनि पुष्पाणि भवन्ति, दन्ता मुक्ताफलानि भवन्ति, कपालं पद्मं भवन्ति, मांसं पुत्रकेशो भवति, रक्तं सिह्लकं भवति, मूत्रं कस्तूरिका भवति, शुक्रं कर्पूरं भवति, गूथं चतुःसमं भवति, लोमानि कुङ्कुमकेशराणि भवन्ति। एवमनेकदुष्टद्रव्याणि दुष्टस्वभावपरित्यागात् शोधितानि बोधितानि प्रदीपितान्यमृतीकृतानि स्वभावशुद्धानि तथागतेनोक्तानि[3], न दुष्टस्वभावापरित्यागात्। तानि च विषादीनि स्वभावशुद्धान्यमृतीकृतानि योगिभिर्भक्षितानि शरीरे महाबलपुष्टिकराणि भवन्ति। गूथादीनि स्वभावशुद्धानि शरीरे विलेपितानि दिव्यगन्धमुद्वहन्ति। अतो योगिनां तथागतेनोक्तानि, नान्येषां देवतामन्त्रासाधितानां पर्वन्मूर्खाणां पण्डिताभिमानिनां वकमायाधराणां मठविहारद्रव्याभिलाषिणां प्रेतनरकजातौ जन्मोत्पादनिबद्धानां स्वार्थपरार्थभ्रष्टानां तन्त्रोक्तार्थविपरीतार्थसंदेशकानामपरीक्षजनस्य महामारकायिकानां भक्ष्याणि भगवतोक्तानीति। तैर्दुष्टचित्तैस्तानि विषादीनि दुष्टद्रव्याणि पञ्चामृतानि शोधितानि बोधितानि प्रदीपितान्यमृतीकृतान्यप्यनेककल्पैर्दुष्टस्वभावानि न परित्यजन्ति, दुष्टस्वभावापरित्यागात् स्वभावशुद्धानि न भवन्तीति। तस्मात्तेषां दुष्टद्रव्याणि(णां) ध्यानबलेन वा मन्त्रबलेन वा यावद् दुष्टस्वभावं हर्तुं न शक्नोति कुलपुत्रो वा कुलदुहिता वा भिक्षुर्वा भिक्षुणी वा उपासक उपासिका वा आदिकर्मिको वा वज्रयानरतः, तस्य वज्राचार्येण [4]गुरुणा आदिकर्मिकेण वा मन्त्रसामर्थ्ययुक्तेन वा

---

१. भो. rNam Par sNaṅ mDzad La Sogs Pa (वैरोचनादीनि) इत्यधिकम्। २. भो. Saṅs rGyas Kyi gSuṅ (बुद्धवचन)। ३. भो. rGyud Kyi rGyal Po Tham Cad Las gSuṅ Pa, De Ni bDen No (सर्वतन्त्रराजे, तत्सत्यम्) इत्यधिकम्। ४. भो. bLa Ma Dam Pa Las (सद्गुरुणा)।

विषादिपञ्चामृतादिभक्षणविलेपने नियमो न दातव्यः, अशुद्धविषादिभक्षणान्मरणं भवति, अशुद्धसमयविलेपनाल्लोकावध्यानं भवति, स्वाघातमरणाल्लोकावध्यानान्नरको भवति, कुमन्त्रिणां सत्त्वाशयपरित्यागादित्युक्तं **नामसंगीत्या**मध्येषणायां पञ्चदशमश्लोकेन—

प्रकाशयिष्ये सत्त्वानां यथाशयविशेषतः।
अशेषक्लेशनाशाय अशेषाज्ञानहानये ॥ इति।
(ना० सं० १.१५)

अतो भगवतो वचनात् सकलसत्त्वाशयवशेन शिष्याणां वज्राचार्येण नियमो दातव्यः, यथा स्वाघातमरणं लोकावध्यानं न भवत्यादिकर्मिकाणामिति। ननु यदीह लोकावध्याने नरको भवति, तदा सर्वदर्शनानि परस्परावध्यानं कुर्वन्ति, परस्परावध्यानात् सर्वदर्शनानि नरकं यास्यन्ति। एवं चेत् प्रमाणशास्त्राणि विरुद्धानि, सर्वसिद्धान्तान्यपि, व्रतशीलादिकं सर्वं निरर्थकं भवतीतीह कस्यचिदभिप्रायो भविष्यति। तस्मादुच्यते—इह यद्वक्तव्यं बालजनैः प्रमाणशास्त्रादिकं सर्वं विरुद्धम्, तन्न, कस्मात्? तत्त्वपरीक्षाचित्तान्न तेषां दर्शनानां परस्परवादिनां दोषोऽस्ति, परमार्थपरीक्षाश्रितचितात् सर्वसत्त्वापकारचित्ताभावात् सर्वसत्त्वोपकारचित्तात्। अत्र पुनर्विषादिपञ्चामृतादिभक्षणविलेपने लोकव्यवहारो न परमार्थपरीक्षा। विषादिपञ्चामृतादिकं च तत्त्वं न भवति, यस्य परीक्ष्यमाणा दोषा न भविष्यन्ति लोकावध्यानतोऽपि। तस्मात् [193a] सत्त्वाशयवशाद् धर्मदेशना बौद्धानां न सत्त्वाशयविरहितेति। आशयोऽपि सत्त्वानां देशकुलव्यवहारेण भवति, तस्मात्तेषां देशकुलव्यवहारेण लौकिकसंवृतिसत्येन लौकिकधर्मो देशनीयो वज्राचार्येण। लोकोत्तरं ज्ञानं पुनरुभयसत्यसाधारणं तदेव। न च भक्ष्याभक्ष्यग्रहणं भवति। भक्ष्याभक्ष्यं ह्युदरपरिपूरणमात्रम्, न शून्यतानिमित्ताप्रणिहितानभिसंस्कारचतुर्विमोक्षमुखविशुद्धिः। तस्मादादिकर्मिकेण [1]स्वदेशव्यवहारेण भक्ष्याभक्ष्यं कर्तव्यं कुलाकुलाभिगमनं च। कुत्रचिद्देशे कापालिककपालोदकेन शुद्धिर्भवति, कुत्रचिद्देशे गोमांसं भक्षणीयम्, कुत्रचिद्देशेऽश्वमांसम्, कुत्रचिद्देशे शुनो मांसम्, कुत्रचिद्देशे हस्तिमांसम्, कुत्रचिद्देशे नरमांसं भक्षणीयम्। एवमन्यदपि मांसं देशव्यव- T 440
हारेण सर्ववर्णावर्णानां भक्षणीयं सर्वथा। कुत्रचिद्देशे ब्राह्मणानां मद्यपानं विहितम्, कुत्रचिद्देशे शूद्राणां विहितम्, कुत्रचिद्देशे कुलीनाकुलीनानां विहितम्। कुत्रचिद्देशे श्वोच्छिष्टं भक्षणीयम्, कुत्रचिद्देशे भोजने कृते नाचमनम्, कुत्रचिद्देशे शूकरमांसं भक्षणीयम्, कुत्रचिद्देशे महिषमांसम्, कुत्रचिद्देशे छागलमांसम्। एवमन्यदपि मांसं देशव्यवहारेण वर्णावर्णैर्न भक्षणीयम्। कुत्रचिच्चण्डालाः श्रावकाः, कुत्रचिद्देशे चतुर्वर्णप्रवृत्तिः, कुत्रचिद्देशे सर्वैकवर्णप्रवृत्तिः। कुत्रचिद्देशे भर्तरि मृते सति पुत्रस्य माता भार्या भवति, कुत्रचिद्देशे भ्रातृभगिन्योर्विवाहः, कुत्रचिद्देशे मातुलकसम्बन्धः, कुत्रचिद्देशे कुलाकुलानां परस्पराभिगमनम्, कुत्रचिद्देशे ब्राह्मण्यो वेश्याव्यवहारं

---

१. भो. 'स्व' नास्ति।

कुर्वन्ति। एवमनेकदेशव्यवहारेण भक्ष्याभक्ष्यकुलाकुलाभिगमनं योगिना कर्तव्यमिति। तथा कुलदेवता--कस्यचित् कुले नागो देवता, कस्यचित् कुले छागल:, कस्यचित् कुले शूकर:, कस्यचिन्महिष:, कस्यचिद् घूक:। एवमन्येऽपि तिर्यञ्चोऽन्येषां कुलदेवता न मारणीया न भक्षणीयाश्च। तथा कस्यचित् कुलदेवता पलाश:, कस्यचिदर्क:, कस्यचिदश्वत्थ:, एवमन्येऽपि वृक्षा:। अन्येषां कुलदेवता न छेदनीया न भेदनीया:। अत्र लौकिकोऽपि प्रत्ययो दृश्यते। कस्मात्? स्वकुलोपद्रवात् स्वकुलोपकारात्। इह यस्य या देवता आराधिता उपकारं करोति, विरोधिता महोपद्रवं करोति, तस्मात्तेषां देशकुलव्यवहारेणादिकर्मिको व्यवहरति मन्त्रध्यानसाधनाभिरत:, यावन्मन्त्रसिद्धिर्भवति ज्ञानसिद्धिर्वा। तत: स्वेच्छया भक्ष्याभक्ष्यं गम्यागम्यं पेयापेयं करोति, न तस्य कोऽपि बाधां कर्तुं समर्थ इति। एवमादिकर्मिको मन्त्रे सिद्धे सति योगी भवति। मण्डलचक्रस्फारिताकाशगमनात् सिद्ध:, मारक्लेशापत्तिज्ञेयावरणक्षयात् सर्वाकार-ऋद्धिस्फरण-सिद्धिदर्शनाद् [193b] धर्मचक्रप्रवर्तनात् सर्वज्ञभाषया सकलधर्मस्कन्धसमूहदेशनावशात् सर्वज्ञो भवतीति। उक्तं भगवता प्रत्यवेक्षणाज्ञानस्तवे नामसंगीत्यां चत्वारिंशतिमादि-श्लोकत्रयेण [1]प्रज्ञाज्ञानयोग:। तद्यथा—

मायाजालमहोद्योग: सर्वतन्त्राधिप: पर:।
अशेषवज्रपर्यङ्को नि:शेषज्ञानकायधृक्॥

समन्तभद्र: सुमति: क्षितिगर्भो जगद्धृति:।
सर्वबुद्धमहारागो विश्वनिर्माणचक्रधृक्॥

सर्वभावस्वभावाग्र: सर्वभावस्वभावधृक्।
अनुत्पादधर्मा विश्वार्थ: सर्वधर्मस्वभावधृक्॥ इति।

(ना० सं० ८.३८-४०)

तथा तन्त्रराजेऽप्युक्तं पञ्चमपटले [2]षष्टितमादिवृत्तद्वयेन—

तैश्चाद्धि कालचक्र: प्रकटयति महानेकनिर्माणकायै-
र्वज्रज्वालास्फुरद्भिरसुर[3]सुरनृणां कामधातौ स्थितानाम्।
सम्भोगे रूपिणां वै नभसि जिनसुताद्यर्हतां धर्मकायै:
शून्यां[4]शै: शून्यकृत्स्नं त्रिभुवनसकलं वायुभिर्वायुकृत्स्नम्॥
तेजोंऽशैर्वह्निकृत्स्नं ह्युदकमपि जगत्स्फारितैश्चोदकांशै:
पृथ्वीकृत्स्नं धरांशै: समुदितविषयै: सर्ववस्तुस्वभावम्।
एकात्मानं समन्ताद् गगनसममिदं दर्शयेच्छुद्धभूम्या-
मेवं बुद्धस्य कायो भवति न म्रियतेऽप्येकसौख्यस्वभावात्॥ इति।

(का० त० ५.६०-६१)

---

१. भो. gÑis Su Med Paḥi Ye Śes Kyi rNal ḥByor (अद्वयज्ञानयोग:)। २. च. एकोनषष्टि। ३. भो. 'सुर' नास्ति। ४. च. श्लोकेऽस्मिन् सर्वत्र 'अंशै:' इत्यस्य स्थाने 'अङ्गै:'।

अतो भगवतो वचनात् पञ्चामृतभक्षणाद् मन्त्रजापमण्डलचक्रविकल्पभावनाबलाद् योगी सम्यक्सम्बुद्धो न भवतीति।

ननु भगवतोक्तं मण्डलचक्रे साक्षात्कृते सति योगिनां महामुद्रासिद्धिर्भवति, तदिह कथं मण्डलचक्रेऽपि साक्षात्कृते योगी सर्वज्ञो न भवतीतीह केषाञ्चिदभिप्रायो भविष्यति। तस्मादुच्यते—इह पूर्वमेवोक्तं मण्डलचक्रं विकल्पजालं प्रादेशिकं प्रादेशिकसिद्धिफलदम्। अथ मूर्खाणां भ्रान्तिरियममुकसिद्धिः कर्ममुद्रां गृहीत्वा, इह गुटिकाबलेन मन्त्रबलेन सप्तावर्तबलेन खड्गादिबलेन ध्यानबलेन वा मण्डलचक्रसाधनबलेन वाऽदृश्यो भवति, न सर्वावरणविनिर्मुक्तः सर्वज्ञो भगवान् वज्रसत्त्वो भवतीति। उक्तं भगवता **नामसंगीत्यां** वज्रधातुमहामण्डलस्तवे महामुद्राधृक्। तद्यथा—

महाध्यानसमाधिस्थो महाप्रज्ञाशरीरधृक्।
महाबलो महोपायः प्रणिधिज्ञानसागरः॥ इति।
(ना० सं० ५.१०)

अतो भगवतो वचनान्नेयं महामुद्रासिद्धिः। महामुद्रा सर्वधर्मनिःस्वभावलक्षणा सर्वाकारवरोपेता प्रज्ञापारमिता बुद्धजननी, धर्मोदयशब्देनापि सा उच्यते। तस्माद्धर्मोदयात् सर्वधर्माणां निःस्वभावेन उदयो भवति। निःस्वभावा धर्मा दशबलवैशारद्यादयश्चतुरशीतिसहस्रधर्मस्कन्धाः, तेषामुदयभूतो धर्मोदयो बुद्धक्षेत्रं बुद्धबोधिसत्त्वानां निवासो रतिस्थानं जन्मस्थानं च, न पुनर्यस्माद् रक्तमूत्रशुक्राणामुदयः स धर्मोदय इति। इह संसारिणां रागविरागक्षेत्रं न तथागतानामिति। तस्माद्धर्मोदयो(या) धर्मधातुस्वरूपिणी विश्वमाता कालचक्रे भगवताऽऽलिङ्गिता सर्वदा सर्वावरणरहिता। इह राग उत्पादकालः, च्युतिर्निरोधकालः, [194a] तयोः समापत्तिरक्षरकालः। तस्य चक्रं वज्रधातुमहामण्डलमिति स्कन्धधात्वायतनं निरावरणं वज्रधातुमहामण्डलमित्युच्यते। अनेनाक्षरोत्पन्नेन सा अनुत्पन्ना महामुद्रालिङ्गिता इति। इमां महामुद्रां यः कश्चिद् जन्मान्तरपुण्यवासनावशात् सद्गुरूपदेशादनेककालं रात्रिन्दिवं सर्वधर्मकल्पनारहितां स्वचित्तप्रतिभासमात्रां सर्वाकारवरोपेतां महाशून्यतां सहजानन्दजननीं साक्षात्कृत्वाऽऽलिङ्गयति, [1]स महामुद्रासिद्धिं प्राप्तः सर्वज्ञो भगवानित्युच्यते। तस्मादादिकर्मिकेण योगिकृत्यं न कर्तव्यम्, योगिना सिद्धकृत्यं न कर्तव्यम्, सिद्धेन सर्वज्ञकृत्यं न कर्तव्यम्। एवमादिकर्मिकेण प्रागुक्तविधिना भक्ष्याभक्ष्यादिकं कर्तव्यमिति। अथ पापमतीनां [2]भक्त्या दैत्यानामसद्गुरूपदेशधर्माणां वचनमिह तथागतेनोक्तं **तन्त्रराजेषु** सर्वसमया निर्विकल्पचित्तेन भक्षणीयाः। तस्मात् प्रथमं तावत् पञ्चामृतादि भक्षयामः, पश्चात्तदभ्यासवशात् समयसिद्धिर्भविष्यति, समयसिद्धिवशाद् विषादीन्यभक्ष्याणि भक्ष्याणि भविष्यन्ति, गूथादीनि दुर्गन्धानि [3]सुगन्धानि भविष्यन्तीति। इह वचनात् T 441

१. च. समयमुद्रा। २. भो. bZaḥ Bar Bya Ba (भक्ष्या)। ३. च. 'सुगन्धानि' नास्ति।

परमविरोधः। कथं प्रथमं तावदग्निप्रवेशः कर्तव्यः, पश्चादभ्यासवशादग्निस्तम्भनं भविष्यति। न चैवम्, इह महादुष्टानां परवञ्चकानां सर्वज्ञशासनविडम्बकानां महासमयभेदिनामवीचीनरकगामिनामशुद्धचित्तानां यदि विशुद्धं चित्तम्, [1]तदा योगिकृत्यं किं ते न कुर्वन्तीति। इह विशुद्धचित्ताद् योगी वह्निं प्रविशति न च वह्निना [2]दह्यते, मत्तगजेन्द्रं स्तम्भयेन्न मत्तगजेन्द्रेण मार्यते, सिंहव्याघ्रादिकमारोहते न सिंहव्याघ्रादिकेन विदार्यते, काकपेयां नदीं प्रविशति नदीप्रवाहेन [3]न नीयते, विषं भक्षयति न विषेण मूर्च्छितो भवति, खड्गादिशस्त्राणि भक्षयति न शस्त्रैर्मुखे च्छिद्यते। तथा भक्ष्याभक्ष्यं करोति, स्वपररूपपरिवर्तनं करोति। एवमनेकाकाराणि योगिकृत्यानि न चादिकर्मिकः करोति। उक्तं भगवता योगिनां दशधा व्यवस्थानम्—प्रथमं चित्तोत्पादादिको योगी पश्चाद्बालभूतः कुमारभूत आदिकर्मिको योगाचारजन्मजः प्रयोगसम्पन्न आशयसम्पन्नोऽवैवर्तिकोऽभिषेकप्राप्त एकजातिप्रतिबद्धश्चेति। ततो बोधिसत्त्ववशिता दश भवन्ति—आयुर्वशिता, कर्मवशिता, परिष्कारवशिता, अधिमुक्तिवशिता, प्रणिधानवशिता, ऋद्धिवशिता, उपपत्तिवशिता, धर्मवशिता, चित्तवशिता, ज्ञानवशिता चेति। दश भूमयः—प्रमुदिता, विमला, प्रभाकरी, अर्चिष्मती, सुदुर्जया, अभिमुखी, दूरङ्गमा, अचला, साधुमती, धर्ममेघा चेति। तथा दश पारमिता परिपूर्णा भवन्ति—दान-शील-क्षान्ति-वीर्य-ध्यान-प्रज्ञा-उपाय-प्रणिधि-बल-ज्ञानपारमिताश्चेति। एवं योगी बोधिसत्त्वो भवति। उक्तं भगवता नामसंगीत्यां सुविशुद्धधर्मधातुस्तवे तृतीय-चतुर्थश्लोकाभ्याम्[4]—

दशपारमिताप्राप्तो दशपारमिताश्रयः।
दशपारमिताशुद्धिर्दशपारमितानयः॥

दशभूमीश्वरो नाथो दशभूमिप्रतिष्ठितः।
दशज्ञानविशुद्धात्मा दशज्ञानविशुद्धिधृक्॥ इति।
(ना० सं० ६.२-३)

अतो योगी विशुद्धचित्तो बोधिसत्त्वो भगवता[194b] उक्त इति। इह मन्त्रयाने केचिद् वीरक्रमेण स्वाधिष्ठानक्रमेण वा महानिशायां श्मशानभूम्यां प्रविश्य एकवर्षं द्विवर्षं वा द्वादशवर्षपर्यन्तं वा [5]मरणपर्यन्तं वा मन्त्रजापहोमध्यानबलेन हेरुकं भगवन्तं साक्षात्कर्तुमसमर्थाः, तथा पर्वतोद्यानसरित्समुद्रतटादिकेषु विजनस्थानेषु समन्तभद्रादिदेवतां च। स्वपरार्थनिमित्तं हीनवीर्याः सन्तः कर्मसाधनविषये स्वगृहे मन्त्रजापहोम[6]बलिध्यानमण्डलचक्रादिभावनां कृत्वाऽस्थानाकालवशादसिद्धमन्त्रदेवताविरक्तचित्ताः, तथाविशुद्धक्रमेण महामुद्राभावनामार्गभ्रष्टाः सद्गुरूपदेशरहिता महोच्छेदे पतिताः सन्तो दुष्टगुरवो बालमतीनां गम्भीरोदारधर्मापरीक्षकाणां प्रज्ञापारमितां देशयिष्यन्ति।

---

१. च. तथा। २. च. रक्ष्यते। ३. च. 'न' नास्ति। ४. भो० ḥDi lTa sTe (तद्यथा) इत्यधिकम्। ५. भो. 'मरणपर्यन्तं वा' नास्ति। ६. च. 'बलि' नास्ति।

तद्यथोक्तं भगवता तथागतेन **प्रज्ञापारमितायाम्**—"निर्विकल्पाः सर्वधर्माः शून्याः सर्वधर्मा अनिमित्ताः सर्वधर्मा अप्रणिहिताः सर्वधर्माः संस्काररहिताः सर्वधर्मा उत्पादरहिताः सर्वधर्मा अनक्षराः सर्वधर्मा हेतुशून्याः सर्वधर्मा अचिन्त्याः सर्वधर्माः" इति।

तस्मात् सर्वज्ञफलावाप्तये बोधिसत्त्वेन महासत्त्वेन सर्वधर्मनिरपेक्षकेण भवितव्यम्, न रूपस्कन्धे स्थातव्यम्, न वेदनायां न संज्ञायां न संस्कारे न विज्ञाने न पृथ्वीधातौ स्थातव्यम्, नाब्धातौ स्थातव्यम्, न तेजोधातौ न वायुधातौ न शून्यधातौ न चक्षुर्धातौ स्थातव्यम्, न रूपधातौ न चक्षुर्विज्ञानधातौ न श्रोत्रधातौ न शब्दधातौ न श्रोत्रविज्ञानधातौ न घ्राणधातौ न गन्धधातौ न घ्राणविज्ञानधातौ न जिह्वाधातौ न रसधातौ न जिह्वाविज्ञानधातौ न कायधातौ न स्पर्शधातौ न कायविज्ञानधातौ, न मनोधातौ न धर्मधातौ न मनोविज्ञानधातौ स्थातव्यमिति।

एवं प्रज्ञापारमिताऽचिन्त्यतथागतज्ञानं सम्यक्सम्बुद्धत्वलाभाय भगवतोक्तम्। अचिन्त्यं कस्माद्? रागविरागस्वभावात्। इह हि सत्त्वानां यदा चिन्तनं प्रवर्तते तदा परमेष्टवस्तुषु रागो भवति, अनिष्टवस्तुषु विरागः, तौ रागविरागौ संसारकारणौ भवतः। यदा पुनस्तथागतज्ञानं निश्चिन्तनं वर्तते तदा नेष्टवस्तुषु रागो नानिष्टवस्तुषु विरागो भवति, तयोरभावादेव संसाराभावस्तदभावात् सम्यक्संबुद्धत्वं भवति। T 442 अतो बुद्ध[त्व]साधनं निश्चिन्तनं ताथागतं ज्ञानम्, नान्यो विकल्पः समाधिः। एवमप्रबुद्धा निश्चिन्तनं ज्ञानमिच्छन्तो वदिष्यन्ति महोच्छेदे पतिताः केचित्। तस्मादुच्यते—इह हि यदि निश्चिन्तनं ज्ञानं बुद्धत्वदायकं तदा सर्वे सत्त्वाः किन्न बुद्धा बभूवुः, एषामपि गाढनिद्रायां निश्चिन्तनं ज्ञानं प्रवर्तते, नेष्टवस्तुषु रागो नानिष्टवस्तुषु विरागः। तस्मात् तस्यां सुषुप्तावस्थायां रागविरागौ न स्याताम्, न च तेन निश्चिन्तनज्ञानेन सर्वे सत्त्वाः सम्यक्सम्बुद्धा बभूवुः, तस्मान्निश्चिन्तनं ज्ञानं ताथागतं न भवति, यस्मात् समाधिपटले **प्रज्ञापारमितायां** समाधयो भगवतोक्तास्तत्र रत्नप्रदीपो नाम समाधिः।

इह य[195a]दि रत्नप्रदीपचिन्तनं नास्ति प्रतिभासो वा, तदा रत्नप्रदीपो नाम समाधिः कथं स्यात्। एवमन्येऽपि समाधयो निश्चिन्तना न भवन्ति, स्वसंवेद्यलक्षणात्, जडशून्यताभावात्। अथ बालानां वाक्यमिदं ताथागतं ज्ञानं यदि स्वसंवेद्यं तदा सर्वधर्मा निःस्वभावाः कथं तथागतेनोक्ता इति? अत्रोच्यते—इह ताथागतं ज्ञानं सर्वधर्माणां निःस्वभावतावबोधनं नाम, न सर्वाभावलक्षणं सुषुप्तचित्तम्। उक्तं **प्रज्ञापारमितायाम्**—"अस्ति तच्चित्तं यच्चित्तमचित्तम्" (अ० स०, पृ० ३) इति। प्रकृतिप्रभास्वरं नाम यदि स्वसंवेद्यं ताथागतं ज्ञानं न भवति, तदा सत्त्वाशयवशात् तथागतस्य धर्मदेशना न स्यात्। सर्वधर्मा अप्रबोधाः, असंवेद्यत्वात्। अथेन्द्रियद्वारिकं स्वसंवेद्यम्, तदा निष्कलं सर्वगं सर्वव्यापि न भवति, सर्वावरणात्। तस्मात्ताथागतं ज्ञानं स्वसंवेद्यं सर्वधर्मस्वभावज्ञं निर्विकल्पमनिन्द्रियमिति। उक्तं भगवता **नामसंगीत्यां** प्रत्यवेक्षणाज्ञानस्तवे विंशतिमादिश्लोकत्रयेण[1]—

१. भो. ḥDi lTa sTe (तद्यथा) इत्यधिकम्।

निर्वाणं निर्वृतिः शान्तिः श्रेयो निर्याणमन्तगः।
सुखदुःखान्तकृन्निष्ठा वैराग्यमुपधिक्षयः॥
अजयोऽनुपमोऽव्यक्तो निराभासो निरञ्जनः।
निष्कलः सर्वगो व्यापी सूक्ष्मो बीजमनास्रवः॥
अरजो विरजो विमलो वान्तदोषो निरामयः।
सुप्रबुद्धो विबुद्धात्मा सर्वज्ञः सर्ववित् परः॥ इति।
(ना० सं० ८.२०-२२)

तथा कृत्यानुष्ठानस्तवे [1]त्रयोदशमेन श्लोकेन। तद्यथा—

आत्मवित् परवित् सर्वः सर्वीयो ह्यग्रपुद्गलः।
सर्वोपमामतिक्रान्तो ज्ञेयो ज्ञानाधिपः परः॥ इति।
(ना० सं० १०.१३)

तन्त्रराजेऽप्युक्तं पञ्चमपटले नवनवतिमेन वृत्तेन[2]—

सर्वाकारं ह्यगम्यं विषयविषयिणां कायवज्रं जिनस्य
वाग्वज्रं सर्वसत्त्वस्वहृदयरुतकैर्धर्मसम्पादकं यत्।
सत्त्वानां चित्स्वभावं सकलभुवि गतं वज्रिणश्चित्तवज्रं
भावानां ग्राहकं यद् विमलमणिरिव ज्ञानवज्रं तदेव॥
(का० त० ५.९९)

अतो निरिन्द्रियं स्वसंवेद्यं ताथागतं ज्ञानमिति।

ननु यदि स्वसंवेद्यं ताथागतं ज्ञानं तदा स्कन्धधात्वायतनाभावान्न संभवति, उक्तं भगवता तन्त्रराजेषु—

"स्कन्धाभावे प्रज्ञाज्ञानं नोपलभ्यते, द्वीन्द्रियसंयोगात्। बोधिचित्तनिर्गमकाले सहजविरमयोर्मध्ये बिन्दुत्रयावसानिकमेकक्षणमात्रं समन्तभद्रं महासुखज्ञानम्, एतदेव स्वसंवेद्यमुक्तम्" इति।

इह कथं बोधिचित्तबिन्दुर्निर्वाणरहितं निरिन्द्रियं समन्तभद्रं महासुखज्ञानं भवति, खपुष्पं वन्ध्यापुत्रेणाघ्रातमिव विचार्यमाणं निरर्थकम्[इति] इह केषाञ्चिदभिप्रायो भविष्यति। तस्मादुच्यते—नैतदेवं तथागतेनोक्तं बोधिचित्तबिन्दुः क्षरसुखं समन्तभद्रं महासुखं प्रज्ञाज्ञानम्, यस्मात् "चतुर्थं तत्पुनस्तथा" (गु० त० १८.११२) इति प्रतिषेधवचनात्। इह यदि तृतीयं क्षरसुखं प्रज्ञाज्ञानं समन्तभद्रं महासुखं चतुर्थं भवति, तदभिहितस्याभिधानं भवति। न चैवं युक्तम्, कस्मात्? पुनरुक्तदोषप्रसङ्गात्। यथा

---

१. च. षोडशमेन। २. भो. ḥDi lTa sTe (तद्यथा) इत्यधिकम्।

हस्त इत्युक्ते सति पुनर्हस्त इति, एवं पुनर्दधि। इह बालोन्मत्तवचनं न पण्डितानाम्। तस्माच्चतुर्थमिति वचनात् तृतीयं न भवति, "तत्पुनस्त[195b]था" इति वचनात् प्रज्ञाज्ञानं तदेव। अतो भगवतो वचनाद् अप्रबोद्धारो नष्टा वदिष्यन्तीह—"चतुर्थं तत्पुनस्तथा" इति शब्देन भगवता तृतीयमुक्तं चतुर्थं नाम न स्यात्। इहाधर्मप्रवृत्तिर्बालानां द्वीन्द्रियोत्पन्नक्षरसुखाभिलाषिणां महाक्षरसुखज्ञानभ्रष्टानामिति। तस्माद् बोधिचित्तच्युतिसुखं समन्तभद्रं महासुखज्ञानं चतुर्थं न भवति। उक्तं भगवता **नामसंगीत्यां** कृत्यानुष्ठानज्ञानस्तवे तृतीयश्लोकेन—

सर्वाकारो निराकारः षोडशार्धार्धबिन्दुधृक्।
अकलः कलनातीतश्चतुर्थध्यानकोटिधृक्॥ इति।
(ना० सं० १०.३)

तन्त्रराजेऽप्युक्तं पञ्चमपटले [1]षड्विंशत्यधिकशततमेन वृत्तेन। तद्यथा—

एवं चित्तं चतुर्धा त्रिविधभवगतं प्राणिनां बिन्दुमध्ये
योगीन्द्रै रक्षणीयं समसुखफलदं व्यापकं मोक्षहेतोः।
बिन्दोर्मोक्षे क्व मोक्षः परमसुखगते योगिनां जन्मबीजे T 443
तस्मात् संसारसौख्यक्षण इह यतिभिः सर्वदा वर्जनीयः॥ इति।
(का० त० ५.१२६)

अतश्चतुर्थं तृतीयं न भवति। इह यदि बिन्दुस्तत्तृतीयं प्रज्ञाज्ञानं चतुर्थं तदेव तदा षोडशार्धार्धबिन्दुधृग् भगवान्न भवति, यदि चतुर्थो विरामस्तदा आनन्द-परमविरम-सहज-चतुर्थध्यानकोटिधृग् न भवति। अतो निरिन्द्रियं स्वसंवेद्यं ताथागतं ज्ञानमिति। तस्माद् योगिना बोधिचित्तं सुदृढं रक्षणीयम्, न मोक्षणीयम्। न चान्ये बिन्दवः शरीरे बाह्ये वा सन्ति बोधिचित्तबिन्दुरहिता मूत्रतोयादयः, ये बुद्धत्वफलदायका भविष्यन्तीति, तन्न, यदि चतुर्थं प्रज्ञाज्ञानं तृतीयं न भवति, भगवांश्च बिन्दुधृक्, तदा "तत्पुनस्तथा" इति वचनात् प्रज्ञाज्ञानं किं भविष्यतीति केचिदत्र वदिष्यन्ति, तस्मादुच्यते—

इह वज्रयाने लौकिकलोकोत्तरसत्यमाश्रित्य भगवता त्रिधा प्रज्ञा प्रोक्ता—कर्ममुद्रा, ज्ञानमुद्रा, महामुद्रा इति, एकाभिधानतः। तासु कर्ममुद्राज्ञानमुद्रासुखं स्पन्दलक्षणं महामुद्रासुखं निःस्पन्दलक्षणं योगिनो भवति। इह यदि प्रज्ञाया ज्ञानं प्रज्ञाज्ञानं च्युतिलक्षणं प्रज्ञाहेतुनोत्पन्नं फलमुपायस्य प्रज्ञाज्ञानं तदोपायहेतुनोत्पन्नं फलं प्रज्ञाया उपायज्ञानं भवति महामुद्रासिद्ध्यर्थम्। एवं परस्परापेक्षिकत्वाद् द्वे ज्ञाने भवतः। एवमुभयोः प्रत्येकज्ञाने सत्यद्वयज्ञानाभावः, अद्वयज्ञानाभावाद् बुद्धत्वस्याप्यभावो भवति, विशुद्धपरमाक्षरज्ञानरहितत्वादिति। अथ प्रज्ञाया ज्ञानं प्रज्ञाज्ञानं यदि, तदा

---

१. च. पञ्चविंशत्यधिक।

उपायस्य ज्ञानं उपायज्ञानमिति, एवं पूर्ववद्दोष इति। उक्तं भगवता नामसंगीत्यां प्रत्यवेक्षणाज्ञानस्तवे षट्त्रिंशतिमादिश्लोक[1]द्वयेन विशुद्धं परमाक्षरज्ञानम्। तद्यथा—

संबुद्धवज्रपर्यङ्को बुद्धसङ्गीतिधर्मधृक्।
बुद्धपद्मोद्भवः श्रीमान् सर्वज्ञज्ञानकोषधृक्॥
विश्वमायाधरो राजा बुद्धविद्याधरो महान्।
वज्रतीक्ष्णो महाखड्गो विशुद्धः परमाक्षरः॥ इति।
(ना० सं० ८.३४-३५)

तन्त्रराजेऽप्युक्तं साधनापटले एकोनद्विशतादिवृत्ताभ्यां महामुद्रालक्षणम्—

त्यक्त्वेमां कर्ममुद्रां सकलुषहृदयां कल्पितां ज्ञानमुद्रां
सम्यक्सम्बोधिहेतोर्जिनवरजननीं भाव[196a]येद् दिव्यमुद्राम्।
निर्लेपां निर्विकारां खसमहततमां व्यापिनीं योगगम्यां
कूटस्थां ज्ञानतेजां भवकलुषहरां कालचक्रानुविद्धाम्॥
(का० त० ४.१९९)

मुद्रा मायानुरूपा नभसि मनसि वै रूपवद्दर्पणे च
त्रैलोक्यं भासयन्ती तडिदनलनिभानेकरश्मीन् स्फुरन्ती।
बाह्ये देहेष्वभिन्ना विषयविरहिताऽऽभासमात्राऽम्बरस्था
चित्तं चेतोमयालिङ्गयति च जगतोऽनेकरूपस्य सैका॥ इति।
(का० त० ४.१९८)

मूलतन्त्रेऽप्युक्तम्—

कर्ममुद्रां परित्यज्य ज्ञानमुद्रां विकल्पिताम्।
परमाक्षरयोगेन महामुद्रां विभावयेत्॥ इति।

अतो भगवतो नियमात् कर्ममुद्रासुखं समन्तभद्रपरमाक्षरसुखं न भवति, तथा मण्डलचक्रभावनाविकल्पितप्रज्ञासुखं समन्तभद्रं परमाक्षरसुखं न भवति, विकल्पापरित्यागात्। अधुनाऽसद्गुरूपदेशाद् महामुद्राज्ञानभ्रष्टाः पशुत्वं कुर्वन्ति बुद्धत्वं नास्ति, महामुद्राज्ञानाभावात्। महामुद्राज्ञानमप्रतिष्ठितं योगिनामसद्गुरुमर्गिरहितः प्रतिपादयितुं न शक्नोति। मार्गोऽपि—"चतुर्थं तत्पुनस्तथा" (गु० त० १८.११२) इति। एवं चतुर्थाभिषेकाप्रबोधात् सर्वेऽभिषेका निरर्थकाः स्युरिति।

ननु यदि समन्तभद्रं परमाक्षरसुखम्, तदेव चतुर्थं महामुद्राज्ञानं महामुद्रारहितं न भवति। तदियं किमर्थं द्वीन्द्रियसमापत्त्या महासुखभावना भगवतोक्ता? अनया भावनया इह जन्मनि बुद्धत्वं वज्रधरत्वं चोक्तमितीह कस्यचिदभिप्रायो भविष्यति,

१. च. त्रयेण।

तस्मादुच्यते—इह यदुक्तं भगवता द्वीन्द्रियसमापत्त्या महासुखसाधनं तत्सत्यम्, उक्तं भगवता तन्त्रराजे पञ्चमपटले [1]एकोनद्विशततमेन वृत्तेन—

सत्त्वा रागेण येन प्रलयमुपगतास्तायिनस्तेन मुक्ताः
सत्त्वा यद्रक्षयन्ति प्रतिदिनसमये तायिनस्तद्ददन्ति।
सत्त्वा यन्मोचयन्ति स्वहृदिगतसुखं तज्जिना रक्षयन्ति
तेनेदं दुष्करं स्याज्जिनवरचरितं देवनागासुराणाम् ॥ इति।

(का० त० ५.१९९)

इह सत्त्वा येन रागेण च्युतेन प्रलयं मरणमुपगताः, तेनैवाच्युतेन परमाक्षरभूतेन तायिनो बुद्धा मुक्ता भवन्ति। सत्त्वा यद्रक्षयन्ति पुत्रदारादिकं तायिनस्तं ददन्ति। सत्त्वा यन्मोचयन्ति महासुखं तद् बुद्धा रक्षयन्ति। तेन कारणेन देवासुरमनुष्यनागानां दुष्करं चरितं तथागतानां विकुर्वितं यदेव तदेव योगिना बोधिचित्तमच्युतं कर्तव्यं यथानुक्रमेण परमाक्षरसाधनार्थम्। तेन द्वीन्द्रियसमापत्त्या सुखभावनोक्ता न बोधिचित्तच्यवनावस्था। इयं च्युतिवासना सत्त्वानामनादिकालेनागन्तुकमलस्वभावा, तया संसारः। सा येन मुद्रासङ्गेन च्युतिवासना भवति, तेनैव सङ्गेनाच्युतिवासना भविष्यति, सूतकाग्निवत्। उक्तं भगवता **तन्त्रराजे** साधनापटले [2]चतुर्विंशत्यधिकद्विशततमेन वृत्तेन—

सूतस्याग्ने रिपुत्वं न शिखिविरहितः सूतबन्धः कदाचिद्
नाबद्धो हेमकर्ता कनकविरहिता वादिनां नैव भोगाः।
एवं स्त्रीसङ्गहीनो नहि भवति [3]नृणां सर्वदा चित्तबन्धो
नाबद्धः कायवेधी परमसुखमिहाविद्धकायो ददाति ॥ इति।　　2. T 444

(का० त० ४.२२४)

इह यथाग्निस्पर्शात् सूतकः प्रपलायति, [196b] सोपायेन तेनैवाग्निना बध्यते, तथा धर्मोदयस्पर्शाद्बोधिचित्तं प्रपलायति, सोपायेन तेनैव बध्यते। यथाग्निना रसो बद्धः सर्वलोहानि हेमं करोति, एवं धर्मोदयसङ्गेन बोधिचित्तं बद्धं स्कन्धधात्वायतनादिकं निरावरणं करोति। अतो रसबोधिचित्तयोरतर्क्यः प्रभावो मूर्खैर्विचारयितुं न शक्यते। तस्मात् कर्ममुद्राप्रसङ्गेऽपि देवतालम्बनं प्रोक्तं बोधिचित्तस्य स्थिरीकरणार्थम्, रसस्य स्वेदनजारणादिकमिव। न पशुकर्मकमलप्रविष्टस्य बोधिचित्तस्य भक्षणं तथागतेनोक्तमिति। उक्तं भगवता **तन्त्रराजे** पञ्चमपटले [4]त्रिसप्ततितमेन वृत्तेन कर्ममुद्रादिसाधनम्। तद्यथा—

---

१. च. द्व्यशीत्यधिक। २. च. द्वात्रिंशत्य। ३. मु. भो. योगिनां। ४. च. द्वात्रिंशतिमेन।

सेव्यादौ कर्ममुद्रा जिनसहजसुखस्यास्य वृद्ध्यर्थहेतो-
स्तस्मादादित्यरूपा मुखकरचरणोष्णीषसर्वाङ्गपूर्णा ।
विद्युद्दण्डानुरूपाऽच्युतसुखजननी लक्षणाङ्गप्रपूर्णा
वज्रैरुद्भासयन्ती त्रिभवगततनुर्धर्मधातुस्ततः स्यात् ॥ इति ।
(का० त० ५.७३)

पुनस्तत्रैव पटले [1]त्रयोदशाधिकशततमेन वृत्तेनोक्तम्—

चित्तस्याभासमात्रा स्वमनसि जनिताऽऽदर्शबिम्बोपमा वै
योगीन्द्रैः सेवनीया सकलजिनसुतैः सेविता या च बुद्धैः ।
सा ज्ञानार्चिः प्रबुद्धा दहति सविषयं मारवृन्दं समस्तं
रागादींश्चापि काये ददति समसुखं योगिनां वर्षयोगात् ॥ इति ।
(का० त० ५.११३)

अतो भगवतो नियमाद् द्वीन्द्रियसमापत्त्याऽपीयं महामुद्रा स्वचित्तप्रतिभासमात्रा योगिना भावनीयाऽऽबोधिपर्यन्तं बाह्येन्द्रियजनितं क्षरसुखं विहायेति ।

ननु तथागतेनोक्तं स्कन्धधात्वायतनाभावे द्वीन्द्रियसंयोगरहितं प्रज्ञाज्ञानं स्वसंवेद्यं न भवति, अच्युतत्वात् । कथं योगी स्वचित्तप्रतिभासे स्वचित्तेनानुषङ्गं कृत्वा स्वचित्तं निरावरणं करोति, महाक्षरसुखज्ञानं चोपभुङ्क्ते, परमाणुसंदोहशरीराभावात् । एतदेव विपरीतम्; देवदत्त आत्मनः स्कन्धमारुह्य ग्रामं गच्छतीति, इह कस्यचिदभिप्रायो भविष्यति, तस्मादुच्यते—इह हि यद्वक्तव्यं मूर्खैः परमाणुसन्दोहात्मकैः स्कन्धधात्वायतनैर्विना चित्तमात्रेण प्रज्ञाज्ञानं स्वसंवेद्यं न भवति, तन्न, कस्मात् ? आगन्तुकचित्तवासनावशात् । इह स्कन्धधात्वायतनं नाम आगन्तुकचित्तवासना, तस्याः प्रसादेन चित्ते सुखदुःखवेदना प्रविशति, परमार्थतो विचार्यमाणे नास्य शरीरस्य क्षुद्रोपद्रवेणेति । इह परमाणुसंदोहात्मकं शरीरं स्वप्नावस्थायां प्रपतितं तिष्ठति, नास्य क्षुद्रोपद्रवः कश्चिदस्ति, येन चित्ते दुःखं प्रविशति । इह सर्वलोकेषु प्रसिद्धम्, तस्यामेवावस्थायामन्यच्चित्तवासनात्मकं शरीरं परमाणुसन्दोहरहितं देशान्तरं व्रजन् प्रतिभासते, तस्य देशान्तरं व्रजतः शरीरस्य चौरादिभिरुपद्रवे कृते सति तेनोपद्रवेण चित्ते दुःखं प्रविशति, तेन दुःखेनाक्रन्दति । तदिदं महात्यद्भुतम् । शरीरं विना चौरादिभिर्विना स्वसंवेद्यं [197a] दुःखज्ञानं प्रवर्तते चित्तस्य । एवं स्वप्ने महाकामोपभोगैश्चित्ते सुखं प्रविशति तदेवाश्चर्यम्, शरीरेण विना [2]कामोपभोगैर्विना स्वसंवेद्यं सुखज्ञानं चित्तस्य प्रवर्तते सत्त्वानामिति । एतदेव पण्डितैर्विचारयितुं न शक्यते प्रादेशिकज्ञानमपि, किं पुनः संसारवासनातिक्रान्तं निर्वाणवासनोद्भूतं योगिस्वसंवेद्यं समन्तभद्रं महाक्षरसुखज्ञानं वितर्कयितुं न शक्यते मूर्खैरिति ।

---

१. च. एकादशा । २. भो. ḥDod Pa Chen Po (महाकामो) ।

अथ पापमतीनां तीर्थिकानां प्राणवायुतत्त्वरतानां वचनमिदम्—इह स्वप्नावस्थायां परमाणुसन्दोहात्मकशरीरे निश्वास-उच्छ्वासोऽस्ति(सौ स्तः), तयोर्निश्वास-उच्छ्वासयोः प्रभावादवस्थात्रयं भवति, न निश्वासोच्छ्वासाभावादिति। एतदेव विचार्यते—इह हि यदि निश्वासोच्छ्वासाभ्यां विना चित्ते स्वप्नावस्था नास्ति, तदा कथं मृत्युमूर्च्छावस्थायां निश्वासोच्छ्वासाभ्यां विना प्रहरमेकं यावच्चित्तप्रतिभासो भवति, यमदूतैर्नीयमानं शरीरं यमराजाज्ञया यमपुरं प्रतिभासते। अत्र यमपुरे यमराजोऽपि प्रतिभासते। स यमस्तस्य नीतशरीरस्य पुण्यपापविचारं करोति। विचार्यात्र वदति—यथाऽस्याद्याऽऽयुःक्षयो न भवति, तस्मादिमं सत्त्वं शीघ्रं मर्त्यलोके नयत यावदस्य शरीरं न विनश्यति। यमदूतानां नियमो भवति। तेन नियमेन ते यमदूतास्तच्छरीरं मर्त्यलोके क्षिपन्ति। तत्र क्षिप्ते सति चित्तवासनावशेन पुनस्तस्य मृतशरीरस्य निश्वासोच्छ्वासौ भवतः। तदाऽपरवासनावशेन जाग्रदवस्था भवति। तस्यामवस्थायां चित्तप्रबोधाद् बन्धुवर्गस्य यमराजाख्यानं कथयति। तस्मात् शरीरं विना निःश्वासोच्छ्वासाभ्यां विनाऽप्यनादिचित्तवासनाऽऽगन्तुका [1]पुनर्जातिवशाद् भवति सत्त्वानाम्, न स्वाभाविकी। यदीयं संसारवासना स्वाभाविकी भवति, तदा सत्त्वानां बुद्धत्वं नाम न स्यात्। येन कारणेनागन्तुका तेन कारणेनास्याः क्षयो भवति, तत्क्षयाद् बुद्धत्वं तथागतेनोक्तम्। एवमनेकप्रकारैर्विचार्यमाणः स्वचित्तवासनामात्रोऽयं संसारः, नान्यः कश्चित्। संसारवासनापि च्युतिलक्षणः क्षणो नाक्षरः। निर्वाणवासनाऽच्युतिलक्षणः क्षणो न क्षर इति। उक्तं च भगवता तन्त्रराजेऽध्यात्मपटले द्व्यधिकशततमेन वृत्तेन। तद्यथा—

> यो यन्मध्ये प्रविष्टो व्रतनियमरतः कर्मपाशैर्निबद्ध-
> स्तन्मध्ये स्वस्वभावाद् भवति नरपते तत्कुले तद्ग्रहेण।
> यावज्जीवस्य भावस्त्रिविधभववशाद् वेदना सौख्यदुःखं
> तावत् संसारघोरे भ्रमणमिह नृप स्वर्गमर्त्ये त्वधश्च॥
> (का० त० २.१०२)

पुनस्तत्रैव पटले सप्ताधिकनवतितमेन वृत्तेन योगवासना उक्ता— T 445

> योगीन्द्रोऽप्राप्तयोगः प्रचलितमनसा याति मृत्युं कदाचित्
> श्रीमान् मानुष्यलोके प्रवरमुनिकुले जायते योगयुक्तः।
> पूर्वाभ्यासेन तेनाहरति पुनरपि [197b] ज्ञानयोगं विशालं
> लब्धे ज्ञाने प्रयात्यक्षयपरमपदं यत्र जन्मी न भूयः॥ इति।
> (का० त० २.९७)

अतश्चित्तवासनावशात् स्वसंवेद्यं प्रज्ञाज्ञानं भवति, न परमाणुशरीरोपभोगादिति।

---

१. भो. Yaṅ Daṅ Yaṅ Du (पुनः पुनः)।

ननु स्वप्नावस्थायां मैथुने कृते सति सूक्ष्मकाये च्युतिर्भवति, न स्वप्ने(प्न)-चित्तवासनाकायात्। तस्मादस्य कायस्य प्रभावान्महासुखं स्वसंवेद्यं भवति, न चित्तवासनाकायादिति केषाञ्चिद् द्वीन्द्रियसुखाभिलाषिणां वाक्यं भविष्यति। तस्मादुच्यते— इह हि यद्वक्तव्यं मूर्खैः परमाणुसन्दोहात्मकशरीराच्च्युतिर्भवति, न चित्तवासनाकायवशात्। नैतदेवं प्रमाणम्, कस्मात्? अरूपभवच्यवनात्। इह हि यदि परमाणुसन्दोहात्मककायेन विना च्युतिर्न भवति, च्युत्या विना संसारो न भवति, संसारेण विना महासुखोपलम्भश्च न भवति, तदाऽरूपकायिकानां च्युत्या विना कथं बुद्धत्वाय पुनरुत्पादो भविष्यति, परमाणुसन्दोहात्मकशरीराभावात्। अरूपिणां नाहारिकं शरीरम्, परमाणुसन्दोहात्मकशरीराभावात् शुक्रच्युतिर्नास्ति, शुक्रच्युतेरभावान्न सुखं न संसारस्तेषामिति। न चैवम्, उक्तं च भगवता द्वितीयेऽध्यात्मपटले तृतीयेन वृत्तेन परमाणुसन्दोहात्मकशरीरमक्षरज्ञानं च। तद्यथा—

देहेऽस्मिन् धातुवृन्दं भवति च सकलं षड्रसाहारपानाद्
भूतेभ्यः षड्रसाश्च प्रकटितनियतं भूतवृन्दं खधातोः।
शून्ये ज्ञानं विमिश्रं भवति समरसं चाक्षरं शाश्वतं च
एवं भूतस्थशान्तं त्रिविधभवगतं वेदितव्यं स्वकाये॥ इति।
(का० त० २.३)

देहेस्मिन्निति। तिर्यङ्मानुष्यदेहस्य यस्य षड्रसाहारपानमस्ति, असौ देहः षड्रसाहारपानी। अस्मिन् धातुवृन्दं लोमत्वग्रक्तमांसास्थिमज्जाशुक्रधातूनां मेलापको [1]धातुवृन्दं भवति। कुतः? षड्रसाहारपानात्, षट् च ते रसाः षड्रसास्तिक्ताम्ललवणकटुकमधुरकषाया लोमादिधातुस्वरूपं गच्छन्तीत्यभिप्रायः। भूतेभ्यः षड् रसाश्चेति। भूताः पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशधातवः कठिनद्रवोष्णस्पन्दनरसपरमाणुरूपाः, तेभ्यस्तद्वोजसंयुक्तेभ्यस्तिक्तादयः षड्रसा भवन्ति। धातवो रसस्वभावं गच्छन्तीत्यभिप्रायः। भूतेभ्यो भवन्तीति सत्त्वाशयवशाद्वाच्यम्, परमार्थविचारतः पुनर्धातवोऽपि रसा भवन्तीति, न जन्यजनकसम्बन्धादिति। भूतवृन्दं खधातोरिति खधातोः शून्यधर्माद् भूतवृन्दं भवति, बीजाङ्कुरवत्। यथाङ्कुरो नानष्टबीजाद् भवति, न नष्टबीजाद् भवति, तथा न स्वरूपापरित्यागात्, न जडधातुतः, नोच्छेदशून्यादिति। [2]एवं शून्यात् सर्वधर्मा भवन्तीति शून्ये ज्ञानं विमिश्रमिति शून्यधर्माणामुत्पादनिरोधाभावः स्वचित्तप्रतिभासः। ज्ञानं तत्प्रतिबोधोऽक्षरसुखम्, तस्मिन् [3]स्वचित्ताभासे उत्पादविनाशाभावे ज्ञानं विमिश्रम्, स्वचित्तप्रतिभासे समरसमेकीभवति, न ज्ञानज्ञेयसम्बन्धेन। एतदेवाक्षर[4]शाश्वतम्, परमाक्षरमित्यर्थः। एवं भूतस्थशान्तमिति। एवमनेन क्रमेण शरीरधातुस्थमक्षरं त्रिविधभवगतं कामरूपारूपभवगतं वेदितव्यं ज्ञातव्यं [198a] स्वदेहे योगिनेति। तेन तिर्यङ्मनुष्याणां शुक्रबीजं [5]शरीरो-

१ च. 'धातु' नास्ति। २. च. 'एवं' नास्ति। ३. च. 'स्व' नास्ति। ४. च. शान्तं। ५. भो. ḥKhor Ba (संसारो)।

त्पत्तिकारणम्, तदेव षड्रसानां शरीरे धातुत्वं गतानां पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशपरमाणुसन्दोहात्मको गन्धरूपरसस्पर्शशब्दात्मकः सत्त्वधातुः, एतद्बीजस्वभावात् कर्मजं शरीरमुत्पद्यते, निरुध्यते च मृत्युकाले तदेव पञ्चात्मकं बीजं निःसरति। पुनः स्वप्नशरीरवद् वासनाशरीरं शून्यं परमाणुसन्दोहवर्जितमनिरुद्धम्, तेनैवानिरुद्धवासनाशरीरेण कर्मवासनोद्भूतेन पुनः परमाणुसन्दोहात्मकं शरीरं गृह्णाति। पुनः परमाणुसन्दोहात्मकशरीरग्रहणात् प्राक्शरीरवासनां परित्यज्य वर्तमानशरीरवासनोत्पद्यते चित्ते। तेन कारणेन शून्येभ्यश्चित्तवासनास्कन्धेभ्य आगन्तुकस्कन्धधर्मा भवन्ति, आगन्तुकस्कन्धधर्मेभ्यः शून्याश्चित्तवासनास्कन्धा भवन्तीति परलोके परमाणुमात्रोऽपि न गच्छति। कस्मात्? [1]प्राक्स्कन्धपरित्यागेऽप्यपरस्कन्धग्रहणात्। एवमुक्तक्रमेण षड्रसाहारिणो देहस्य पञ्चभूतात्मकस्य च्युतिकाले पञ्चभूतात्मकं कर्मजं बीजं निःसरति, चित्तवासनापि पञ्चभूतात्मिका भवति षड्रसाहारिणामिति। देवानां पुनः षड्रसाहारी पञ्चभूतात्मकः कायो न भवति, षड्रसाहाराभावात्। चन्द्रादित्यादिषट्कामावचराणां तेषां पुनस्तोयतेजोवाय्वाकाशसन्दोहात्मकं शरीरं रूपरसस्पर्शशब्दचतुर्गुणात्मकं पृथ्वीगन्धगुणरहितम्, T 446 लघुत्वात्। शुक्रमपि तत्स्वभावात्मकम्, चित्तवासनापि च्यवनकाले तदात्मिकेति। रूपकायिकानां तेजोवायुरसपरमाणुसंदोहात्मकं शरीरं रसस्पर्शशब्दत्रिगुणात्मकं पृथ्वीतोयगन्ध[2]रसगुणरहितम्, शुक्रमपि त्रिगुणात्मकम्, चित्तवासनापि च्यवनकाले तदात्मिका। षोडशानामित्यरूपकायिकानां शून्यधात्वात्मकं शरीरं चित्तवासनामात्रं शब्दगुणात्मकम्, शुक्रमपि पृथ्वीतोयतेजोवायुगन्धरसरूपस्पर्शगुणवर्जितम्। एषां पृथिव्यादीनां मुख्यगुणेऽस्मिन् गौणमात्रो गुणोऽस्ति, अन्यथा समुदितगुणैर्विना नैकगुणात् संसारवासना भवति चतुर्णामित्येषु त्रिभवेषु नरकप्रेततिर्यङ्मनुष्यासुरचातुर्महाराजकायिकास्त्रायस्त्रिंशद्यामतुषितनिर्माणरतिपरनिर्मितवशवर्तिनश्चैकादश कामाः। ब्रह्मकायिका ब्रह्मपुरोहिता महाब्रह्माणः परीत्ताभा अप्रमाणाभा आभास्वराः परीत्तशुभा अप्रमाणशुभाः शुभकृत्स्ना अनभ्रकाः पुण्यप्रसवा बृहत्फला अबृंहा अतपा सुदर्शना अकनिष्ठा षोडशरूपाः। आकाशानन्त्यायतना विज्ञानानन्त्यायतना आकिञ्चन्यानन्त्यायतना नसंज्ञानासंज्ञानन्त्यायतनाश्चत्वारः। एवं कामरूपारूपाणां चतुर्णां च्यवनकाले शुक्रं यथानुक्रमेण पञ्चचतुस्त्र्येकगुणात्मकं निस्सरति, चित्तवासनावशेन। नान्यथा संसारभ्रमणं भवति। अतः कारणाद् [198b] उक्तं भगवता **तन्त्रराजे** पञ्चमपटले[3]ऽष्टपञ्चाशत्तमेन वृत्तेन। तद्यथा—

भूवार्यग्निश्च वायू रसपरमरसौ चाणवः षट्प्रकारा
गन्धाद्येकैकहीना विषयविरहिताश्चान्तिमा ज्ञानदृश्याः।
कामा रूपास्त्वरूपा युमयमशशिनश्चान्तिमो धर्मधातुः
सर्वाकाराः सदा तेऽच्युतसुखसहजाधारभूताः समन्तात्॥

(का० त० ५.५८)

---

१. च. 'प्राक्' नास्ति। २. भो. gZugs (रूप)। ३. च. सस।

तेन कारणेन सत्त्वाशयवशात् तथागतेन धर्मो देशितः—वैभाषिकः सौत्रान्तिको योगाचारो मध्यमकश्चेति। तेषु वैभाषिकमुपपत्त्यङ्गिकसत्त्वप्रकाशकं शास्त्रम्, सूत्रान्तमर्थप्रकाशकं शास्त्रम्, योगाचारं विज्ञानमात्रप्रकाशकं शास्त्रम्, मध्यमकं पारमार्थिकतत्त्वप्रकाशकं शास्त्रं सत्त्वाशयवशादुक्तं भगवता दूरा(र)भव्यासन्नभव्यचित्तात्। इह सत्त्वा अनादिकाले तीर्थिका देवभूतासुरधर्मरताः सर्वज्ञमार्गनष्टाश्चतुर्वर्णैकवर्णाश्रिताः स्वर्गफलोपभोगाभिलाषिणः कर्त्रात्मवादिनः। तेषां शब्दवादिनो देवप्रेतधर्माश्रिता ईश्वरवादिनश्चात्मवादिनश्च जातिवादिनश्चेति। म्लेच्छाऽसुरधर्माश्रिताः कर्तृवादिनो जीववादिनो जातिवादरहिताः। एषां म्लेच्छानामुभयग्रहः—परमाणुसन्दोहग्रहः, उपपत्त्यङ्गिकपुद्गलग्रहश्चेति। एषामभिप्रायः—यदि परमाणुसंदोहात्मके शरीरेऽन्तर्वर्त्युपपत्त्यङ्गिकपुद्गलो नास्ति, परमाणुसन्दोहात्मके काये विनष्टे सत्यपरकायग्रहणं कः करिष्यति ? तस्मादुपपादुकपुद्गलोऽस्ति, तेन साधितेन स्वर्गफलं निर्वाणफलं च भवति। स्वर्गफलादपरं निर्वाणं नाम न स्यादिति तत्त्वपृच्छाकाले तेषां स्वचित्ताभिप्रायमभिज्ञाय तत्त्वविदा भगवतोक्तम्—"अत्थि पुग्गलो भारवाहो ण णिच्चं भणामि णाणिच्चं भणामि" इति। एतदेव सत्यं भगवतो बचनात्। स्वप्नावस्थायां चित्तवासनापुद्गलो नानित्यो न नित्यो वक्तुं शक्यते। अनेन तथागतवचनेन म्लेच्छधर्मं त्यक्त्वा बौद्धा वैभाषिका जाताः। पुनर्लोकोत्तरधर्मं देश्यमानं श्रुत्वा बोधिसत्त्वानामिह पुद्गलग्रहं परित्यज्य केचित् सम्यक्संबुद्धमार्गमाश्रिता इति।

सौत्रान्तिकानां पुनः परमाणुसन्दोहात्मकग्रहोऽस्ति। एषामर्थवादिनामभिप्रायः—यद्याकाशकुहरान्तर्वर्ति सचराचरं वस्तु नास्ति तदा त्रैलोक्यं नाम न स्यात्, संसाराभावे सुगतिर्दुर्गतिर्न स्यात्, एवं बुद्धबोधिसत्त्वाश्च न स्युः, परमनिर्वाणमपि न स्यात्, भगवतोऽपि धातुसंदर्शनं न स्यात्, द्रव्यान्तर्वर्तिनोऽर्थाभावादिति। एवं तत्त्वपृच्छाकाले तेषां चित्ताभिप्रायं ज्ञात्वा भगवतोक्तम्—अस्ति परमाणुसन्दोहात्मकं चरमशरीरं द्वात्रिंशन्महापुरुषलक्षणैर्युक्तम्, यस्य प्रसादेन सम्यक्सम्बुद्धत्वं महापरिनिर्वाणं भवति, तदेव सत्यम्, भगवतो धातुसंदर्शनात्। एवं परमाणुसन्दोहात्मकशरीरस्य प्रभावं श्रुत्वा जातिवादं शब्दवादमीश्वरवादं कर्तृवादं त्यक्त्वा सौत्रान्तिका बौद्धा बभूवुः [199a], पुनर्बोधिसत्त्वानां लोकोत्तरधर्मदेशनां श्रुत्वा तदेवार्थग्रहं त्यक्त्वा सम्यक्सम्बुद्धमार्गमाश्रिताः केचिद् बभूवुरिति।

योगाचारिणां पुनर्विज्ञानग्रहोऽस्ति, तेषां विज्ञानवादिनामभिप्रायः—विज्ञानमात्रं त्रैधातुकं समस्तम्। षडङ्गाङ्गिकभागतः परमाणुर्नाम न स्यात्। यथा स्वप्नावस्थायां चित्तप्रतिभासमात्रेणार्थेनार्थक्रिया प्रवर्तते परमाणुद्रव्याभावेऽपि, तथा जाग्रदवस्थाया-
T 447 मसदर्थेनार्थः प्रतिभासते, तिमिरिकामलोपहतचक्षुषः केशोण्ड्रककनकशङ्खवत्। एवं तेषां तत्त्वपृच्छाकाले चित्ताभिप्रायं ज्ञात्वा भगवतोक्तम्—विज्ञानमात्रं त्रैधातुकम्, विज्ञानादन्यो न संसारः, लौकिकविज्ञाननिरोधाद् भवबीजस्यैव निरोधः, ततश्च निर्वाणमिति। एतदेव सत्यम्। अजडात् सुखदुःखप्रादुर्भावो भवति, न जडतः। सुखदुःखं नाम संसारः, तदभावो नाम निर्वाणमिति। एवं भगवतो वचनं श्रुत्वा कर्त्रात्मवादं परित्यज्य योगाचारिणो बौद्धा बभूवुः।

पुनर्बोधिसत्त्वानां लोकोत्तरधर्मदेशनां श्रुत्वा विज्ञानवादं परित्यज्य सम्यक्सम्बुद्धमार्गमाश्रिताः केचिद्बभूवुः। तथा **योगिनीतन्त्रेषु**—"महामाया महारौद्रा भूतसंहारकारिणी" इति। एवं सत्त्वाशयवशाद्भगवतो धर्मदेशना। न सा भगवतः कण्ठतालुकमूर्धदन्त्यौष्ठजनिता प्रादेशिकशब्देन, कस्मात्? अनन्तानन्तसत्त्वरुतत्वात्। इह प्रादेशिकवाक्येन युगपदनन्तानन्तसत्त्वानां स्वस्वभाषान्तरेण धर्मदेशना कर्तुं न शक्यतेऽनन्तकल्पैरपि। तस्मात् सत्त्वाशयाभि[1]प्रायेण भगवतो वाक्यं न भवति। सत्त्वाशयवशाद् भगवानपि सग्रहो भवति, ग्रहग्रहणात् संसारी भवति। तस्मात् सत्त्वानां जन्मान्तरवासनाबलेन स्वप्नेऽनुत्पन्नशरीरवद् भगवतः शरीरप्रतिभासो वचनप्रतिभासश्च भवति। यथा स्वप्ने शिष्या उपाध्यायं दृष्ट्वा सन्देहार्थं पृच्छन्ति, उपाध्यायोऽपि शिष्याणां सन्देहार्थं निःसन्देहं करोति, तत्र नोपाध्यायः शिष्याणां चित्तवासनाप्रतिभासः। एवं पुण्यवतां सत्त्वानां स्वचित्तप्रतिभासो न भगवानुत्पन्नो न निरुद्ध इति। अनेन कारणेन चतुर्णां बौद्धानां [2]चित्तवासनाबलेन भगवता पुद्गलवादिनामनित्यपुद्गलभावनोक्ता, अर्थवादिनां पृथिव्यादिकृत्स्नभावना, विज्ञानवादिनां विज्ञप्तिमात्रसमाधिः, माध्यमिकानां स्वप्नोपमाक्षराद्वयज्ञानभावना। एवं पुद्गलनैरात्म्यं धर्मनैरात्म्यमिति। वैभाषिकसौत्रान्तिकयोगाचारिणां सोपधिनिर्वाणम्, माध्यमिकानामुपधिरहितमप्रतिष्ठितनिर्वाणम्, हेतुफलनिरोधात्, सुषुप्तजाग्रदवस्थारहितं स्वप्नतुर्योपममिति। उक्तं भगवता [3]प्रत्यवेक्षणाज्ञानस्तवे [एका]दशमश्लोकेन। तद्यथा—

सर्वोपधिविनिर्मुक्तो व्योमवर्त्मनि सुस्थितः।
महाचिन्तामणिधरः सर्वरत्नोत्तमो विभुः॥ इति।
(ना॰ सं॰ ८.११)

अतः पक्षग्रहरहितं निरुपधिशेषनिर्वाणं [199b] सम्यक्सम्बुद्धस्येति।

ननु स्वप्नावस्थायां जडधर्मैर्विनाऽजडप्रतिभासो दृश्यते, चित्तवासनावशेन जाग्रदवस्थायां पुनर्जडधर्मैर्विनाऽजडप्रतिभासो न दृश्यते, दर्पणे प्रतिबिम्बवत्। तस्यामवस्थायां योगिनो भावनाप्रतिभासोऽपि द्विधा प्रतिभासते—जलचन्द्रवत् सति धर्मिणि धर्माः। तस्यामवस्थायां योगी जडधर्मैर्विना स्वप्नतुल्यानजडधर्मानकल्पिताननुत्पन्नानशून्यानचित्तानाकाशे पश्यति, एतदेवाप्रसिद्धम्। कस्मात्? सति धर्मिणि धर्मविचारात्। मायोपमास्तथागतेनोक्ताः। न जडधर्मैर्विनाऽजडप्रतिभासः समाधिना दृश्यते, इह केषाञ्चिदभिप्रायो भविष्यति। तस्मादुच्यते—इह हि यद्वक्तव्यं जडचित्तवासनाभिरतैर्जाग्रदवस्थायां जडधर्मैर्विनाऽजडप्रतिभासो न दृश्यते, तन्न, कस्मात्? प्रतिसेनादर्शे जडधर्मैर्विनाऽजडप्रतिभासदर्शनात्। यथा कुमारी प्रतिसेनादर्शे मन्त्रदेवताऽधिष्ठानबलेनातीतानागतप्रत्युत्पन्नधर्माणामजडप्रतिभासं पश्यति, न च तेऽतीतवर्तमानानागत-

---

१. भो. bSam Paḥi dBaṅ Gis (अभिप्रायवशेन)। २. भो. 'चित्त'नास्ति।

३. च. कृत्यानुष्ठान।

जडधर्मा आदर्शाभिमुखाः सन्ति, न च ते जडधर्मैर्विनाऽऽदर्शेऽजडप्रतिभासाभावाः, न च ते धर्माः कुमारिकया चिन्तिताः। एवं योगी स्वचित्ताधिष्ठानबलेनाकाशधातौ जडत्रैधातुकं विनाऽजडप्रतिभासं पश्यतीति। उक्तं भगवता साधनापटले[1]ऽष्टनवत्युत्तरशततमेन वृत्तेन—

मुद्रा मायानुरूपा मनसि च गगने रूपवद्दर्पणे च
त्रैलोक्यं भासयन्ती तडिद[2]नलनिभानेकरश्मीन् स्फुरन्ती।
बाह्ये देहेष्वभिन्ना विषयविरहिताऽऽभासमात्राऽम्बरस्था
चित्तं चेतोमयाऽऽलिङ्गयति च जगतोऽनेकरूपस्य सैका॥ इति।
(का० त० ४.१९८)

अतो भगवतो वचनाज्जडधर्मैर्विनाऽजडधर्मप्रतिभासं योगी पश्यतीति।

ननु कुमारिका प्रतिसेनादर्शे यत्प्रतिभासं पश्यति तदाचार्यप्रसादः, कस्मात्? कुमारिकायामाचार्येण मन्त्रदेवताऽधिष्ठानस्य कृतत्वात्। इह कुमारिकायामाचार्येण मन्त्रदेवताधिष्ठानं कृतम्, तेनाधिष्ठानवशेन कुमारिका प्रतिसेनादर्शे प्रतिभासं पश्यति, न मन्त्रदेवताधिष्ठानरहिता। तस्माद् गुरोराज्ञाप्रसादेन योगी त्रैधातुकं प्रतिभासमात्रमाकाशधातौ पश्यति, इह कस्यचिदाज्ञा[3]बद्धस्याभिप्रायो भविष्यति, तस्मादुच्यते—इह हि यद्वक्तव्यं मूर्खैर्गुरोराज्ञाप्रसादेन कुमारिकायां मन्त्रदेवताधिष्ठानं भवति, तन्न, कस्मात्? आचार्यस्य प्रतिसेनादर्शे प्रतिभासाभावात्। इह यद्याचार्याज्ञाप्रसादेन मन्त्रदेवताधिष्ठानं कुमारिकायां भवति, तदाऽऽचार्यस्यापि तदेवाधिष्ठानं किन्न भवति, येन कुमारिकायामधिष्ठानं कृत्वाऽतीतानागतवर्तमानपरोक्षज्ञानं पृच्छेत्। यदि
T448 तस्यैवाधिष्ठानमस्ति तदा प्रतिसेनादर्शे तत्र प्रतिभासं दृष्ट्वा स्वयमेव कथयति, न चैवम्। तस्मादाचार्यप्रसादेन कुमारिकायां मन्त्रदेवताधिष्ठानं वक्तुं न शक्यते, एवं योगिनोऽपीति। [200a] किन्तु कुमारिकायां मन्त्रदेवताधिष्ठानं भवति, तत्कारणमस्ति, येन कारणेन कुमारिकायां द्वीन्द्रियसंघर्षणाच्च्युतिसुखोपलब्धिर्नास्ति तेन कारणेनाधिष्ठानं भवति। लोकेऽपि प्रसिद्धं "कुमारीसुरतं यथा"। तेन कारणेन कुमारी मन्त्रदेवताधिष्ठानबलेन प्रतिसेनादर्शे प्रतिभासं पश्यति, नान्या युवती द्वीन्द्रियसुखोपलब्धेति। कुमारदेवताधिष्ठाने युवा देवताधिष्ठानं युवती युवापि पश्यतीति। एवं योगिनोऽपि परमाक्षरसुखाभ्यासवशाद् बाह्यच्युतिसुखपरित्यागात् कुमारिकावस्थान्तरगता अतीतानागतवर्तमानं पश्यन्ति, स्वचित्ताधिष्ठानबलेन, न गुरोराज्ञाप्रसादेनेति।

ननु परमाक्षरसुखाभ्यासं विनाऽब्रह्मचारिणोऽप्यनेके कैवल्यं [4]देशयन्ति, तस्माद् ब्रह्मचर्यं विना मन्त्रदेवताधिष्ठानं भवति। अन्यथा कथं ते कैवल्यं [5]देशयन्ति[इति]

१. च. द्विशततमेन। २. भो. Dri Med (अमल)। ३. भो. Chags Pa (आसक्तस्य)। ४-५. च. कथयन्ति।

कस्यचिदभिप्रायो भविष्यति, तस्मादुच्यते—इह हि यदुच्यते बालैरब्रह्मचारिणां मन्त्रदेवताधिष्ठानं भवति, तन्न, कस्मात् ? ज्योतिषाभ्यासवशेनार्थसंदर्शनात्। इह हि यत् कैवल्यं ज्ञानं तदेव ज्योतिषाङ्गं सर्वसत्त्वसाधारणमुपदेशवशाद् गणितवशाज्ज्ञायते नष्टजातकादिकम्, यथाऽन्यैः कर्णपिशाचिका साधिता सा कथयति, अन्यैः क्षेत्रपालाः साधितास्ते कथयन्ति, यत्किञ्चिच्चित्ते स्फुरति तेषाम्। अन्यैर्मातरः साधिता आवेशिताः परकाये प्रविश्य कथयन्ति, अन्यैर्नागराजाः साधितास्ते कालदष्टाः काये प्रविश्य कथयन्ति, अन्यैश्चेटकाः साधितास्ते साधकानां वाक्येन सत्त्वकाये प्रविश्य सत्त्वकायं विडम्बयन्ति, अन्यैर्डाकिनीराक्षसादयः साधितास्ते सत्त्वानां रक्तं पिबन्ति, अन्यैर्भूताः साधितास्ते सत्त्वानां काये प्रविश्य ध्वननकम्पनादिकं कृत्वा गच्छन्ति, अन्यैर्विघ्नविनायकाः साधितास्ते सत्त्वानां विघ्नानि कुर्वन्ति, अन्यैः सौम्यदेवताः साधितास्ते सत्त्वानां रक्षां कुर्वन्ति, अन्यैः कामदेवताः साधितास्ते सत्त्वानां कामोन्मादं शुक्रच्युतिं कुर्वन्ति, अन्यैरन्या दुष्टदेवताः साधिताः केचित् स्तम्भनं कुर्वन्ति केचिन्मोहनं केचिदुच्चाटनं केचिद्विद्वेषणं केचिन्मारणं केचिद् वृक्षलिङ्गोत्पाटनं च कुर्वन्ति, एवमादीन्यनेकानि क्षुद्रोपद्रवकर्माण्यदृष्टरूपेण कुर्वन्ति। यैरमी दुष्टदेवता मारकायिकाः साधितास्ते चैभिः क्षुद्रपरिज्ञानैः सद्यःप्रत्ययकारकैर्मूर्खाणां गुरवो भवन्ति, धर्मदेशनां कुर्वन्ति। ज्ञानं प्रत्ययसारं कामविषनिरञ्जनानाम्, यस्य कामाज्ञा नास्ति निरञ्जनविषाज्ञा नास्ति निरञ्जन-आणवशाम्भवशाक्तेयप्रत्यक्षपरोक्षवेधाज्ञा नास्ति, स पण्डितोऽपि पशुः। सर्वसत्त्वोपकाररतो भिक्षां भ्रमति, एकाकी विहरत्यसहायः स्वार्थभ्रष्टः। लोकेऽपि प्रसिद्धम्—"स्वार्थभ्रंशो हि मूर्खता"। तस्मादियं पारमैश्वर्याज्ञा भुक्तिमुक्तिफलप्रदा पारम्पर्यक्रमेणागता गुरोः [200b] प्रसादेन लभ्यत इति। उक्तं परमेश्वरेण सर्वज्ञेन वा—

न गुरुः(रोः) सदृशी माता न गुरुः(रोः) सदृशः पिता।
यस्तारयति महाघोरं संसारोदधिदुस्तरम्॥ इति।

यो ददाति गुरुर्दीक्षां शिष्याय शतयोजनैः।
भुक्तिमुक्तिप्रदात्री या सा दीक्षा मोक्षदायिका॥ इति।

एवमनेकप्रकारैस्तान्महामूर्खान् महालोभाभिभूतान् क्षुद्रपरिज्ञानेन बोधयित्वा तेषामनुग्रहं करोति, तां चाज्ञां समर्पयेत्, तेऽपि महासन्तुष्टा भवन्ति वयं गुरुप्रसादेन मुक्ताः। इदानीं सर्वं कुर्मः, अशुचि भक्षयामः, अवर्णाभिगमनं कुर्मः, प्राणातिपातं मृषावादमदत्तादानं सुरापानादिकं कुर्मः। एवमनेकप्रकाराणि मारकर्माणीह सिद्ध्यर्थं कुर्वन्ति। न च तेषां पारमैश्वर्याज्ञाप्रसादेन शरीरसिद्धिर्भवति, न चातीतानागतवर्तमानं विदन्ति, अन्ते मरणं गच्छन्ति, शरीरं वह्निना दह्यते, श्वखगादिभिर्वा भुज्यते। न जीवः शिवीभवति, विज्ञानं वज्री वा। एवं सर्वे क्षुद्रमन्त्रदेवताऽधिष्ठानक्रमा माराणां परमाक्षरज्ञानाभिरतैर्योगिभिर्विचारणीयाः। एभिः क्षुद्रमन्त्राधिष्ठानैर्वज्रावेशो न भवति। उक्तं च भगवता **नामसंगीत्यामादर्शज्ञानस्तवे** सप्तमश्लोकेन। तद्यथा—

वज्रज्वालाकरालाक्षो वज्रज्वालाशिरोरुहः।
वज्रावेशो महावेशः शताक्षो वज्रलोचनः॥ इति।

(ना० सं० ७.७)

तथा तन्त्रराजेऽप्यभिषेकपटले [1]एकोननवतितमेन वृत्तेनोक्तं कायावेशादिकम्, तद्यथा—

कायावेशेन योगी [2]प्रकृतिगुणवशात् कायकृत्यं करोति
वागावेशेन वादी त्रिभुवनविजयी देवनागासुराणाम्।
चित्तावेशेन सर्वं परहृदयगतं ज्ञायते भूतभव्यं
[3]ज्ञानावेशेन बुद्धो [4]भवति गुरुगुरुश्चर्द्धिमानेकशास्ता॥ इति।

(का० त० ३.८९)

अतो वज्रावेशाभावात् क्षुद्रदेवतावेशा बुद्धत्वफलदायका न भवन्तीति।

तिष्ठतु तावद् बुद्धत्वं त्रैलोक्याधिपतित्वं नाम, एभिः प्रादेशिकावेशैः खड्गरसरसायनादयोऽपि न सिद्ध्यन्ति, कस्मात्? पारमैश्वर्याज्ञादायकस्य गुरोः परद्रव्यलुण्ठकत्वात्। इह हि यदि गुरोराज्ञाप्रसादेन महामूर्खाणां त्रैलोक्यराज्यं सर्वज्ञपदं भवतीह
T 449 जन्मनि, तदा किमर्थं गुरोर्दारिद्र्यदुःखमस्ति, रससिद्धपदमपि नास्ति। एवमनेकप्रकारैर्विचार्यमाणं जन्मान्तरपुण्यज्ञानसंभारद्वयरहितं सर्वज्ञपदं नास्ति, तस्मात् पुण्यज्ञानसंभारार्थं सत्त्वोपकारः कर्तव्यः। उक्तं भगवता पञ्चमपटले [5]षट्षष्टितमेन वृत्तेन—

सत्त्वा बुद्धा न बुद्धस्त्वपर इह महान् विद्यते लोकधातौ
तेषामाराधनेन त्वपरिमितभवश्छिद्यते निर्विकल्पात्
द्रोहं कुर्वन् हि योगी व्रजति हि नरकं रौरवाद्यं महान्तं
तस्माच्चित्ते विशुद्धेऽप्यबुधबुधजनानां विरुद्धं न कुर्यात्॥ इति।

(का० त० ५.६६)

अतः सत्त्वोपकारः पुण्यसंभारार्थं कर्तव्यः, ज्ञानसम्भारार्थं परमाक्षरज्ञान[201a]-भावना कर्तव्या। सत्त्वार्थं विना पुण्यसम्भारो न भवति, परमाक्षरज्ञानभावनया विना ज्ञानसम्भारश्चेति तथागतहृदयम्। उक्तं भगवता तन्त्रराजे पञ्चमपटले द्वासप्ततितमेन वृत्तेन। तद्यथा—

सत्त्वानां पापचित्तं भवति नरपतेऽधिष्ठितं मारकायैः
पुण्यज्ञानानुरक्तं सुखद[6]मपि सदाधिष्ठितं बोधिसत्त्वैः।

---

१. च. अष्टाशीति। २. च. त्रिभुवननिलये। ३. च. वज्रा। ४. च. त्रिदशनर। ५. च. षष्टि। ६. च. मिति।

निर्वाणं यान्ति यस्मात् सुख[1]समयवशात् क्लेशमारान्निहत्य
तस्मात् कुर्वन्ति माराः प्रतिदिनसमये नैकविघ्नानि तेषाम् ॥ इति ।
(का० त० ५.७२)

अतो भगवतो वचनाद् योगिना परमाक्षरमहामुद्रायोगेन स्वचित्तसाधनं कर्तव्यं मोक्षार्थम्, अन्यथा गुर्वाज्ञया मोक्षो न भवति । कस्मात् ? भगवतो मार्गोपदेशकत्वात् ।

[2]आज्ञासंचारिणो धर्माः प्राणिनां मोक्षदाः क्वचित् ।
मार्गोपदेशको येन [3]आज्ञया मोक्षदो जिनः ।
गुरोराज्ञाप्रसादेन मुक्तिः स्याद्यदि देहिनाम् ।
तदा कारुणिको मोक्षं देशयेन्न समाधिना ॥

तस्मान्मोक्षार्थं बाह्यदेवतामन्त्रसाधनं न लौकिकसिद्धिसाधनार्थं योगिना कर्तव्यम् । इह बाह्यदेवताः क्षुद्रोपद्रवकारिणः साधिता अपि साधकस्य छिद्रान्वेषिणः, तेषां बलेन साधकोऽन्येषां प्रचण्डदेवतानां क्षुद्रोपद्रवं करोति, तैर्गृहीतस्य साधकस्य ते साधिता दुष्टदेवताः शत्रवो भवन्ति, मृत्युकाले न किञ्चित् कथयन्ति । साधकोऽप्यसमाधिना मृतो नरकं याति । अथ ते साधिताः किं दास्यन्ति दरिद्रनरा इव । साधिता ब्रुवन्ति—हे साधक ! तव नियमं सर्वं कुर्मः । यदि साधको ब्रूते युष्माभी राजा बन्धयित्वाऽत्रानीयताम्, तदा परिहारं कुर्वन्ति—अत्र विषये वयं न शक्ताः । एवं क्षुद्रदेवताः साधिताः सन्तः सर्वज्ञविषये परिहारं कुर्वन्ति । तस्मात् सर्वज्ञपदाभिलाषिणां दुष्टदेवतासाधनेन किं प्रयोजनम्, गुर्वाज्ञया च [4]संसारधर्मस्वरूपिण्या । उक्तं भगवता मूलतन्त्रे—

शिवतत्त्वं कामतत्त्वं विषतत्त्वं यथाऽऽज्ञया
सञ्चारि(र)णं भवेत् पुंसां बुद्धतत्त्वं तथा न च ॥

रागादिमलिनं चित्तं क्षरं संसारकारणम् ।
विशुद्धं तद्वियोगेन शुद्धं प्रकृतिनिर्मलम् ॥

नापनेयमतः किञ्चित् क्षेप्तव्यं किञ्चिदाज्ञया ।
न दातव्यं न हर्तव्यं शुद्धतत्त्वं महाक्षरम् ॥

दाता हर्ता गुरुर्नास्ति शुद्धतत्त्वस्य सर्वतः ।
पुण्यसम्भारहीनानां सर्वज्ञोऽपि प्रभुः स्वयम् ॥

परोपकारतः पुंसां पुण्यसम्भार उत्तमः ।
उत्तमाज्ज्ञानसंभारस्ताभ्यां बुद्धत्वमुत्तमम् ॥

शिवतत्त्वे कामतत्त्वे विषतत्त्वे त्रिधा भवेत् ।
वेधो गुर्वाज्ञया पुंसां परमाक्षरसुखं न च ॥

---

१. च. परमसुखवशात् । २. च. राज्ञा । ३. च. राज्ञया । ४. च. सञ्चार ।

आणवः शाम्भवो वेधः शाक्तेयश्चाज्ञया भवेत् ।
चित्तवाक्कायवेधेन निद्रास्वप्नजाग्रतः ॥

शिवतत्त्वमिति ख्यातं मूर्खाणामाज्ञया गुरोः ।
चित्तवाक्कायसंक्षोभश्च्युतिः शुक्रस्य देहिनाम् ॥

गुरोराज्ञाप्रसादेन कामतत्त्वमिति स्मृतम् ।
विषं निर्विषमित्याहुर्न विषं विषमेव च ॥

स्थावरं जङ्गमं कृत्यं गुरोराज्ञाप्रसादतः ।
विषतत्त्वमिति ख्या[201b]तं सद्यःप्रत्ययकारकम् ॥

त्रितत्त्वं नाक्षरं सौख्यं संभवेत् सर्वदेहिनाम् ।
गुरोराज्ञाप्रसादेन तस्मात् तद्भावयेद् व्रती ॥

अतो भगवतो वचनात् परमाक्षरज्ञानमहामुद्राभावना कर्तव्या मोक्षार्थिनेति ।

ननु यद्यच्युतशीलेन विना पञ्चाभिज्ञा न भवन्ति, तदा धर्मोद्गतादिबोधिसत्त्वानां वशिष्ठादिमहर्षीणां कथं पञ्चाभिज्ञा स्युरिति केषाञ्चिदभिप्रायो भविष्यति, तस्मादुच्यते—इह हि यद्वक्तव्यं बालजनैर्बोधिसत्त्वानां[1] ब्रह्मचर्यं नास्ति, तन्न, कस्मात्? द्विधा बोधिचित्तच्यवनात् । इह सत्त्वानां बोधिचित्तच्यवनं द्विधा—एकं शुभाशुभकर्मवशात्, द्वितीयं चित्तवशितावशात् । तत्र यत् कर्मवशाच्च्यवनं तत् संसारभ्रमणार्थम्, यच्चित्तवशिता[वशा]च्च्यवनं तत्संसारचक्रे कर्मभ्रामितानां मार्गदर्शनार्थम् । यथा विन्ध्याटव्यां प्रपतितानां नष्टमार्गाणां मार्गदर्शकेन विना मार्गदर्श(गम)नं न स्यात्, तथा संसारे प्रपतितानां मार्गदर्शकेन विना मार्गगमनं न स्यात् । यदि मार्गदर्शकेन सह [2]दर्शनं नास्ति तथापि मार्गाभावः । अथ मार्गदर्शकः प्राग्विशुद्धमार्गेण नागतस्तथापि मार्गाभावः । अथ मार्गनष्टानां भाषां न जानाति तथापि मार्गाभावः । एषां नष्टमार्गाणां सन्त्रासं दृष्ट्वा नानष्टमार्गस्य सन्त्रासो भवति । एवं बोधिसत्त्वानां सत्त्वोपकारार्थं संसारे प्रवेशः, न कर्मविपाकतः । यदि बोधिसत्त्वानां दशभूमीश्वराणां दशपारमितानिर्यातानां दशवशिताप्राप्तानां कर्मविपाकेन संसारभ्रमणं तदा सत्त्वानां मोक्षो नास्ति । नाज्ञातमार्गेणाज्ञातमार्गाणां मार्गोपदेशः कथ्यते, यथान्धेनान्धस्य । तस्माद्बोधिसत्त्वानां जन्मग्रहणं
T 450 सत्त्वार्थम् । उक्तं [3]यामकायिकैर्मम लोकनाथस्य सत्त्वार्थं प्रति नरकप्रवेशकाले—

ये मुक्ता भवबन्धनैरपि भवं गृह्णन्ति सत्त्वार्थिनः
कालात् कर्मफलं त्यजन्ति नहि तच्छून्यार्थसंदेशकाः ।
संज्ञानानलदग्धचित्तकलुषाः सम्यक् कृपार्द्राः सदा
तान् सत्त्वार्थरतानतर्क्यचरितान् बुद्धान् नमामो वयम् ॥ इति ।

१. भो. Sems Pa Chen Po rNams (महासत्त्वानां) इत्यधिकम् । २. भो. Yaṅ Dag Par mThoṅ Ba (संदर्शनं) । ३. भो. bDud Kyi Ris (मारकायिकैः) ।

एवमनेकगुणवतां दग्धक्लेशावरणानां सत्त्वार्थक्रियात्मकं लवमात्रं क्लेशावरणं जन्मग्रहणार्थम्, अन्यथा सत्त्वानां मार्गदेशना न स्यात्। मार्गेण विनाऽनादिसंसारात् सत्त्वानां निर्गमो न भवति, बोधिसत्त्वसंसर्गाभावादिति। इह बोधिसत्त्वैः प्राग्बोधिचित्तं सुदृढीकृतम्। अस्य बोधिचित्तस्य द्विधा बन्धः—प्रज्ञाविरागेण, प्रज्ञारागेण च। यथा सूतकबन्ध एकः स्वेदसंन्यासयोगेन, द्वितीयो लोहादिजारणाग्निविडसंयोगेन। तयोर्यः स्वेदसंन्याश(स)योगेन बद्धः सूतः, स तीव्राग्निना ध्मातः किञ्चित्तिष्ठति, [1]किञ्चित् प्रपलायति। यः सर्वलोहरत्नजारणात्तीव्राग्निना बद्धः, स कदाचित्तीव्राग्निना ध्मातः सन्न प्रपला[य]ति, तस्यैव ग्रासजारणान्तरवशेना[202a]वस्थान्तरं भवति। तद्यथा—

धूमश्चिटिचिटिश्चैव मण्डूकप्लुतिरेव च।
कम्पो निष्कम्पता चैव पञ्चावस्था रसस्य तु॥

तथा भावनाभ्यासवशेन बोधिचित्तस्यावस्थान्तरं भवति, मृदुमध्याधिमात्राधिमात्राधिमात्रप्रभेदतः। यः स्वेदसंन्यासयोगेन बन्धः स बोधिचित्तस्य बन्धः, तदनित्यपुद्गलभावनाबलेन पृथिव्यादिकृत्स्नसाक्षात्करणेन प्रज्ञाविरागेणेति। यथा स्वेदसंन्यासयोगेऽपि रसस्य लोहग्रासभक्षणं कालान्तरवशादस्ति, ग्रासभक्षणेनावस्थान्तरं भवति, तथाऽनित्यपुद्गलभावनया पृथिव्यादिकृत्स्नभावनया जडस्कन्धधात्वायतनक्षयादवस्थान्तरं भवति। अवस्थान्तरं नाम भूमिलाभः। अत्र द्विधा भूमिः—वीतरागभूमिः, सम्यक्सम्बुद्धभूमिरिति। भूमिवशाद् ऋद्धिरेकाकारऋद्धिः सर्वाकारऋद्धिश्च[2]। एवं पञ्चाभिज्ञाः षडभिज्ञाश्च। तथा अर्थसंख्यादर्शनं सर्वार्थसंख्यादर्शनं [3]च। तथा भाषा सत्त्वसंख्यात्मिका सर्वसत्त्वसंख्यात्मिका च[4]। तथा धर्मदेशना सत्त्वसंख्यालक्षणा सर्वसत्त्वसंख्यारुतलक्षणा [5]च। तथा निर्वाणं सोपधिशेषं निरुपधिशेषमिति। तथा पुद्गलनैरात्म्यं धर्मनैरात्म्यम्। तथा चतुरार्यसत्यभावना सर्वधर्माभावस्वभावशून्यतासमाधिरिति। एवं भूमिविशेषाद् द्विधा सत्त्वार्थक्रिया भवति। इह प्रथमभूमिलाभादेकलोकधातुपर्यन्तमदृष्टार्थसंदर्शनम्, द्वितीयभूमिलाभाद् दशदिग्द्वितीयलोकधातुपर्यन्तम्, तृतीयभूमिलाभाद् दशदिक्चतुर्थलोकधातुपर्यन्तम्, चतुर्थभूमिलाभाद्दशदिगष्टलोकधातुर्यन्तम्, पञ्चमीभूमिलाभाद्दशदिक्षोडशलोकधातुपर्यन्तम्, षष्ठीभूमिलाभाद् दशदिग्द्वात्रिंशल्लोकधातुपर्यन्तम्, सप्तमीभूमिलाभाद्दशदिक्चतुःषष्टिलोकधातुपर्यन्तम्, अष्टमीभूमिलाभाद्दशदिगष्टाविंशदधिकशतलोकधातुपर्यन्तम्, नवमीभूमिलाभाद्दशदिक्षट्पञ्चाशदधिकशतद्वयलोकधातुपर्यन्तम्, दशमीभूमिलाभाद्दशदिग्द्वादशाधिकपञ्चशतलोकधातुपर्यन्तम्, एकादशभूमिलाभाद्दशदिक्चतुर्विंशत्यधिकसहस्रलोकधातुपर्यन्तं परोक्षार्थसंदर्शनमिति। एवं द्विसाहस्रत्रिसाहस्रलोकधातवः संख्यालक्षणाः। एकसाहस्रं नाम सहालोकधातुर्मध्यत ऊर्ध्वाध एकैकं सहस्रम्, अध ऊर्ध्वे पूर्वापरं वामदक्षिणं नैर्ऋत्यैशानं वायव्याग्नेयमिति। एवं द्वित्रिसाहस्रमिति। ततो महासाहस्रं नाम महासंख्येयलोक-

१. भो. 'किञ्चित्' नास्ति। २. ३. ४. ५. च. 'च' नास्ति।

धातवः। तेष्वदृष्टार्थसंदर्शनं द्वादशभूमिलाभात् सम्यक्संबुद्धस्य भवति, न वीतरागाणाम्। एषां तथागतभूमीनां लाभो महाक्षरसुखक्षणैः प्रज्ञारागोद्भवैः। प्रथमो भूमिलाभोऽष्टादशशतैरच्युतलक्षणैर्लब्धैः। अनया संख्यया द्वादशभूमिपर्यन्तं षट्शताधिकैकविंश[202b]त्सहस्रैरक्षरक्षणैर्द्वादशभूमिलाभः, द्वादशाङ्गनिरोधं यावत्। द्वादशलग्ननिरोधाद् द्वादशराशिनिरोधः, द्वादशमासनिरोधात् षष्ट्युत्तरशतत्रयदिनानां निरोधः, षष्ट्युत्तरशतत्रयदिननिरोधात् षट्शताधिकैकविंशत्सहस्रघटिकानिरोधः। एवं यथा बाह्ये तथा शरीरे घटिकासंख्याश्वासानां निरोधः, श्वासनिरोधात् कायनिरोधो बोधिचित्ताक्षरक्षणैरिति। यथा सूतको जारितो लोहरत्नानि भक्षयित्वा तेषां महारागं गृहीत्वा तिष्ठति, न जडधातुत्वम्। तेन महारागेण येषु लोहेषु स्पर्शं करोति तानि लोहानि कालिकारहितानि भवन्ति, पाषाणा रत्नानि भवन्ति, तथा बोधिचित्तं भावितं स्कन्धधात्वायतनानि सप्राणानि भक्षयित्वा तेषां महारागं गृहीत्वा तिष्ठति, न जडत्वम्। तेन रागेण पुण्यवशाद् येषु सत्त्वेष्वधिष्ठानं करोति तेष्वभिज्ञा भवति, न सम्यक्संबुद्धत्वम्, यथा रसविद्धानां लोहानां कालिकाभावो न जडधातुत्वाभावः। जडधातुत्वाभावस्तदा भविष्यति यदा जारितानां लोहानां रसेन सहैकत्वं भविष्यति। अतः परस्परसंयोगाद् धातूनां धातुत्वं नास्ति, सूतकस्य सूतत्वं नास्ति, पूर्वस्वभावपरित्यागात्। एवं कायधातूनां चित्तेन सहैकीभूतानां धातुत्वं नास्ति, चित्तस्य चित्तत्वं नास्ति, प्राक्संसारवासनाभावात्। अत उक्तं भगवता—"अस्ति तच्चित्तं यच्चित्तमचित्तम्" (अ॰ स॰, पृ॰ ३) इति। एवमनेनोक्तक्रमेणाष्टभूमीश्वराणामीश्वरादिदेवानां
T 451 पञ्चाभिज्ञा वेदितव्या बोधिसत्त्वानामपि। ऋषीणां वशिष्ठादीनां पुनः पञ्चाभिज्ञा नास्ति, कस्मात्? रामायणभारतप्रामाण्यात्। इह रामायणे श्रूयते वाल्मीकवाक्ये वशिष्ठदत्ते लग्ने रामदेवेन सीतापाणिग्रहणं कृतम्। तेन वशिष्ठदत्तलग्नप्रसादेन रामो राज्यभ्रष्टो वनं प्रविष्टः, सीतापि सदा दुःखवती। तथाऽप्युक्तम्—

पूर्वकर्मफलं भोग्यं ग्रहनक्षत्रे निरर्थके।
वशिष्ठदत्तलग्नेन जानकी दुःखभाजनम्॥ इति।

तथा भारते व्यासवाक्ये श्रूयते कौरवपाण्डवानां येऽमावस्यायां कुरुक्षेत्रे प्रवेशं करिष्यन्ति ते विजयिनो भविष्यन्ति, एतद्वचनं श्रुत्वा पाण्डवास्त्रयोदश्यां प्रविष्टाः, कौरवा अमावस्यायां प्रविष्टाः। तेषु ये त्रयोदश्यां प्रविष्टास्ते विजयिनो जाताः, येऽमावस्यायां प्रविष्टास्ते मरणमुपगताः। अथ दुष्टर्षीणां वाक्यमिह ब्राह्मणवाक्येन त्रयोदश्याममावासी जाता, चन्द्रसूर्यैकयोगादिति। तदेव न घटयति, कस्मात्? चन्द्रस्य पञ्चदशकलाक्षयाभावात्। इह त्रयोदश्यां चन्द्रस्य पञ्चदशकलाक्षयो न भवति। येन वारेण येन नक्षत्रेण त्रयोदशी जाता, तेन वारेण तेन नक्षत्रेण नामावासी कुत्रचिद् भवेदिति। अतः कारणात् तेषां ज्योतिषाभिमतं न पञ्चाभिज्ञाभिरर्थसंदर्शनम्। तथा पुराणधर्मा मिथ्यापापमतीनाम्। तद्यथोक्तम्—

"क्षीर[203a]समुद्रमथने वलिराजकाले, उच्चैःश्रवैरावण(त)कौस्तुभपारिजातकाप्सरोलक्ष्मीचन्द्रामृतकालकूटानि विनिर्गतानि" इति किल पुराणधर्म-

वाक्यम् । यद्येवं तदा अन्धकस्यैव राज्ये तिथिर्वारो मासं नक्षत्रमृतुर्न स्यात्, चन्द्रादित्योदयास्तमनाभावात् । समुद्रे स्थितस्य चन्द्रस्य नक्षत्रभोगाभावात् प्रतिपदादिकलाग्रहणं न स्यात्, आदित्यस्याप्युदयास्तङ्गमनं मङ्गलादिग्रहाणां सप्तवारपरिभोगश्च न स्यात् । एवं हि हिरण्यकश्यपस्य राज्ये वाराद्यभावः । तत्र कुले कालवशाद् बलिर्जातः । ततः समुद्रो मथितो देवासुरैरिति । अथ नायं चन्द्रः, स ईश्वरमौलिचन्द्रः, तदेव वचनं न घटयति, तस्यैवेन्दोरभिलाषादन्धको मरणमुपगतः । कालकूटं विनिर्गतं तदेवासत्यम्, प्रागीश्वरो नीलकण्ठो न, बलिराजकाले कालकूटविषभक्षणात् । तथा ऐरावणो(तो)च्चैःश्रवालक्ष्मीकौस्तुभामृतानि विनिर्गतानि, तदेवासत्यम्, येनान्धकयुद्धे सर्वे देवाः स्वस्वचिह्नाः स्वस्ववाहनस्था इति । अथ दुष्टर्षीणां वाक्यं दुर्वाससः शापेनेन्द्रस्यर्द्धिः समुद्रं प्रविष्टा, तदेवासत्यम्, नेन्द्रस्य शापेनान्यदेवानामृद्धिहानिरिति । एवमुक्तक्रमेण पुराणधर्माः सर्वे वृथाः स्युः । उक्तं भगवता पञ्चमपटले द्व्यशीत्यधिकशततमेन वृत्तेन पुराणधर्मा वृथा इति । तद्यथा—

लक्ष्मीरुच्चैःश्रवाश्वः सुरतरुगजपत्यप्सरःकौस्तुभेन्दु-
पीयूषाण्यब्धिमथने यदि दिवि गगने स्युर्बले राज्यकाले ।
चन्द्राभावे न वारस्तिथय ऋतुगणश्चान्धकस्यैव राज्ये
सोऽपीशार्धेन्दुलोभान्मरणमुपगतस्तस्य पश्चाद्बलिः सः ॥

इत्यनया युक्त्या विचार्यमाणानि लोकपुराणान्यनृतानीति ।

अथ ब्रह्मर्षीणां दुष्टवचनम्—इह प्राग्वेदधर्मः सहजः, पश्चात् सर्वज्ञदेशितो धर्मः कृतकः । तस्माद् वेदधर्मो ज्येष्ठ इति । तदेवोच्यते—भवतु वेदधर्मो ज्येष्ठः, पश्चात् सर्वज्ञधर्मः । अत्र को विरोधः ? प्राङ्महान्धकारः सहजः [1]सर्वज्ञमार्गाप्रकाशकः, पश्चात् तस्य विध्वंसनार्थं सहस्रकिरणालोकः सर्वमार्गप्रकाशकोऽभूत् । अनयोर्महान्धकारालोकयोर्नान्धकारः सहजो ज्येष्ठः, सचक्षुषां न[2] प्रियः । एवं प्राग्वेदधर्मः सहजो ज्येष्ठो निर्वाणमार्गाप्रकाशकः, पश्चात् तस्य विध्वंसनार्थं सर्वज्ञधर्मः कनिष्ठो निर्वाणमार्गप्रकाशकोऽभूत् । अनयोर्वेदधर्मसर्वज्ञधर्मयोर्न वेदधर्मः सहजो ज्येष्ठो ज्ञानिनां प्रियः, सचक्षुषां महान्धकारवत् । अतो ज्येष्ठकनिष्ठयोः कनिष्ठः श्रेय इति । तस्मात् परमाक्षरज्ञानसाधनेन निर्वाणं भवति, न च्युतिवासना वेदधर्मैरिति ।

एवं मत्स्यादिपुराणमपि कल्किपर्यन्तं विचार्यमाणं निरर्थकम् । अयं बुद्धो भगवान् वासुदेवो नवमोऽवतारः, कल्की दशमश्चेति । [203b] बुद्धः कलियुगे महामायाच्छलेन यज्ञधर्मं दूषयिष्यति, संग्रामधर्मं पितृकार्यं जातिवादं प्राणातिपातं मृषावादमदत्तादानं काममिथ्याचारं पारुष्यं पैशुन्यं संभिन्नप्रलापमभिध्यां व्यापादं मिथ्यादृष्टिं सर्वसत्त्वापकारं स्वगोत्रक्षयं क्षत्रधर्मं स्वर्गफलदायकं व्यासमहर्षिवचनं भारतं गीतावचनं वेदवचनं दूषयिष्यति । ततस्तान् दूषयित्वा शूद्रादीनां विपरीतधर्मं देशयि-

१. भो. Lam Thams Cad (सर्वमार्गं) । २. च. 'न' नास्ति ।

ष्यति। तद्यथा—दानपारमिता शीलपारमिता क्षान्तिपारमिता वीर्यपारमिता ध्यानपारमिता प्रज्ञापारमिता उपायपारमिता प्रणिधिपारमिता बलपारमिता ज्ञानपारमिता एता दशपारमिता बोधिसत्त्वैः परिपूरणीयाः। सर्वसत्त्वेषु मैत्रीचित्तं कर्तव्यम्, करुणाचित्तं कर्तव्यम्, सर्वसत्त्वोपकारः कर्तव्यः, प्राणातिपात-मृषावाद-अदत्तादानकाममिथ्याचार-रूक्षपैशुन्यसंभिन्नप्रलापाभिध्याव्यापादमिथ्यादृष्टिदशाकुशलाः कर्मपथा न कर्तव्याः, एभिर्विपरीतधर्मपर्यायैः शूद्रादीन् बोधयित्वा मुण्डयित्वा काषायधारिणो भिक्षून् करिष्यति। ये प्राग्दानवपक्षे व्यवस्थिता वासुदेवेन संग्रामे न हताः, येन ब्राह्मणानां दूषणं कृत्वा नरकं गच्छन्ति, तेनेयं बुद्धमाया विष्णुना कृता, शूद्रादीनां प्राग्दानवपक्षे
T 452 स्थितानां नरकगमनार्थम्। एवं बुद्धावतार इति।

कल्की पुनः संभलविषये यशोब्राह्मणस्य पुत्रो भूत्वा वासुदेवः शैलाश्वमारुह्य दर्भमयैः शल्लैः सर्वम्लेच्छान्मारयित्वा बहुसुवर्णमेधयागं कृत्वा पुनर्ब्राह्मणमयीं पृथ्वीं करिष्यति। एवमनेकवाक्यान्यघटितानि दुष्टविप्रैर्बुद्धोत्पादकाले रचितानि, प्राग्वेदपाठे न सन्ति। इहादिबुद्धदेशनाकाले तथागतेनोक्तं लोकधातुपटले (१.२६) ज्योतिषप्रस्तावे म्लेच्छधर्मे जाते सति सिद्धा[न्ता]नां विनाशो भविष्यति, पृथिव्यां लघुकरणानि भविष्यन्ति, मञ्जुघोषोऽपि मयि निर्वृते षड्वर्षशतैः संभलविषये शाक्यकुले सुरेशानस्य पुत्रो [1]विजयादेवीगर्भे यशोनाम कल्की भविष्यति। तद्यथा—

आद्याब्दात् षट्शताब्दैः प्रकटयशनृपः सम्भलाख्ये भविष्यत्
तस्मान्नागैः शताब्दैः खलु मखविषये म्लेच्छधर्मप्रवृत्तिः।
तस्मिन् काले धरण्यां स्फुटलघुकरणं मानवैर्वेदितव्यं
सिद्धान्तानां विनाशः सकलभुवितले कालयोगाद् भविष्यत्॥ इति।

(का० त० १.२६)

मञ्जुघोषो व्याकृतस्तथागतेन। स च सार्धं त्रिकोटीनां ब्रह्मर्षीणां सूर्यरथप्रमुखानां वज्रयानाभिप्रायेणैकवर्णं करिष्यति। तेन कल्की नाम मञ्जुघोषस्य भविष्यति, न ब्रह्मजातिस्थापनेन। यदि यशोब्राह्मणस्य पुत्रः कल्की तदा केनात्रासौ कल्की, धनेन विना धनी। कल्को नाम वर्णावर्णानामेकीकरणम्, स कल्कोऽ[2]स्यास्तीति कल्की, न कल्केन विना, स एव कल्की। पुन[3]र्युगावसाने म्लेच्छानामत्यन्ताधमं दृष्ट्वा शैलवन्निष्कम्पो भूत्वा परमाश्वसमाधिनाऽनन्तान् परमाश्वान् स्फारयित्वा तैर्म्लेच्छानां चित्तानि द्रावयित्वा स्वधर्मे स्थापयिष्यति। तेषां धर्मोत्पाटनं करिष्यति, न प्राणत्यागम्। उक्तं भगवताऽध्यात्मपटलेऽष्टचत्वारिंश[204a]त्तमेन वृत्तेन—

---

१. भो. Lha Mo sNa Tshogs Yum Gyi mNal Nas (माता विश्वदेवीगर्भे)।
२. भो. Gaṅ La Yod Pa (यस्यास्ति)। ३. भो. Dus bSi (चतुर्युगा)।

चक्री वज्री स्वदेहे सुरवरपतयो द्वादशाङ्गा निरुद्धाः
सम्यग्ज्ञानं हि कल्की गजतुरगरथा किङ्करार्याप्रमाणाः।
प्रत्येकं रुद्रसंज्ञां प्रभवति हनुमान् श्रावकं प्राणिनां च
पापं म्लेच्छेन्द्रदुष्टं स्वकुशलपथि यत् क्रूरमतिर्दुःखदाता॥
(का० त० २.४८)

इत्यादि म्लेच्छयुद्धं तथागतेन व्याकृतम्, यत् प्रथमपटले (१.१६१) उक्तम्—शैलाश्वैः कल्की म्लेच्छान् हरिष्यति, तत्तेषां दुष्टर्षीणां चित्तापकर्षणार्थम्, अन्यथा प्रथमं संदेहचित्ते जाते सति बोधयितुं न शक्यन्ते। तस्मादुक्तं भगवता बोधिसत्त्वेनोपायकौशलेन भवितव्यमिति। अतः पुराणधर्मा निरर्थका विचार्यमाणा इति। अथ दुष्टर्षीणां वाक्यम्—

पुराणं मानवो धर्मः साङ्गो वेदश्चिकित्सया(कम्)।
आज्ञासिद्धानि चत्वारि न हन्तव्यानि हेतुभिः॥
मानवं व्यासवाशिष्ठं वचनं वेदसंयुतम्।
अप्रमाणं हि यो ब्रूयात् स भवेद् ब्रह्मघातकः॥ इति।

एतदेव बालानां व्यामोहजनकं दुष्टर्षीणां मिथ्यावाक्यं विचारशून्यं स्वजातिप्रतिष्ठापनार्थमिति ।

ननु यदि सत्त्वानां रागच्युतिवासनाऽनादिस्तस्याः प्रभावेण संसारः, तदा किमर्थं भगवता द्वादशाङ्गप्रतीत्यसमुत्पादो देशितः, क्लेशकर्मदुःखेषु यथाक्रमेणाविद्यादीन्यङ्गानि त्रिषु संगृहीतानि। ततः क्लेशात् कर्म भवति, कर्मणो दुःखं भवति, दुःखात् पुनः क्लेशो भवति। एतदेव भवचक्रं हेतुः फलं च सर्वं जगत्। अन्यो नास्ति कश्चित् सत्त्वः। शून्येभ्यो धर्मा भवन्ति, धर्मेभ्यः शून्याश्च भवन्ति। स्वाध्यायादिभिर्दृष्टान्तैस्ते ज्ञातव्याः। तस्माच्च्युतिवासनेयं संसारचक्रं न भवति, इह कस्यचिदभिप्रायो भविष्यति, तस्मादुच्यते—इह हि यदुच्यते बालैरविद्यादिद्वादशाङ्गं प्रतीत्यसमुत्पादः क्लेशकर्मदुःखात्मकः, तदेव संसारचक्रम्, तन्न, कस्मात्? भगवतः परमाक्षरविद्याधरत्वात्। इह हि भगवान् वज्रसत्त्वः परमाक्षर[1]महाविद्याधरः संसारवासनातिक्रान्तः, तद्वैधर्म्येण संसारिणः क्षरविद्याधराः संसारवासनाग्रस्ताः। तस्मात् परमाक्षरो महारागो विद्या, अविद्या इहानादिरागवासनासत्त्वानाम्, तया रागप्रवृत्तिः, रागोऽपि क्षरः, क्षराद्विरागः। विरागो नाम द्वेषः, द्वेषात्मिका मूर्च्छा, मूर्च्छा नाम मोहः। एवं रागद्वेषमोहात्मिका अविद्या नाकाशपुष्पमाला। अविद्यानाम क्लेशः अविद्यायाः संस्कारः कर्म, संस्काराद्विज्ञानं दुःखमिति प्रथममृदुमात्रा कायवाक्चित्तमिति। ततो विज्ञानान्नामरूपं क्लेशः, नामरूपात् षडायतनं कर्म, षडायतनात् स्पर्शो दुःखमिति द्वितीया मध्यमात्रा कायवाक्चित्तम्। ततः [2]स्पर्शाद् वेदना क्लेशः, वेदनायास्तृष्णा

१. भो. 'महा' नास्ति। २. च. 'स्पर्शात्' नास्ति।

कर्म, तृष्णाया उपादानं दुःखमिति तृतीयाधिमात्रा कायवाक्चित्तम् । तत उपादानाद्भवः क्लेशः, भवाज्जातिः कर्म, जातेर्जरामरणं दुःखमिति चतुर्थी अधिमात्राधिमात्रा कायवाक्चित्तम् । एवं कायवाक्चित्तज्ञानात्मिकाश्चतस्रो मात्रा मकरादिषु त्रिषु त्रिषु लग्नेषु गर्भद्वारबाह्यभेदेषु । तत्र नराणां गर्भाधान[204b]मासो मकरोऽविद्यागर्भः, द्वितीयो मासः कुम्भः संस्कारो द्वारम्, तृतीयो मासो मीनो विज्ञानं बाह्य इति त्रिमासात्मिका मृदुमात्रागर्भजानाम् । ततश्चतुर्थो मेषो नामरूपं गर्भः, पञ्चमो वृषभः षडायतनं द्वारम्, षष्ठो मिथुनः स्पर्शो बाह्य इति त्रिमासात्मिका मध्यमात्रा । ततः सप्तमो मासः कर्कटको वेदनागर्भः, अष्टमः सिंहस्तृष्णाद्वारः, नवमः कन्या उपादानं T 453 बाह्य इति त्रिमासात्मिका तृतीयाधिमात्रा । ततो दशमो मासस्तुलाभवो गर्भः, एकादशमो वृश्चिको जातिर्द्वारम्, द्वादशमो धनुर्जरामरणं बाह्य इति त्रिमासात्मिका अधिमात्राधिमात्रा । एवं कायवाक्चित्तज्ञानभेदेन ज्ञानस्य प्रथममृदुमात्रा कायस्य सा चतुर्थी वेदितव्या । उक्तं भगवता तन्त्रराजे ज्ञानपटले पञ्चमे सप्तत्यधिकशततमेन वृत्तेन[1]—

कर्मक्लेशाच्च दुःखं प्रभवति च ततः क्लेश एव स्वदुःखा-
देतत्संसारचक्रं भ्रमति फलसमो हेतुरन्यो न सत्त्वः ।
शून्येभ्यः स्कन्धधर्माः पुनरिह मरणान्ते च तेभ्यश्च शून्या
ज्ञेयाः स्वाध्यायदीपोदककुसुमरवैः सूर्यकान्ताम्लबीजैः ॥ इति ।

एभिः स्वाध्यायादिभिर्दृष्टान्तैः स्कन्धानामुत्पादनिरोधो वेदितव्यः । यथा स्वाध्यायैर्नोपाध्यायस्य विद्याक्षयः, नाप्राप्तिः शिष्यस्य । एवं प्रदीपात् प्रदीपनिर्गमः । उदकेऽपि च चन्द्राच्चन्द्रः । पुष्पाद् वस्त्रे गन्धः । सूर्यात् सूर्यकान्तेऽग्निः, रवात् प्रतिरवः । अम्लाज्जिह्वास्रावः । बीजादङ्कुरः । तथा स्कन्धानामभिसन्धिः क्षररागवासनावशात् । अतो भगवतो वचनात् संसारचक्रं क्षररागोऽविद्येति । इह यदा क्षररागो नष्टस्तदा परमाक्षरो भवति । परमाक्षरो महारागः । महारागाद्विरागो नष्टः । विरागो नाम द्वेषः । द्वेषक्षयान्महाद्वेषो भवति । महाद्वेषाद् मूर्च्छानाम मोहो नष्टः । मोहक्षयान्महामोहो भवति । महाराग-महाद्वेष-महामोहाद्रागद्वेषमोहमानात्मिकाऽविद्या नष्टा । अविद्याक्षयाद् महाऽविद्या भवति । एवमविद्यानिरोधात् संस्कारनिरोधः, संस्कारनिरोधाद् विज्ञाननिरोधः, विज्ञाननिरोधान्नामरूपनिरोधः, नामरूपनिरोधात् षडायतननिरोधः, षडायतननिरोधात् स्पर्शनिरोधः, स्पर्शनिरोधाद् वेदनानिरोधः, वेदनानिरोधात् तृष्णानिरोधः, तृष्णानिरोधादुपादाननिरोधः, उपादाननिरोधाद् भवनिरोधः, भवनिरोधाज्जातिनिरोधः, जातिनिरोधाज्जरामरणनिरोध इति । एवं द्वादशाङ्गनिरोधः । वैधर्म्येण भगवतोऽङ्गानि निरावरणानि वेदितव्यानीति ।

ननु यदि क्षररागेण ध्वस्तेन योगिनां बुद्धत्वं भवति, तदा मृत्युस्कन्धक्लेशदेवपुत्राणां चतुर्णां विध्वंसनं किमर्थं तथागतेन कृतम् ? तस्मात् क्षररागविध्वंसनेन बुद्धत्वं

---

१. भो. ḥDi lTa sTe (तद्यथा) इत्यधिकम् ।

न भवति, इह कस्यचिदभिप्रायो भविष्यति । तस्मादुच्यते—इह [205a] हि यदुच्यते मूर्खैर्बाह्यमारास्तथागतेन विध्वंसिताः, तन्न, कस्मात् ? पूर्वापरविरोधात् । इह यदि प्राग्बुद्धत्वं पश्चान्मारभङ्गस्तदा बुद्धस्य निरावरणता नास्ति, मारोपद्रवात् । अथ प्राग्मारभङ्गः पश्चाद् बुद्धत्वम्, तदाऽन्येऽपि संसारिणो मारभङ्गं किं न कुर्वन्ति बुद्धत्वं विना । अथ युगपच्च मारभङ्गो भवति, तथा युगपच्च मारभङ्गो न कृतः, यस्मिन् क्षणे मारस्तस्मिन् क्षणे बुद्धत्वं न स्यात्, सावरणचित्तात् । यस्मिन् क्षणे बुद्धत्वं तस्मिन् क्षणे मारो नास्ति, सर्वावरणक्षयात् । तस्मात् सत्त्वानां कायवाक्चित्ताविद्यावासनात्मकाश्चतुर्माराः । तेषु कायावरणं स्कन्धमारः, वागावरणं क्लेशमारः, चित्तावरणं मृत्युमारः, बाह्याविद्याप्रवृत्तिर्देवपुत्रमारः । इयं बाह्याविद्याप्रवृत्तिः शुभाशुभकर्मफलोपभोगपरीक्षकाणां बालमतीनां संसारभोगाभिलाषिणां देवपुत्रमारवाक्येन भवति । अत्र देवपुत्रमाराणां वचनं चन्द्रबलेन सत्त्वानां शुभाशुभं भवति, सूर्यबलेन मङ्गलबलेन बुधबलेन बृहस्पतिबलेन शुक्रबलेन शनिश्चरबलेन राहुबलेन केतुबलेन वारबलेन तिथिबलेन नक्षत्रबलेन योगबलेन करणबलेन लग्नबलेन शुभाशुभं भवति । तथाऽन्येषां स्वरोदयबलाभिरतानां वचनम्—संग्रामे स्वरोदयबलेन विजयो भवति, योगिनीबलेन ताराबलेन राहुबलेन [1]भद्रबलादिना संग्रामभूम्यां विजयो भवति । एवं श्रावकबौद्धानामपि बाह्याविद्याप्रवृत्तिः । प्रतीत्यसमुत्पादाभिप्रायेण सत्त्वानां शुभाशुभं भवति । तथाऽन्येषां देवपुत्राणां वचनम्—देवताप्रसादेन सर्वं शुभं भवति, इत्येवमाद्यविद्याप्रवृत्तिः सत्त्वानां देवपुत्रमारवाक्येन । इह हि यदि जन्मान्तरपुण्यपापाभ्यां विना देवपुत्रमारवचनैः सत्त्वानां शुभाशुभं भवति, तदा पूर्वार्जितं शुभाशुभं सर्वं निरर्थकं स्यात्, ग्रहादिबलाबलोपभोगात् । न चैवम्, तथा च दृश्यते व्यभिचारः—

न लग्नात् सुखवती सीता विजयी दुर्योधनो न च ।
अमावास्याप्रसादेन भीमसेनेन चूर्णितः ॥

अर्जुनं हन्तुकामा ये योधा भूमिबले स्थिताः ।
तेऽर्जुनस्य शरैर्भिन्नाः सर्वदिक्षु क्षयं गताः ॥

अतः प्राक् शुभाशुभकर्मफलं भोक्तव्यं सत्त्वैरिति । तथा चोक्तं भगवता—

कायवाङ्मानसं कर्म यत्करोति शुभाशुभम् ।
सत्त्वस्तस्य फलं भुङ्क्ते फलदा नान्यदेवता ॥ इति ।

अथ देवताप्रसादोऽपि यो दृश्यते, स प्राक्पुण्यबलेन सत्त्वानां न पापबलेनेति । पुण्यमपि सत्त्वोपकाराद्भवति न देवतापितृकार्ये प्राणातिपातादिति । उक्तं भगवताऽध्यात्मपटले एकोननवतितमेन वृत्तेन कर्मफलम् । तद्यथा—

---

१. भो. Drag Po (रुद्र) ।

तस्मात् कर्ता न कश्चिद् ददति न हरति प्राणिनां सौख्यदुःखं
संसारे पूर्वकर्म प्रभवति फलदं यत्कृतं त्रिप्रकारम् ।
मूढानां [205b] बुद्धिरेषा ददति स हरते सृष्टिसंहारकर्ता
देहे च्छिद्रं न पश्यन्त्यपरिमितशुभं हार्यमाणं स्वकाक्षैः ॥

(का० त० २.८९)

तथा देवपुत्रमारोऽप्युक्तः [1]पञ्चमपटले षडशीतितमेन वृत्तेन—

ये प्रोक्तानेकमन्त्रास्त्रिभुवनपतिना क्रूरकर्मस्वभावा-
T 454 स्ते सर्वे मारपक्षक्षयभयजनकाः प्राणिनां नो कदाचित् ।
कर्तारो ये स्मृतीनां रणविषयरता मारकान्येऽपि तीर्था-
स्तेषां ते योजनीयाः परमजिनसुतैः प्राणिनां रक्षणार्थम् ॥ इति ।

(का० त० ५.८६)

अतो भगवतो वचनादविद्याप्रवृत्तिर्मारवचनैर्योगिना [2]न कर्तव्येति । एवं सत्त्वानां स्वचित्तवासनाप्रतिभासो भगवान् वज्रसत्त्वः । एवं सत्त्वानां प्रतिभासो भगवान् पुण्यराशिः पापराशिरिति । उक्तं भगवता ज्ञानपटले पञ्चाकारस्तवे चतुर्थवृत्तेन । तद्यथा—

चिन्मात्रं मन्त्ररूपं त्रिदशपरिवृतं दुःखसौख्यस्वभावं
साधूनां शान्तरूपं स्वकृतमनुभवं दारुणं दारुणानाम् ।
यो यत् कर्मा विकुर्यात् स्वमनसि विधिवत्तत्फलं तस्य जातं
लोकेशं विश्वरूपं त्रिभुवनजननं वज्रसत्त्वं नमामि ॥ इति ।

(का० त० ५.२४७)

अतः सत्त्वानां स्वचित्तवासनाप्रतिभासो वज्रसत्त्वश्च मारश्च, न भगवतो मार इति । [3]एषामुक्तानां कायवाक्चित्ताविद्यामाराणां जनकः क्षरः क्षणः कामदेवोऽभिधीयते । स तथागतेन विध्वस्तः परमाक्षरक्षणेन, तस्य भङ्गो मारबलभङ्गो रागद्वेषमोहक्रोधानामविद्यारूपाणां क्षयः । इह क्षरवासनानिरोधाद् रागद्वेषमोहक्रोधनिरोधः, एषां निरोधादविद्यानिरोधः । एवं क्रमशो द्वादशाङ्गानां निरोधः, द्वादशाङ्गनिरोधाद् भवचक्रस्य निरोधः, भवचक्रनिरोधाद् बुद्धत्वं निरावरणं भवतीति । एषु श्रावकपारमितामन्त्रनयेषु परमाक्षरहृदयं वज्रधरभगवतो **नामसंगीत्यां** तथागतेन देशितम् । अस्यार्थमजानन्तोऽसद्गुरवो नष्टाः परमाक्षरज्ञानभ्रष्टा अनागतेऽध्वनि भविष्यन्ति । तैर्विनष्टैः सत्त्वा विनाशयितव्याः । तेन **मूलतन्त्रे** पञ्चाकारज्ञानस्तवे पञ्चश्लोकैः पञ्चाकारभावना भगवतोक्ता । तद्यथा—

१. च. 'पञ्चमपटले' नास्ति । २. च. 'न' नास्ति । ३. भो. sNar brJod Pa ḥDi rNams (एषां पूर्वोक्तानां) ।

शून्ये भावसमूहोऽयं कल्पनारूपवर्जितः।
दृश्यते प्रतिसेनेव कुमार्या दर्पणे यथा॥

इति लोकोत्तरसत्ये रूपस्कन्धादर्शज्ञानम्,

सर्वभावसमो भूत्वा एको भावोऽक्षरः स्थितः।
अक्षरज्ञानसंभूतो नोच्छेदो न च शाश्वतः॥

इति वेदनास्कन्धः समताज्ञानम्,

सर्वसंज्ञात्मका वर्णा अकारकुलसम्भवाः।
महाक्षरपदप्राप्ता न संज्ञा न च संज्ञिनः॥

इति संज्ञास्कन्धः प्रत्यवेक्षणाज्ञानम्,

अनुत्पन्नेषु धर्मेषु संस्काररहितेषु च।
न बोधिर्नैव बुद्धत्वं न सत्त्वो नैव जीवितम्॥

इति संस्कारस्कन्धः कृत्यानुष्ठानज्ञानम्,

विज्ञानधर्मतातीता ज्ञानशुद्धा ह्यनाविलाः।
प्रकृतिप्रभास्वरा धर्मा धर्मधातुर्गतिं गताः॥

इति विज्ञानस्कन्धः सुविशुद्धधर्मधातुज्ञानम्।

तथा लघुतन्त्रेऽप्युक्तमेकोत्तर[206a]शतादिवृत्तत्रयेण चक्रचिह्नादितथागतस्कन्धलक्षणम्। तद्यथा—

चक्रं स्वच्छं समन्तात् त्रिभव इति सुखं रत्नमस्यैव रागः
पद्मं क्लेशक्षयोऽसिः कुलिशमपि महाज्ञानकायो ह्यवेद्यः।
छेदोऽज्ञानस्य कर्त्री त्विह षडपि च कुलान्येभिरुत्पादिता ये
तेऽप्येवं वेदितव्याः खमिव समरसाः स्कन्धधात्विन्द्रियाद्याः॥

यस्मिन् वै जातिरूपं व्रजति निधनतां तन्महारूपमुक्तं
यस्यां संसारदुःखं व्रजति निधनतां सा महावेदनोक्ता।
यस्यां संसारसंज्ञा व्रजति निधनतां सा महावज्रसंज्ञा
यस्मिन् संसारवृद्धिर्व्रजति निधनतां वज्रसंस्कार एव॥

यस्मिन् जाग्राद्यवस्था व्रजति निधनतां तच्च विज्ञानमुक्तं
यस्मिन्नज्ञानभावो व्रजति निधनतां तन्मुनेर्ज्ञानमेव।
एते वैरोचनाद्याः परमजिनवराः षड्विधाः षट्कुलानि
अन्ये षड्धातुभेदा अवनिशिखिपयोमारुताकाशशान्ताः॥

(का० त० ५.१०१–१०३)

तथा नामसंगीत्यां वज्रधरभगवतः परमाक्षरज्ञानं बुद्धबोधिसत्त्वानां हृदयभूतं तथागतेन प्रकाशितं द्वाषष्ट्यधिकशतैः श्लोकैः साध्येषणैः। तत्र "अथ वज्रधरः श्रीमान्" इत्यादिना "प्रह्वकायस्थितोऽग्रतः" इति पर्यन्तमध्येषणाश्लोकाः षोडश, "अथ शाक्यमुनिर्भगवान्" इत्यादिना "तत्साधु भगवन्" इति पर्यन्तं प्रतिवचनश्लोकाः षट्, पुनः "अथ" आदिनामतः "उष्णीषकुलं महत्" इति पर्यन्तं षट्कुलावलोकश्लोकद्वयम्, "इमं षण्मन्त्रराजानम्" इत्यादिना "अरपचनाय ते नमः" इति पर्यन्तं मायाजालसम्बोधिक्रमे श्लोकत्रयम्, "तद्यथा भगवान् बुद्धः" इत्यादिना "महायाननयोत्तमः" इति पर्यन्तं वज्रधातुमहामण्डलस्तवश्लोकाश्चतुर्दश, "महावैरोचनो बुद्धः" इत्यादिना "वज्राङ्कुशो महापाशः" इति पर्यन्तं सुविशुद्धधर्मधातुज्ञानस्तवश्लोकाः पादोनपञ्चविंशत्, "वज्रभैरवभीकरः" इत्यादिना "घोषो घोषवतांवरः" इति पर्यन्तमादर्शज्ञानश्लोकाः पादाधिकदश, "तथता भूतनैरात्म्ये" इत्यादिना "ज्ञानार्चिः सुप्रभास्वरः" इति पर्यन्तं प्रत्यवेक्षणाज्ञानस्तवश्लोका द्वाचत्वारिंशत्, "इष्टार्थसाधकः" इत्यादिना "रत्नकेतुर्महामणिः" इति पर्यन्तं समताज्ञानस्तवश्लोकाश्चतुर्विंशतिः, "सर्वसम्बुद्धबोद्धव्यः" इत्यादिना "मञ्जुश्रीः श्रीमतांवरः" इति पर्यन्तं कृत्यानुष्ठानज्ञानस्तवश्लोकाः पञ्चदश, "नमस्ते वरदवज्राग्र्य" इत्यादिना "ज्ञानकाय नमोऽस्तु ते" इति पर्यन्तं पञ्चतथागतज्ञानस्तुतिश्लोकाः पञ्च। एभिर्द्वाषष्ट्यधिकशतश्लोकैः सर्वयानेषूद्धृत्य संगृहीतं वज्रधरभगवतो हृदयं समन्तभद्रं परमाक्षरमहासुखमाकाशधातुपर्यन्तं समन्तादवभासमानं
T 455 विशुद्धज्ञानसम्भारसम्भूतं गम्भीरोदाररूपधरं प्रकृतिप्रभास्वरमनादिनिधनमात्मात्मीयग्राह्यग्राहकादिविकल्पमलरहितं सर्वकालमसंक्लिष्टं सर्वधर्मस्व[206b]भावज्ञं संसारवासनाविनिर्मुक्तं गतागतविरहितं निष्प्रपञ्चरूपं स्वरसप्रवृत्तिजृम्भितविविधसमाधिधारणीनामाधारं भद्रघटकल्पपादपचिन्तामणिवत् सर्वसत्त्वाशापरिपूरकं महामुनीनामप्यगोचरं महतः सत्त्वराशेः परमशान्तिकरं मायोपमं स्वप्नोपमं प्रतिबिम्बोपमं प्रतिश्रुत्कोपमम्। एतदेव त्रिभुवनमहनीयं योगिज्ञानं स्वसंवेद्यं परमाक्षरसुखं योगिना न त्यक्तव्यमिति तथागतनियमः। अस्य भावना मूलतन्त्रराजे ज्ञानपटले तथागतेनोक्ता। तद्यथा—

धूमादीन् भावयित्वा तु चित्तं कृत्वा तु निश्चलम्।
मध्यमायां शोधयित्वा भावयेत् परमाक्षरम्॥

पद्मे वज्रं प्रतिष्ठाप्य प्राणं बिन्दौ निवेशयेत्।
बिन्दूंश्चक्रेषु बिन्दूनां स्पन्दं वज्रे निरोधयेत्॥

स्तब्धलिङ्गः सदा योगी ऊर्ध्वरेताः सदा भवेत्।
महामुद्राप्रसङ्गेन वज्रावेशैरधिष्ठितः॥

एकविंशतसहस्रैश्च षट्शतैः परमाक्षरैः।
क्षणैः पूर्णैर्महाराज वज्रसत्त्वः स्वयं भवेत्॥

उक्तं भगवता तन्त्रराजे ज्ञानपटले पञ्चाकारस्तवे आदिवृत्तेन निर्वाणं निर्निमित्तमिति । तद्यथा—

यस्यान्तं नादिमध्यं स्थितिमरणभवं शब्दगन्धौ रसश्च
स्पर्शो रूपं न चित्तं प्रकृतिरपुरुषो बन्धमोक्षौ न कर्ता ।
बीजं न व्यक्तकालं न सकलभुवने दुःखसौख्यस्वभावं
निर्वाणं निर्निमित्तं व्यपगतकरणं निर्गुणं तं नमस्ये ॥ इति ।
(का० त० ५.२४४)

वज्रमुपायः । अत्रैव पञ्चमेन वृत्तेन प्रज्ञा उक्ता निर्निमित्ता—

एको नैकोऽपि चैकः समविषमसमः सव्यवामाग्रपृष्ठ
ऊर्ध्वाधो वै समन्तात् सितहरितमहाविश्ववर्णैकरूपः ।
ह्रस्वो दीर्घः प्लुतश्चागुण इति सगुणः स्त्री नरश्चानरस्त्रो-
र्यः सर्वाधार एकः सुभगवरभगस्ते नमस्ते नमस्ते ॥ इति ।
(का० त० ५.२४८)

सत्त्वं पद्मं प्रज्ञा, एवं वज्रसत्त्वः । उक्तं भगवता तन्त्रराजे ज्ञानपटले—

प्रज्ञोपायाम्बुजं वज्रं साधाराधेयमुच्यते ।
तयोर्द्वन्द्वं समापत्तिर्वज्रयोगोऽद्वयोऽक्षरः ॥
चतुर्धा वज्रयोगं तं कालचक्रं नमाम्यहम् ।
कलापे निर्गतो राजा पौण्डरीकोऽब्जधृक् स्वयम् ॥ इति ॥ १२७॥

इति श्रीलघुकालचक्रतन्त्रराजे द्वादशसाहस्रिकायां
विमलप्रभाटीकायां परमाक्षरज्ञानसिद्धिर्नाम
महोद्देशस्तृतीयः ॥

(४) नानोपायविनेयमहोद्देशः

पञ्चाक्षरं महाशून्यं बिन्दुशून्यं षडक्षरम् ।
प्रणिपत्यादिकादीनां श्वाससंख्या वितन्यते ॥

ऌाद्या यास्त्वष्टमात्रा विषयगुणगताश्चार्धमात्राविहीना
अन्योन्यं भेदभिन्नाः सपदरसशरा मध्यमाश्वासवाहाः ।
दीर्घा लग्ने द्वितीये विषयगुणवशाद् भेदिताऽन्योन्यभेदै-
र्भूयः सन्धौ तृतीये प्लुतविषयगुणा मध्यमाश्वासवाहाः ॥१२८॥

लृाद्येत्यादि। इह लृकारादयो थाऽष्टमात्रा अर्धमात्राविहीना विषयगुणगता इति लृ गन्धगुणगता, उ रूपगुणगता, ऋ रसगुणगता, इ स्पर्शगुणगता, अ शब्दगुणगुता, अं सत्त्वगुणगता, अः रजोगुणगता, आँ तमोगुणगता प्लुता। अनाहतोऽर्धमात्रो ह इति। अनेनोनाः सार्धसप्त, एवमष्टमात्रा अर्धमात्राविहीनास्ता अन्योन्यं भेदभिन्ना इति प्रत्येका सार्धसप्तभेदभिन्ना समुदयसत्येन सर्वास्ता गुणिताः [207a] सपादषट्पञ्चाशद् भवन्ति सपदरसशरा इति। ताश्च उत्पन्नस्य बालस्य मेषादिलग्ने ह्रस्वा मध्यमाश्वासवाहा भवन्ति। ततो वामनाड्यां मण्डले सञ्चारः प्रथमोत्पन्नस्य बालस्य। दीर्घाऽप्येवं द्वितीये लग्ने वृषभादिके समे मध्यमाश्वासवाहा इति। इह यद्यपि लृ आद्या उक्ताः, तथापि वामनासापुटे आकाशादिमण्डले प्राणस्य गमनम्। अत्र पुनर्नाभ्यादिपञ्चगुणादिनियमेन प्राण आकाशादिपृथिव्यादिसाधर्म्येण गृह्यते, ह्रस्वदीर्घभेदेन विषमसमलग्नयोरिति। भूयः सन्धौ तृतीये प्लुतविषयगुणा मध्यमाश्वासवाहा इति। इह यदि बालः संक्रान्तिकाले [1]भवति, तदा प्राणो मध्यमायां प्लुतो भूत्वा वामदक्षिणे संचरति। एभिः पूर्वोक्तैः सर्ववर्णसञ्चारो वेदितव्य इति। अत्र लृकारभेदः। तद्यथा—लृ लु लॄ लि ल लं लः लां ल्, इति, एवं उ व्लृ वु वॄ वि व वं वः वां व् इति, तथा ऋ र्लृ रु रि र रं रः रां र् इति, तथा इ य्लृ यु यृ य यं यः यां य् इति, तथा अ अल् ओ अर् ए अं अः आं ह् इति, तथा अं म्लृ मु मृ मि मं मः मां म् इति तथा अ र्लृ रु र्ऋ रि र रं रः रां र् इति, तथा ह ह्लृ हु हृ हि ह हं हः हां ह् इति सपादषट्पञ्चाशत्। एवं दीर्घाः प्लुताश्च वेदितव्या अन्योन्यभेदैरिति ॥ १२८॥

इदानीमहर्निशश्वासमात्रा उच्यन्ते—

एवं सन्ध्याचतुष्के सशरगिरिरसा मध्यमाश्वासमात्रा-
स्त्रिंशत् काद्यक्षराणि प्रकटनवशतान्येव त्रिशद्धतानि।
षण्मात्राभेदभिन्नानि खखयुगशराणि त्रिलग्नत्रिनाडचा-
मेवं दीर्घप्रभिन्नान्यपरदिनगतानि त्रिलग्नत्रिनाडचाम् ॥१२९॥

त्रिंशत् काद्यक्षराणीति। क च ट प त शानां षण्णां ककारादीनि त्रिंशदक्षराणि प्रकटनवशतान्येव भवन्ति, त्रिंशत्प्रभेदादेकैकाक्षरस्य परस्परसंयोगात् त्रिंशद्भेदा भवन्ति। तद्यथा—क्क क्ख क्ग क्घ क्ङ क्च क्छ क्ज क्झ क्ञ क्ट क्ठ क्ड क्ढ क्ण क्प क्फ क्ब क्भ क्म क्त क्थ क्द क्ध क्न क्श कᳵप क्ष क्स कᳵक। एवं खादयो वेदितव्याः। प्रकटनवशतान्येवं भवन्ति ॥ १२९ ॥

भूयः षण्मात्रभिन्नान्यपि निशिसमये च त्रिलग्नत्रिनाडचा-
मेवं दीर्घप्रभिन्नान्यपरनिशिगते च त्रिलग्नत्रिनाडचाम्।

१. भो. sKyes Par (उद्भवति)।

श्वासोच्छ्वासान् वहन्ति प्रतिदिनसमये खखषट्चन्द्रनेत्रान्
पूर्वा आहृत्य शून्याः समविषमगतेर्योजयेन्मध्यमायाम् ॥१३०॥

पुनस्तानि नवशतानि **षण्मात्रभेदभिन्नानीति** । अ इ ऋ उ ऌ अं इत्येभिर्भिन्नानि खखयुगशराणीति चतुष्पञ्चाशतशतानि भवन्ति । **त्रिलग्नत्रिनाड्यामर्धरात्रादुदयं** यावदिति । ततो दीर्घषण्मात्राभिन्नान्युदयान्मध्याह्नं यावदपरत्रिलग्नत्रिनाड्यां श्वासमात्रा भवन्ति पूर्वसंख्या इति । भूयो ह्रस्वषण्मात्राभिन्नं मध्याह्नान्निशिसमयस्तस्मिन्नस्तङ्गतपर्यन्तं त्रिलग्नत्रिनाड्यां पूर्ववत् संख्या इति । एवं निशाया अपरभागेऽर्धरात्रं यावत् त्रिलग्नत्रिनाड्यां पूर्वसंख्या समात्रा । एवं **श्वासोच्छ्वासान् वहन्ति प्रतिदिनसमये खखषट्चन्द्रनेत्रानिति** षट्शताधिकैकविंशत्सहस्राणि । एभिः श्वासमध्ये **पूर्वा आहृत्य शून्याः समविषमगतेर्योजयेन्मध्यमायामिति** । इह पूर्वोक्ताः प्रत्येकमण्डले सपादैकादश, ते च मकरादिलग्नो[1]दयभेदेन प्रत्येकमण्डलान्ता [2]दकारादिभेदेन मध्यमायां योजयेदिति । असौ महाप्रपञ्चो बहुत्वान्न लिखितः, [3]**परमादिबुद्धे** षष्टिसाहस्रिकायां टीकायां ज्ञातव्य इति । न चानेन लोको[207b]त्तरकारणं किञ्चिदस्ति, येन प्रयत्नः कर्तव्य इति । अस्यादिकादेर्लोमकेशसंख्यं यावन्निर्गम इति ॥ १३० ॥ T 456

इदानीमष्टमार्धा या सार्धसप्तानां परा, सा उच्यते—

बाह्ये या चाष्टमार्धा प्रभवति घटिका राहुभोगात् परस्था
श्वासार्धं सा स्वदेहे खलु विगततमा सर्वलोकावभासा ।
पूर्वार्धा सान्धकारं त्रिभुवनसकलं लीयते यत्र शून्ये
तस्मात्तां भेदयित्वा विशति गततमां कालचक्रैकयोगी ॥१३१॥

[4]बाह्य इत्यादि । इह **बाह्ये** लोकधातौ **या चाष्टमार्धा** मात्रा **प्रभवति घटिका राहुभोगात् परस्थेति** । इह प्रत्येकर्तौ मास[5]द्वयेन राहुः पञ्चविषयलक्षणाः पञ्चनाड्यः, तथा सत्त्वरजस्तमोलक्षणास्तिस्रस्ता भुङ्क्ते, राशिचक्रमध्ये तासु सार्धसप्त भुङ्क्ते । अर्धनाडीं भोक्तुं न क्षमः । सा राहुभोगात् परस्था **श्वासार्धं सा स्वदेहे**ऽनुत्पन्नस्य बालस्य दण्डाकारं[6] नाभिललाटयोर्मध्ये बाह्ये निर्गमाभावादर्धश्वास उच्यते । मन्त्रभेदेनार्धमात्रा । सा **खलु विगततमा सर्वलोकावभासा** षाण्मासिकगर्भस्य पञ्चाभिज्ञातः । **पूर्वार्धा सान्धकारं त्रिभुवनसकलं लीयते यत्र शून्ये** मरणान्ते तुर्यां त्यक्त्वा सा सुषुप्तायां विशति, षण्मासं यावत् । ततः स्वप्नावस्थां प्राप्तो गर्भोऽपरार्धमात्रां विशति । **तस्मात्तां** तमोऽ-

१. भो. 'उदय' नास्ति । २. च. ह । ३. भो. Zla Ba bZaṅ Pos mdZad Paḥi (सुचन्द्रकृतं) इत्यधिकम् । ४. च. 'बाह्य इत्यादि । इह' नास्ति । ५. भो. 'द्वयेन' नास्ति । ६. च. 'प्राण' इत्यधिकम् ।

वस्थां भेदयित्वा हृदये प्रविशति गतत्मां नाभिचक्रे स्थितां कालचक्रैकयोगी प्राणवाहनिरुद्ध इति गर्भावस्थां गत इति योगिनां योगनिष्पत्तिः ॥ १३१ ॥

इदानीमुत्पन्नानां बालानां कलाहान्यादिरुच्यते—

चन्द्रोना याऽधिकार्के विभुपरमकला साऽत्र सन्ध्याचतुष्के
यामे यामे व्रजन्ती निशिदिवसवशादर्धलग्नप्रभेदैः ।
षट्त्रिंशत् कालदूत्यो द्विगुणनृपतयोऽन्यास्तिथौ द्व्यष्टभेदे
वाराणां चाष्टभेदे खलु पुनरपरे नैकसन्धिप्रदेशे ॥१३२॥

चन्द्रोनेत्यादि । इह यथा बाह्ये तथाऽध्यात्मनि चन्द्रस्य प्रतिदिनं षष्टिघटिका तिथिर्न भवति, एकघटिकोना सा चाध्यात्मनि शुक्रस्येति । याऽधिकाऽर्के इति सूर्यभोगे पूर्वोक्ताऽध्यात्मपटले द्वे नाडिके । विभुरिति बोधिचित्तम्, तस्य परमकला ज्ञानधर्मिणी चन्द्रकलाहानिः, विज्ञानधर्मिणी सूर्यभोगहानिरिति । साऽत्र सन्ध्याचतुष्के यामे यामे व्रजन्ती निशिदिवसवशादर्धलग्नप्रभेदैः षट्त्रिंशत् कालदूत्य इति त्रिचक्रसंवरे डाकिन्यः । तासां कुलिकायोगे सञ्चारः । सन्ध्याभेदेन प्रहरलग्नार्धभेदेन । यथा बाह्ये भोगो लयोऽधिकार आधिपत्यम्, तथाऽध्यात्मन्यादित्योदयभेदेन प्राणोदयभेदेनेति । इह बाह्ये चतुर्द्वीपेषु यत्रादित्योदयस्तत्र भोगः, यत्रार्धरात्रं तत्र लयः, यत्र मध्याह्नं तत्राधिकारः, यत्रास्तमनं तत्राधिपत्यम् । कुलिकाया निशाप्रवेशतो [1]योगिनीभुक्तयेऽर्धरात्रं यावदिति उदयान्मध्याह्नं यावद् भिक्षूणां भोगो दिवाकाले, तेन "दिनस्तु भगवान् वज्री प्रज्ञा नक्तं प्रभुक्तये" इति नियमः । तेन उदयान्मध्याह्नं यावद् भिक्षुभिर्भुक्तं निरामिषं भोक्तव्यम् । अस्तङ्गमनादर्धरात्रं यावद्योगियोगिनीभिः समयकार्यं कर्तव्यम् । तदूर्ध्वं संवरभङ्गः श्रावकमन्त्रिणोः, तद्भङ्गाद्वृद्धिसिद्धिहानिरिति । एवं यथा सन्ध्याभेदेन चतुर्योगिनीनां भोगलयादिकं तथा श्मशानयोगिनीनामष्टानां प्रहरभेदेनार्धरात्रान्मध्याह्नं यावदनुलोमेन [208a] पूर्वदक्षिणपश्चिमोत्तरेषु सञ्चारः, चतुःप्रहरेषु मध्याह्नादर्धरात्रपर्यन्तं विलोमेन ईशानवायव्यनैरृत्याग्नेयदिक्षु तथा लग्नार्धभेदेन वृश्चिकधनुर्लग्नार्धभेदेन चित्तचक्रे दक्षिणावर्तेन सञ्चारः । चतसृणां मकरकुम्भे वामावर्तेन । एवं वाक्चक्रे मीनमेषवृषमिथुनार्धभेदेन तथा कायचक्रे कर्कटसिंहकन्यातुलाभेदेन सञ्चार इति षट्त्रिंशद्दूतीनां सञ्चारः प्राणभेदतः । ताश्च कालदूत्यः, तथाह चक्रसंवरे—

मध्यमोत्तमश्वासेन गन्धोदकयुतेन च ।
कुलिकां पूजयेन्नित्यं कालविशेषेण दूतिकाः ॥ इति ।

अत्र परमाक्षरसुखेन विण्मूत्रचन्द्रसूर्यनाडीनिरोधेन कुलिकां वज्रवाराहीं पूजयेत् । उक्तकालविशेषेण दूतिकाः षट्त्रिंशत् पूजयेत्, प्राणसञ्चारेण बाह्येऽध्यात्मनि च । इह

---

१. भो. rNal ḥByor Pa (योगी) ।

नाभिचक्रे प्रथमपरिमण्डले चतुर्दलानि। तेषु पूर्वदलमात्मपीठं दक्षिणं परपीठं पश्चिमं मन्त्रपीठमुत्तरं तत्त्वपीठमिति। तथा मुखद्वारं शूलभेदश्मशानं पूर्वं दक्षिणे नासारन्ध्रं दक्षिणं शवदहनमपानद्वारं पश्चिमं पूतिगन्धं वामनासारन्ध्रमुत्तरं क्लिन्नम्। एवं वामकर्णमीशाने बालमृत्युः, नैर्ऋत्ये दक्षिणकर्णं घोरयुद्धम्, वायव्ये सर्पदष्टं दक्षिणनेत्रम्, अग्नौ वामनेत्रमुच्छिष्टमिति। एवं हृदयचक्रेऽष्टनाडीनां संज्ञा रोहिणी पूर्णगिरिः पूर्वनाडी पिङ्गला, जालन्धरं दक्षिणनाडी जया, ओड्डियाणं पश्चिमनाडी इडा, अर्बुदमुत्तरनाडीति दिक्षु। तथा विदिक्षु—ईशाने कुहा गोदावरी, वायव्येऽलम्बुषा रामेश्वरी, नैर्ऋत्ये पूषा देवीकोटम्, आग्नेय्यां हस्तिजिह्वा मालवकम्। एवं कण्ठचक्रे प्रथमपरिमण्डलेऽष्टनाड्यः क्षेत्रोपक्षेत्रच्छन्दोहोपच्छन्दोहसंज्ञाभिर्ज्ञेयाः। एवं ललाटेऽपि प्रथमपरिमण्डलेऽष्टनाड्यो मेलापकोपमेलापक[1]श्मशानोपश्मशाननामभिर्वेदितव्या इति चक्रसंवरे नियमः। आसां बीजान्यन्तस्था य र ल वाः कायचक्रे पूर्वादिदिक्षु, तथा ईशानादिविदिक्षु वा ला रा या इति। ह हा हं हः अग्नि-वायु-ईशान-नैर्ऋत्यश्मशानेषु। एवं ए अर् अल् ओ वाक्चक्रे दिक्षु, विदिक्षु औ आल् आर् ऐ। अ आ अं अः पूर्वापरवामदक्षिणश्मशानेषु। चित्तचक्रे इ ऋ ऌ उ दिक्षु, विदिक्षु ऊ ॡ ॠ ई इति। गर्भपद्मदले अ आ पूर्वापरे, अं अः वामदक्षिणे द्वादशभुजस्येति। तथा **मूलतन्त्रे** भगवानाह—

नाभिमध्ये स्थितं चित्तं ज्ञानविज्ञानयोगतः।
प्राणस्याष्टगुणैर्बद्धं कोशकीटैरिवात्मजैः॥

जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तावस्था त्रिज्ञानभेदतः।
प्राणिनां त्रिमुखं चित्तं तुर्याकालाच्चतुर्मुखम्॥

एवं विज्ञानयोगेन पञ्चषड्विषयात्मकम्। T457
पञ्चास्यं षण्मुखं चित्तमचित्तं चित्तमन्यत् (माप्यते)॥

नाभिमध्ये स्थितो बिन्दुर्विसर्गः संपुटै[208b]स्तयोः।
ज्ञानविज्ञानयोगेन बोधिचित्तं व्यवस्थितम्॥

सन्ध्यायामर्धलग्नेषु प्राणसञ्चारभेदतः।
षट्त्रिंशद् दूतिकाऽत्रोक्ता बालानामवतारणे॥ इति।

एतास्तावत् षट्त्रिंशन्नाडिकाः प्राणप्रवाहतः कालदूत्यः शरीरक्षयकारिण्यः। तस्मात्तासु गतः प्राणो निरोधनीय इति नीतार्थः। इदानीं गुह्यनाड्यो बोधिचित्तवाहिन्यो द्वात्रिंशदुच्यन्ते—**द्विगुणनृपतय** इत्यादि। इह द्विगुणनृपतय इति द्वात्रिंशद् गुह्यचक्रे ज्ञानभेदेनावस्थिताः, तासां षोडशरागपक्षे शुक्ले कलाभेदेन स्थिताः, षोडशविरागभेदेन कृष्णपक्षे चन्द्रकलाक्षयभेदेन पूर्वोक्ताः। तथा **हेवज्रे**—

"अभेद्या सूक्ष्मरूपा च दिव्या वामा तु वामनी" इत्यादि।
(हे० त० १.१.१६)

---

१. च. 'श्मशानोपश्मशान' नास्ति।

द्वात्रिंशन्नाड्य आधारभूता एतावत्यो डाकिन्य आधेयधर्मिण्योऽपानवायुसंयोगादिति। एताभिस्त्रयस्त्रिंशदात्मको हेरुकः समाजो वा भवति, गुह्यतन्त्रत्वादिति। तस्य द्विगुणं निर्माणचक्रे चतुःषष्टियोगिन्यात्मकं चक्रं पञ्चमण्डलप्रवाहकमिति। **वाराणां चाष्टभेदे** पुनर्वारनाड्यो हृत्कमले गौर्याद्यष्टौ, ललाटे षोडश नैरात्म्याद्या इति। **एवमनेकसन्धिप्रदेशे** षष्ठ्युत्तरत्रिशतसन्धिप्रदेशे नाड्यो वर्षदिनसंख्यास्तासामाधेयभूता योगिन्यः। एवं द्वासप्ततिसहस्रयोगिनीनामाधाराधेयभेदेनेति। यावत्यो नाड्यस्तावत्यो डाकिन्यः प्राणापानचारत इति निष्प्रपञ्चवचो भगवतः॥ १३२॥

इदानीं भगवतो मुद्रोच्यते—

वेदर्तुश्वासशेषा त्रिभुवनजननी डाकिनी विश्वरूपा
या हीना चन्द्रमध्ये परमजिनपतेः सा स्वमुद्रा द्विधा स्यात्।
याऽर्कस्था साष्टभेदा दिशिविदिशिदले यामभोगावसाना
शेषाऽन्याश्चक्रदेव्यः परमभयकरा बाह्यदेहे समस्ताः॥१३३॥

वेदर्त्वित्यादि। इह **वेदर्तुरिति** चतुःषष्टिस्तदन्ते या नष्टचन्द्रकला संसारिणाम्, तद्वैधर्म्येणानष्टचन्द्रकला **श्वासशेषा** चतुःषष्टिश्वासानामन्तिमा श्वासधर्मिणी **त्रिभुवनजननी डाकिनी विश्वरूपा। या हीना चन्द्रमध्ये परमजिनपतेः** बोधिचित्तस्य, **सा स्वमुद्रा द्विधा स्यात्।** एका संवृतिधर्मिणी महामाया महारौद्रा भूतसंहारकारिणी, द्वितीया महाप्रज्ञा बोधिचित्तस्य बुद्धानां प्रज्ञापारमिता उत्पादव्ययरहिता बुद्धमाया महासौम्या सृष्टिसंहारनाशिनी। सा अनाश्रवभेदादपानस्था। **याऽर्कस्था साष्टभेदा** इति प्राणस्था रजोधर्मिणी, साऽष्टभेदा जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तगुणत्रयपञ्चविषयभेदेनाष्टगुणात्मिकेति। सा च मण्डले पद्माष्टदलेषु स्थिता इति कल्पना। **शेषा अन्याः पूर्वोक्ताश्चक्रदेव्यः** परिकल्पिताः। ताः **परमभयकरा बाह्यदेहे समस्ता** इति नाडीसञ्चारनियमः॥ १३३॥

इदानीं ग्रहचारभोगडाकिन्य उच्यन्ते—

मन्दे रन्ध्रा दिनाख्या तमिनि सुरगुरोः सार्धनेत्राक्षिसंख्याः
सार्धाः षड् वेदजाताः परमजिनपतेश्चित्तवज्रोद्भवास्ताः।
भौमे शून्याहिचन्द्रा रविबुधभृगुकेतोश्च शून्याहिखैका
खाक्ष्यक्ष्येकाश्च जाताः खलु परमविभोः शुद्धवागुद्भवास्ताः॥१३४॥

मन्द इत्यादि। इह बाह्ये सूर्यप्रचारेण मासद्वयेन ऋतुः सूर्यस्य, अध्यात्मनि लग्नद्वयेन प्राणस्य ऋतुः। स च वामदक्षिणदशमण्डलप्रवाहेण भवति सृष्टिसंहारभेदेन। तेन ऋतौ **मन्दे** मन्दभोगे **रन्ध्रा** इति नवघटिकाभोगो राशिचक्रे, ताश्च डाकिन्यः।

एवं **दिनाख्या** इति [209a] पञ्चदशेति [1]रात्रौ भोगे **सुरगुरोः सार्धनेत्राक्षिसंख्या** इति सार्धद्वाविंशदिति, एकीभूताः **सार्धाः षड् वेदजाता** इति सार्धषट्चत्वारिंशदिति। **परमजिनपतेश्चित्तवज्रोद्भवास्ता** इति चित्तबिन्दुजनिता इत्यर्थः। **भौमे शून्याहिचन्द्रा** इति प्रपञ्चः। तस्य मण्डलेन यल्लभ्यते षष्टिभागेन तावत्यो नाड्य इति नियमः, सामान्येनाशीत्युत्तरशतम्। इह यत्र मङ्गलस्य ऊनो भागस्तत्र रविकाभोगो न हर्तव्यः, चन्द्रभोगो मासैकः क्षेपणीयः। इह मङ्गलस्य त्रयोविंशतिमासैः स्वदिनं लोकरूढ्या अष्टादशमासैः, तन्न घटते, तेनात्र यथाभूतं वर्षशतं ग्रहाणां मण्डलदिनैर्भवति, अष्टमासैकविंशतिदिनाधिकमिति नियमः। एवं भौमे शून्याहिचन्द्राः। **रविबुधभृगुकेतोश्च शून्याहिखैका** इत्यष्टाशीत्युत्तरसहस्रम्। एषां पञ्चग्रहाणामेकत्र भोगात् **खाक्ष्यक्ष्येकाश्च जाता** इति विंशत्यधिकद्विशताधिकैकसहस्रम्। **खलु परमविभोः शुद्धवागुद्भवास्ता** इति वाग्बिन्दुजनिता इत्यर्थः॥ १३४॥

या चन्द्रस्यर्तुभुक्तिः खखरसशिखिनः कायवज्रोद्भवास्ता
एकीभूताः समस्ता रसषडहियुगाश्चार्धनाडीस्तथैव।
डाकिन्यः कालरूपाः सकलतनुगताः प्राणिनां प्राणहन्त्य-
स्तस्मात्ताः साधनीयाः प्रतिदिनसमये रोधयित्वा स्वमार्गम् ॥१३५॥

या चन्द्रस्यर्तुभुक्तिः खखरसशिखिन इति षट्शताधिकसहस्रत्रयं घटिकाभोगः, **कायवज्रोद्भवास्ता** इति कायबिन्दूद्भवा इति। **एकीभूताः समस्ता** नवानां **रसषडहियुगा** इति षट्षष्ट्यधिकाष्टशताधिकसहस्रचतुष्कम्, **अर्धनाडी तथैवेति** संख्या डाकिनीनामेकर्तौ। ता **डाकिन्यः कालरूपाः सकलतनुगता** देवादीनां **प्राणिनां प्राणहन्त्र्य** एकर्तौ। षड्तुषु पुनरयुतद्वयं नवसहस्रशतमेकं षण्णवत्यधिकमिति डाकिनीसंख्या सत्त्वानां ग्रहचरणान्तर्भूता इति नियमः। **तस्मात्ताः साधनीयाः प्रतिदिनसमये रोधयित्वा स्वमार्गं** तासां प्राणापाननिरोधेन चतुर्बिन्दुनिरोधेनेति नियमः॥ १३५॥

यावद्भुक्तिर्ग्रहाणां स्वपरगतिगता श्वासनिःश्वासचारात्
तावत् किं कालदूती प्रभवति वरदा व्यापिनी या त्रिधातौ।
दूतोसूक्ष्मप्रचारो गुरुवचनगतो बोधिचित्तेऽक्षरे च
ज्ञातव्यो योगयुक्तैर्व्यपगतकलुषैर्नान्यथा रागचित्तैः॥१३६॥

द्वितीयवृत्तेनोक्ता यावदित्यादिना- सुबोधमिति॥ १३६॥

---

१. भो. sGra gCan Gyi (राहौ)।

इदानीं चन्द्रचरणे राहुप्रवेश उच्यते—

मार्तण्डेन्द्वोः पदान्यप्युभयगतिवशात् तृष्णया ताडितानि
अङ्गैर्भागावशेषं ग्रसति स चरणं राहुवेशे च केतुः ।
सर्वाः सन्ध्याष्टयामाः प्रतिदिनसमये प्राणिनां द्वादशाङ्गाः
श्वासाश्चैकैकलग्ने द्विगुणनवशतप्राणवाहाङ्गमुक्तम् ॥१३७॥

मार्तण्डेत्यादि। इह मार्तण्डपदान्येकादश "रसयुगशशिनः" इति पूर्वोक्तानि, इन्दुपदानि पञ्चविंशद् "भूता भूतेषु" इत्यादिना, अनयोरेकत्र मिलितानि षट्त्रिंशद् भवन्ति । तान्यष्टगुणैर्गुणितान्यष्टाशीत्युत्तरशतद्वयं भवन्ति। एवं तृष्णया ताडितान्यष्टभिरिति । अङ्गैरिति द्वादशलग्नैर्भागलब्धानि चतुर्विंशतिचन्द्रपदानि भवन्ति। अवशेषं पञ्चविंशतिमं चरणं ग्रसति राहुप्रवेशे केतुरिति । अध्यात्मनि मन इन्द्रियं शुक्रधातुचरणं शून्याङ्गं यदिति। सर्वाः सन्ध्याश्चतस्रोऽष्टप्रहराः प्रतिदिनसमये प्राणिनां द्वादशाङ्गास्ते द्वादशलग्नानीत्यर्थः। श्वासाश्चैकैकलग्ने द्विगुणनवशतानीत्यष्टादशशतानि प्राणवाहाः, ते एकाङ्गमुक्ता[1] इति। एवं बाह्ये मासैकेनैकाङ्गमष्टादशशतदण्डैः, मासद्वयेन ऋतुः षट्त्रिंशद्[209b]भिः शतैः। एवं द्विद्वि-अङ्गैः षडृतवः। T 458 ऋतुत्रयेण ग्रहणं चन्द्रार्कराहुभोगवशादिति ॥ १३७ ॥

द्विद्वयङ्गेष्वाद्यविद्या प्रथमदिनवशाद् द्वादशाङ्गानि यावत्
तस्मादृत्वादिनाङ्गानि च परनवमी पूर्ववद् यानि तानि ।
एवं पञ्चप्रकारैर्ऋतुरपि च भवेत् सर्वतो द्विद्विमासाद्
यस्मिन्निन्दोः कलैका व्रजति निधनतामादिमासः स एव ॥१३८॥

[2]द्विद्वयङ्गेष्वादिदिनेऽविद्या, द्वितीये दिने संस्कारः, एवं क्रमेण जरामरणम्। पुनस्त्रयोदशमे दिनेऽविद्या, चतुर्दशमे संस्कारः, एवं कृष्णनवम्यां जरामरणम्। पुनर्दशम्यामविद्या, एकादश्यां संस्कारः, एवं क्रमेण शुक्लषष्ठ्यां जरामरणम्। पुनः सप्तम्यामविद्या, अष्टम्यां संस्कारः, कृष्णतृतीयायां जरामरणम्। पुनश्चतुर्थ्यामविद्या, पञ्चम्यां संस्कारः, एवं क्रमेणामावास्यां(स्यायां) जरामरणमिति पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशस्वभावेन ऋतौ पञ्च परिवर्ता मता ,इति। एवमेकपक्षो ह्रस्वः, मासो दीर्घः, ऋतुः प्लुतः। पक्षः सत्त्वधर्मी, मासो रजोधर्मी, ऋतुस्तमोधर्मीति। **एवं पञ्चप्रकारैः ऋतुरपि च भवेत्। सर्वतो द्विद्विमासात्। यस्मिन् मासे इन्दोः कलैका व्रजति निधनतां** द्वयोर्मासयोरादिमासः स एव तृतीय इति चतुःषष्टिदिनैः कलाक्षयतः ॥१३८॥

---

१. च. युक्ता। २. भो. Do lTar (एवं) इत्यधिकम्।

षण्मासर्तुत्रयेण ग्रहणमपि भवेद् द्वादशाङ्गप्रतीत्या
षष्ठोऽर्कस्यर्तुभेदश्चरणगतिवशाच्चन्द्रमध्ये प्रविष्टः ।
तस्मिन् स्पर्शाङ्गमध्ये ग्रसति सचरणं राहुरिन्द्वर्कयोश्च
ओषध्यः सिद्धिदास्ता दिननिशिसमये राहुणाऽऽलोकिता ये ।।१३९।।

षण्मासर्तुत्रयेण ग्रहणमपि भवेद् द्वादशाङ्गप्रतीत्येति। इह प्रथम ऋतुः सत्त्वधर्मी, द्वितीयो रजोधर्मी, तृतीयस्तमोधर्मी, तेन तमःप्रवेशः। मासोऽप्येवं षड्धातुभेदेन ज्ञानधातुपर्यन्तं **षष्ठो** मासः। एव**मर्कस्यर्तुभेदश्चरणगतिवशाच्चन्द्रमध्ये प्रविष्टो**ऽमावास्यायाम्। **तस्मिन् स्पर्शाङ्गमध्ये ग्रसति सचरणं राहुरिन्द्वर्कयोश्च। ओषध्यः सिद्धिदास्ता दिननिशिसमय** इति। सूर्यग्रहणे दिनसमये चन्द्रग्रहणे निशिसमये वक्ष्यमाणा इति। **राहुणाऽऽलोकिता ये** ग्रहणकाले वृक्षादयः शस्त्रहताः फलन्ति। अत्रोपदेशः—प्रतिमासे सूर्यभोगे नक्षत्रद्वयं घटिकैकादश दत्त्वा षण्मासैर्द्वादश नक्षत्राणि भवन्ति षट्षष्टिघटिकाः। चन्द्रकलां त्रिदिनघटिकोनां कृत्वा त्रयोदश शेषास्त्रयः पञ्चाशदिति ग्रहणेऽमावस्याभोगे देया, रविका हेया वा। ततो राहुभोगे पञ्चचत्वारिंशद् घटिका ऊनीकृत्य शेषनक्षत्रभोगं शोधयेत्। यदा पूर्वमुखेन ग्रासः सूर्यस्य तदा परे पुच्छभोगेन भवति। एवं चन्द्रस्यापि पौर्णमास्यामिति सिद्धं ग्रहणलक्षणम्। यथा बाह्ये तथाऽध्यात्मनि प्रतिदिनं षष्ठे लग्ने वेदितव्यं योगिभिः। इदं बालानामगम्यं वक्तुं न शक्यते शास्त्रद्वारेणेति ॥ १३९ ॥

इदानीं मङ्गलादीनां क्षेत्राण्युच्यन्ते—

भौमः शुक्रो बुधेन्दू रविबुधभृगवो भौममन्त्र्यार्किमन्दा
मन्त्री मेषादिराशौ प्रतिदिनसमये क्षेत्रिणः सर्वकालम् ।
शान्ताविन्द्वर्कराशी बुधभृगुकुजमन्त्र्यार्किराशिश्च पुष्टौ
वश्याकृष्टौ वियोगे प्रभवति मरणे क्षेत्रिणोऽस्मिन् यदि स्यात् ।।१४०।।

भौम इत्यादि। इह भौमादयो ग्रहा मेषादिराशौ क्षेत्रिणः। मेषे **भौमः**, **शुक्रो** वृषे, **बुधो** मिथुने, **इन्दुः** कर्कटे, **रविः** सिंहे, **बुधः** पुनः कन्यायाम्, भृगुस्तुलायाम्, **भौमो** वृश्चिके, **मन्त्री**ति बृहस्पतिर्धनुषि, **आर्कि**रिति शनिर्मकरे, **मन्द** इति पुनः शनिः कुम्भेऽपि, **मन्त्री** मीन इति। **प्रतिदिनसमये** द्वादशलग्नोदये **क्षेत्रिणः सर्वकालं** भोक्तार इत्यर्थः। इह **शान्तौ** कर्मणि, **इन्द्वर्कराशी**ति कर्कटसिंहे द्वे राशी, **बुधराशी** द्वे मिथुनकन्ये **पुष्टौ**, शुक्रराशी [210a] द्वे [1]**वश्ये** वृषतुले, [2]**आकृष्टौ** कुजराशी द्वे मेषवृश्चिके, **मन्त्रिराशी** द्वे उच्चाटने धनुर्मीने, **शनिराशी** द्वे **मारणे** मकरकुम्भे इति। यदि **क्षेत्रिणो** नक्षत्रभोगवशे**नास्मिन्** स्वक्षेत्रे **यदि स्यात्त**दा नान्यस्मिन् कालेऽन्यग्रहेणाधिष्ठितो राशिस्तत्फलदायको भवति पूर्वोक्तकर्मस्विति नियमः ॥ १४० ॥

---

१. च. आकृष्टौ। २. च. वश्ये।

इदानीं भगवतो वक्त्रभेदेन शान्त्यादिकमुच्यते—

शान्तावादौ सितास्यं सितकनकनिभं पौष्टिके हस्तयामे
पीतं स्तम्भेऽग्नियामे कनकरविनिभं मोहनेऽब्धौ च रक्तम् ।
आकृष्टौ पञ्चमे स्याद् रविजलदनिभं षष्ठयामे च वश्ये
कृष्णास्यं मारणेऽद्रौ कषणसितमिहोच्चाटनेऽह्नौ निशान्ते ।।१४१।।

शान्तावित्यादि। इह **शान्तावादौ** प्रथमप्रहरे उदयाद् भगवतः सन्ध्यासञ्चारवशेन **शुक्लमुखं** पूर्वे नायको भवति, तेन शान्तौ शान्तिविषये पूर्वसाधितमन्त्रध्यानैः प्रहरैकेण फलं साधयेत्। **सितकनकनिभं हस्तयाम** इति द्वितीयप्रहरे भ्रमणवशात् पश्चिममुत्तरमर्धार्धं पूर्वे नायको भवति, तेन मिश्रेण **पौष्टिकं** साधयेत्। **पीतं** पश्चिमवक्त्रं मध्याह्नात् प्रहरमेकं नायकम्, तेना**ग्नियामे** तृतीयप्रहरे **स्तम्भ**विषये सिद्धिदम्। चतुर्थप्रहरे **कनकरविनिभं** पीतरक्तं विमिश्रं नायकम्, तेन **मोहनं** कुर्यात्। एवं पञ्चमे प्रहरे **रक्तमुखं** नायको भविष्यत्या**कृष्टौ**। **षष्ठे** रक्तकृष्णं मिश्रं नायकस्तेन **वश्यं** साधयेत्। एवं **कृष्णास्यं मारणेऽद्रा**विति सप्तमे प्रहरेऽर्धरात्राविति। **कषणसितमिहोच्चाटनेऽह्ना**वित्यन्तिमे प्रहरे **निशान्ता**दुदयपर्यन्तमिति। एवं प्रहरभ्रमणभेदेनाष्टास्यः कालचक्रो भगवान् यदा, तदा चतुःसन्ध्याभेदेन चतुश्चरणो भवति, अर्धप्रहरभेदेन षोडशभुज इति सिद्धः। एवं भुजभेदेनाष्टौ कर्माणि दिवायामर्धप्रहरभेदेन रात्रौ चेति नियमः। चतुःसन्ध्याभेदेन चत्वारि कर्माणि—पूर्वसन्ध्यायां शान्तिकम्, मध्याह्ने स्तम्भनम्, अस्तङ्गते आकृष्टिः, अर्धरात्रौ मारणमिति। अत्राप्यष्टाननस्य प्रज्ञा द्विभुजेति पूर्वापरसन्ध्याचरणद्वयम्, मध्याह्नादर्धरात्रं भुजद्वयी, समस्तमहोरात्रं मुखमिति भावनानियमः कर्मसाधने ।।१४१।।

अस्माद् वृत्ताद्यद् द्वितीयं तत्सुबोधमिति।

पृथ्वीतोयाग्निवाता न शशिरविसुरा जीवभोक्तार एते
एषां जीवश्च भोक्ताऽप्यशुभफलवशाद् मन्यतेऽहं च भुक्तिः।
दृष्ट्वा दुःखानुरक्तो ग्रहभुजगसुरान् प्रार्थयेद् भूतवृन्दं
मोक्षे यस्य प्रसादात् प्रभवति मनसस्तं न शान्ति करोति ।।१४२।।

इदानीं जातबालस्य श्वासलक्षणमुच्यते—

आदिश्वासोऽगुणात्मा त्रिविधगुणवशात् सोऽपि याति त्रिसंख्यं
तिथ्याख्यास्तेऽपि जाता विषयगुणवशात्तेऽपि भूयस्त्रिगुण्याः।
जाता भूताब्धिसंख्या पुनरपि च चतुश्चारभेदैर्हतास्ते
नाड्यर्धश्वाससंख्या पुनरपि घटिका श्वाससंख्या द्विगुण्याः ।।१४३।।

आदीत्यादि। इहोत्पन्नस्य बालस्य य **आदिश्वासः** प्रथमोऽसौ, **अगुणात्मा** सत्त्वादिगन्धादिगुणरहितस्तद्धर्मा प्रवृत्तितः। ततस्**त्रिविधगुणवशात्** सत्त्ववशाद्

द्वितीयः श्वासो निर्गतः, रजोवशात् तृतीयः, तमोवशाच्चतुर्थः। तेषु पूर्वोऽगुणो न गृह्यते। तेन सह **त्रिसंख्यं** गण्यते व्यापकत्वात्। पुनस्ते सत्त्वरजस्तमःस्वभावाः प्रत्येकं पञ्चविषयगुणभेदेन एकैकः पञ्चविधो भवति, तेन **तिथ्याख्या** इति पञ्चदश, तेऽपि **भूयस्त्रिगुण्याः** कायवाक्चित्तभेदेन **जाता भूताब्धिसंख्या** इति पञ्चचत्वारिंशत्। **पुनरपि च ततः चारभेदैर्हतास्ते** इति चन्द्रादित्ययोश्चारा चतुर्धा शीघ्रमन्दवक्र-निर्गमपदानां धनवृद्धिक्षय-ऋणवृद्धिक्षयभेदेनेति। तैश्चतुर्भिर्हता **नाड्यर्धश्वाससंख्या** T 459 इति अशीत्युत्तरशतसंख्या, **पुनरपि द्विगुण्याः श्वाससंख्या** घटिकाश्वाससंख्या भवति षष्ट्युत्तरत्रिशतसंख्या [210b] प्रज्ञोपायस्वभावत इति। सा एकनाडी एकमण्डल-वाहिनी बालस्य वामे दक्षिणे वा। ततो द्वितीया तृतीया ॥१४३॥

द्वित्र्यब्धीष्वृत्वगाष्टग्रहदशभिरियं वर्धिता कालनाडी
तस्माद् वर्गप्रभेदैर्द्विविधपथि गता कालनाडी समन्तात्।
त्रैलोक्यं पूरयन्ती समसुखफलदा चन्द्रसूर्यप्रचाराद्
यावद् वेदाहिवह्निः प्रभवति नियता कर्तिका शुक्तिहस्ता ॥१४४॥

द्वित्र्यब्धीष्वित्यादिना दशभिरियं वर्धिता कालनाडी मध्यमा दशमण्डल-वाहिनी वामे दक्षिणे वर्धिता, अहोरात्रेण षष्टिमण्डलानि यावदिति। **तस्मादवधे-र्वर्गप्रभेदैः** पूर्वोक्तैः ककारादिवर्गैर्मकरादिलग्नैरिति। **द्विविधपथि गता कालनाडी समन्तात्। त्रैलोक्यमिति** शरीरं **पूरयन्ती** द्वासप्ततिसहस्रनाडीः पूरयन्ती। **समसुख-फलदा** सा **चन्द्रसूर्यप्रचारादिति** ललनारसनाप्रचारात्, पञ्चमण्डलवाहत इति श्वासनिर्गमात् कालनाडीभेदः। द्वितीयो भेद आधाने गर्भस्य कालनाडीवर्गभेदेन उत्पादाय वर्धते। तत्र वर्गस्यैकस्य एकः, षट्चक्रेषु मध्यमाऽवधूती। द्वयोर्वर्गश्चतस्र उष्णीषकमलनाड्यो नाभौ प्रथमपरिमण्डलम्। त्रयाणां वर्गो नव, ता हृदयनाड्योऽष्ट नाभौ द्वितीयपरिमण्डलम्, नवमी चन्द्रजन्मस्थानम्। चतुर्णां वर्गः षोडश, ता ललाटे नाभिचक्रराशिपरिमण्डलबाह्ये। पञ्चानां वर्गः पञ्चविंशतिस्तानि ललाटे चन्द्र-पदानि। षण्णां वर्गः षट्त्रिंशत्तेषां मध्ये कण्ठे द्वात्रिंशच्चत्वारो मङ्गलबुधबृहस्पति-शुक्राणां जन्मस्थानं नाभौ चन्द्रपदपरिमण्डलबाह्ये। सप्तानां वर्ग एकोनपञ्चाशत् कण्ठे द्वितीयपरिमण्डले राशिपदान्यष्टचत्वारिंशत्, एका सूर्यस्य जन्मस्थानं नाभौ च। अष्टानां वर्गश्चतुःषष्टिर्नाभिचक्रे षष्टिमण्डलवाहिन्यः षष्टिश्चतस्रः शून्यनाड्यः। नवानां वर्ग एकाशीतिः, दशानां शतम्। एतद[1]शीत्युत्तरशतं बाह्यभेदेन रजोधर्मि-त्वाद् द्विगुणं षष्ट्युत्तरत्रिशतसन्धिप्रदेशेषु ज्ञातव्यम्। एवं यथा कण्ठे तथा गुह्यचक्रे, यथा ललाटे तथा वज्रे, यथा उष्णीषे तथा वज्रमण्यग्रे चत्वार इति शरीरव्याप्तिः। **यावद्वेदाहिवह्निरिति** चतुर्विंशतिपक्षाः षष्ट्युत्तरत्रिशतदिनानीति। एवं कालचक्र-वर्षायनकाल-ऋतुलग्न-पक्ष-दिनभेदेन नाडीभेदः सिद्धः, द्वितीयसन्ध्याप्रहरार्धप्रहर-

---

१. भो. Dal Bahi sKye gNas So (गर्भजानां जन्मस्थानम्) इत्यधिकम्।

भेदेनेति नियमः। एवं भगवती तद्योगात् **प्रभवति नियता कर्तिका शुक्तिहस्ता**। इह भगवान् वर्षशुद्ध्या, भगवती प्रतिदिनशुद्ध्या। दिवा कर्तिका, रात्रिः कपालमित्यर्थः ॥१४४॥

इदानीं कवर्गचक्राण्युच्यन्ते —

चक्राणीष्वब्धिसंख्या विषयगुणवशात् कायवाक्चित्तभेदे
रक्षां कुर्वन्ति भर्तुः समसुखफलदान्यष्टधूमादिदेव्यः।
एवं सूर्यस्य भर्ता परमशशिकलालिङ्गितो विश्वरूपः
देवी बुद्धामराणां विषयविषयिणां राहुचन्द्रार्कवन्द्यः ॥१४५॥

चक्राणीत्यादि। इह ककारादीनि व्यञ्जनानि त्रिंशत्, अकारादयः स्वराः पञ्चदश, एते पञ्चचत्वारिंशत्। विषयाः पञ्च गुणास्त्रयस्तद्वशादिति पञ्चस्वरह्रस्वदीर्घयुक्ता ङादय आत्मबिन्दुविसर्गयुक्ताः पञ्चदश। एवं दशाराणि चक्राणि त्रिंशत्, सकारपर्यन्तमन्योन्यानुवर्तीनि। लाद्यानि षडाराण्यकारपर्यन्तानीति **चक्राणीष्वब्धिसंख्या विषयगुणवशात् कायवाक्चित्त[1]भेदे रक्षां कुर्वन्ति भर्तुः** कालचक्रस्य महासुखस्य। **समसुखफलदान्यष्टधूमादिदेव्य** इति। अत्र ङकारचक्रमुच्यते सर्वचक्राणां बाह्येऽध्यात्मनि लोमाग्रे ङ ऊर्ध्वे [211a] ङि पूर्वे ङृ दक्षिणे ङु उत्तरे ङ्ऌ पश्चिमारे ङ्ॡ वायव्ये ङू ईशे ङ्ॄ नैर्ऋत्ये ङी अग्नौ ङा पाताले। एवं घगखकलोमधातौ, चर्ममांसे चवर्गः, रक्ते टवर्गः, [2]रसे पवर्गः, अस्थिषु तवर्गः, मज्जसु शवर्गो विलोमेन। एवं त्रिंशच्चक्राणि दशाराणि मज्जान्तानि। ततः षडाराणि पूर्वारे ल, दक्षिणे लः, उत्तरे लं, पश्चिमे ला, अधो लाः, ऊर्ध्वे लां नाडीषु प्राणादिषु। एवं व र य ह् इति। तथा रजसि अल् पूर्वे, अलः दक्षिणे, अलं उत्तरे, आल् पश्चिमे, आलः अधसि, आलं मूर्ध्नि। एवं ओ अर् ए अ इति। शुक्रधातौ रक्षा ॡ पूर्वे, ॡः दक्षिणे, ऌं उत्तरे, [3]ऌ पश्चिमे, ॡः अधसि, ॡं ऊर्ध्वे। एवं उ ऋ इ अ इति लोमादिशुक्रपर्यन्तं नव धातवः। ततो विज्ञानधातुश्चन्द्रमध्ये धूमादिभिः शून्यैर्वेष्टित इत्यर्थः। तत्र पञ्चविषयशून्यं त्रिगुणशून्यं धूमादिकम्, ततः कलाबिन्दुदर्शनम्, ततो बिम्बदर्शनमित्यर्थः। **एवं सूर्यस्य भर्ता परमशशिकला** षोडशी, तयालिङ्गितः सन् सर्वकालं **विश्वरूपः** सर्वाकारत्वात्। **देवी**ति धातवः, **बुद्धा** इति स्कन्धाः। तेषां किंविशिष्टानाम्? **अमराणां** जातिजरामरणरहितानाम्, **विषयविषयिणां च राहुचन्द्रार्काणामपि वन्द्यो** महाक्षरसुखः कालचक्रो भगवानिति ॥ १४५ ॥

अत ऊर्ध्वं चत्वारि वृत्तानि सुबोधानि।

या भर्तुः सूक्ष्मरूपा वरगुणविषयाभ्यन्तरा बाह्यमुद्रा
डाकिन्यस्तास्त्रिधातौ परमभयकराः क्रोधचित्तप्रसूताः।

---

१. भो. Rab Tu dBye Ba (प्रभेदे)। २. भो. Chu Ser (पित्ते)।
३. भो. ऌ।

भर्तुर्यानीन्द्रियाणि त्रिविधभवगतं कायवाक्चित्तवज्रं
तान्येते वज्रडाकाः स्वस्वविषयगुणालिङ्गिता मङ्गलाद्याः ॥१४६॥

रूपं शब्दं रसो गन्धमपरमपि तत् स्पर्शधूमो रजश्च
सत्त्वं चित्तं क्रमेण प्रकटमपि तथालिङ्गितं राहुणा च ।
तेषां षण्मन्दचाराद् विविधगतिरियं शीघ्रवक्रादिचारा-
दष्टानां षट्पदेऽष्टौ खलु विषयगुणा संस्थिताश्चक्ररूपाः ॥१४७॥

आदिश्वासोऽष्टभेदो विषमगुणगतश्चावृतो डाकिनीभि-
र्धूमाद्याभिः समन्तात् त्रिविधगतिवशाद् भ्राम्यते षड्गतिस्थः ।
तन्मध्ये कालचक्रः स्फुरदमृतकलालिङ्गितः शुद्धकायो
यः श्वासं छेदयित्वा विशति जिनतनुं कालचक्रः स एव ॥१४८॥

श्वासच्छेदावसाने त्रिविधगतिरियं षट्प्रकारा न चास्ति
बिन्दो रोधे समन्तात् परमविभुसुखं वर्ततेऽनन्तकालम् ।
त्यक्त्वा संसारसौख्यं परमगुरुसुखं योगिना भावनीयं
चर्यां श्रृङ्गाररूपां परमभयकरां योगिनीनामतुष्टिम् ॥१४९॥

इदानीं वज्रश्वासे ग्रहचरणप्रवेश उच्यते—

भर्तुः श्वासे समस्तं ग्रहगणचरणं नीयते कालयोगात्
श्वासे खं खं ख खाक्ष्यग्निजलनिधिगते चोदिते सर्वशून्ये ।
एतैर्वर्षैश्च बाह्ये परमविभुपदे सृष्टिसंहाररूपे
ज्ञातव्यं स्वस्वमानैर्जिनपतिचरणं श्वासमध्ये गतिस्थम् ॥१५०॥

भर्तुरित्यादि । इह यथा बाह्ये तथाऽध्यात्मनीति न्यायाद्बाह्ये शक्तिश्वासो वर्षधर्मः, तैर्वर्षैर्यदा युगान्तं भवति खं खं ख खाक्ष्यग्निजलनिधिरिति द्वययुताधिकत्रयश्चत्वारिंशल्लक्षाणि वर्षाणां श्वासानां शक्तेः । एवं सर्वेषां सत्त्वानाम् । एषां श्वासानामन्ते श्वासमेकं वर्षम्, बाह्ये लोकधातौ मध्यमायां श्वासमेकं यस्मिन् वर्षे कलेर्निर्गमः कृतयुगप्रवेशः । एवं चतुर्युगैर्दशमण्डलनाडीप्रवाहः शक्तेः । एकैकमण्डलं द्वात्रिंशत्सहस्राधिकं चतुर्वर्षलक्षमिति । एवं कृते चत्वारि मण्डलानि वामनाड्यामाकाशवायुतेजउदकानीति । तत्रैव त्रेतायामेकमण्डलं वामनाड्यां पृथ्वीलक्षणम्, ततो मध्यमाप्रवेशः पञ्चत्रिंशत्सहस्राधिकं लक्षमेकं पञ्चमण्डलानां गृहीत्वा मध्यमाकालः । ततो दक्षिणे संचारः पृथिवीमण्डलमब्मण्डलं त्रेतायाम् । ततो द्वापरे तेजोवायुमण्डलम्, कलौ

आकाशमण्डलम् । तत ऋतुः पूर्णो भवति । ततो मध्यमाश्वासानामन्ते एकः श्वासोऽधिकः सर्वालोकं करोति । यदि तेन श्वासमात्रेण जाग्रदवस्थायां तिष्ठति स श्वासः सर्वसत्त्वानां निद्रावस्थायां भवति । एवं द्वययुताधिकत्रयश्चत्वारिंशल्लक्षश्वासेनाध्यात्मनि ग्रहाणामेक ऋतुर्भवति । मध्यमायां शून्यमण्डलान्ते ज्ञानमण्डले प्रवेशो भवति, तेन स T 460 ग्राह्य इति । एवं ज्ञातव्यं स्वस्वस्थानैर्जिनपतिचरणं श्वासमध्ये गतिस्थमिति नियमः ॥ १५० ॥

अत ऊर्ध्वं चतुर्दशवृत्तानि सुबोधानीति [211b] ।

शून्ये मन्दप्रवेशः स्वदिनगतिवशाज्जायते वै युगान्ते
शून्याकाशाम्बराब्ध्यब्धिशशधरदिनै रेवतीभोगशेषैः ।
खं खं खं खाब्धिनेत्रैः स्वगतिगतदिनैस्तत्र राहुप्रवेशः
खं खं खं खर्तुकालैः स्वगतिगतदिनैर्देवमन्त्रिप्रवेशः ॥१५१॥

खं खं शून्याम्बराष्टाहिनयनदिवसैर्मङ्गलस्य प्रवेशः
सूर्यादीनां प्रवेशः ख ख ख ख नयनाग्न्यब्धिसंख्यैर्दिनैश्च ।
खं खं खं खाब्धिनागैकशरगतदिनैस्तत्र चन्द्रप्रवेश-
स्तस्मिन् काले विनाशः प्रभवति जगतः स्वस्वमानेन राजन् ॥१५२॥

नाडीसंचार एष प्रभवति च ततश्चन्द्रसूर्योदिते च
एकद्वित्र्यब्धिबाणा रसगिरिवसवो वर्धिता गुह्यनाडी ।
रन्ध्राख्या वारनाड्यो भवति च दशमी सूक्ष्मनाड्यूर्ध्वमार्गे
भूयः सा वर्गभिन्ना सगुणसविषयाश्चक्रनाड्यो भवन्ति ॥१५३॥

उष्णीषे हृत्प्रदेशे शिरसि शशिपदे कण्ठदेशेऽर्कचारे
नाभौ वै चक्रनाड्यो युगभुजगनृपाश्चन्द्रचारैरभिन्नाः ।
द्वात्रिंशत्तद्द्विगुण्याः सकलरविपदैर्मिश्रितैरप्यभिन्ना
एकाशोतिः शतं यत् करचरणगताः सन्धिनाड्यो द्विभेदाः ॥१५४॥

उष्णीषे हृत्प्रदेशे शशिरविचरणे कण्ठचक्रेऽवशेषा
एकाशीत्यन्तिमा या प्रकटदशविधास्ते ग्रहाः सौम्यरौद्राः ।
तेषामाद्यन्तभागं विभुचरणगतं भुज्यते कालनाड्या
वारान्तं चापि भुङ्क्ते त्रिभुवनजननी डाकिनी वज्रदेहा ॥१५५॥

आदौ या शून्यरूपा विषयगुणगता तत्स्वभावा बभूव
धातुस्कन्धान् प्रविष्टा पुनरपि च समा चक्षुरादीन्द्रियेषु ।
जाग्रत्स्वप्नादिविष्टा परमसुखसमानाहते संप्रविष्टा
सा विद्या बुद्धमाता कुलिशपदगता योगिनाऽन्वेषणीया ।।१५६।।

भर्तुः कायप्रभावाद् भवति वरतनौ योगिनां दिव्यचक्षुः
श्रोत्रं तद् वाक्प्रभावात् परहृदयगतं ज्ञायते तस्य चित्तात् ।
प्रज्ञाकायप्रभावात् त्रिविधभवगता पूर्वजानुस्मृतिः स्यात्
प्रज्ञाया वाक्प्रभावात् प्रभवति खसमा सर्वदा सर्वगर्द्धिः ।।१५७।।

प्रज्ञाज्ञानस्वभावाद् भवति समसुखं सर्वदाऽनाहतं यद्
अक्ष्णाऽदृश्यं त्रिविधमपि भवं दिव्यचक्षुःप्रभावात् ।
दिव्यश्रोत्रप्रभावाद् हृदयसुखरवः श्रूयते प्राणिनोक्त
एवं स्पर्शादि सर्वं भवति नरपते कायवाक्चित्तयोगात् ।।१५८।।

या नाड्योऽपानमध्ये त्रिविधपथगता मूत्रविट्शुक्रवाहाः
प्राणात्तासां प्रचारो भवति नवविधश्चान्तिमो बुद्धवक्त्रम् ।
श्रोत्रे घ्राणे च नेत्रे द्विविध इति भवेल्लम्बिकायां सजिह्वे
बिन्दावुष्णीषरन्ध्रे भवति च दशमी मुद्रितोऽज्ञानिनां यः ।।१५९।।

प्राणापाने निरुद्धे क्षुभितशशधरः सूर्यबिम्बं प्रयाति
अब्जे वज्रप्रबुद्धे द्रवति पुनरसौ सूर्यबिम्बार्चिषा वै ।
विज्ञानं ज्ञानमेकीभवति च मरुता चन्द्रसूर्ये निरुद्धे
एवं चैवं तथैवं त्रिविधमपि भवेन्नापरं किञ्चिदस्ति ।।१६०।।

ग्रस्ते चन्द्रार्कबिम्बे नभसि न च दिवा नैव रात्रिः कदाचित्
सा सन्ध्या देहमध्येऽप्यमृतपदगता योगिनां सर्वकालम् ।
पक्षक्षीणो यथेन्दुर्व्रजति समरसं सूर्यबिम्बेऽम्बरस्थः
प्राणापानक्षये वै स्फुटमपि च तनौ सिद्धिकाले सरोधः ।।१६१।।

नष्टे चन्द्रार्कबिम्बेऽप्युभयपथि सदा प्राणवाते निरुद्धे
अब्जे वज्रप्रबुद्धे द्रुतशशिनि महासूर्यबिम्बे प्रविष्टे ।

भावाभावैकभूते त्रिविधभवगतेऽनाहते संप्रबुद्धे
तस्मिन् काले स योगी व्रजति परपदं न द्वयं यस्य किञ्चित् ॥१६२॥

क्रोधा बुद्धाः सदेव्यः खलु रसकुलिशा भूमिगर्भादयश्च
प्रत्यक्षाः खे भवन्ति प्रमुदितहृदया योगिनः सिद्धिकाले ।
प्रत्यूषे चार्धरात्रे भवति शशिदिने चेष्टसिद्धिश्च तस्य
रत्नैर्वा पुष्पवृष्टिर्भवति भुवितले कालयोगात् प्रकृष्टा ॥१६३॥

स्वच्छः कायोऽणुनष्टः प्रभवति खसमो लक्षणाद्यैः प्रपूर्णः
स्वच्छं त्रैलोक्यमेवारणविरहितं स्वप्नवद् भाति विश्वम् ।
भाषाऽच्छिन्ना समन्तात् परहृदयगताऽनेकभाषान्तरेण
चित्तं सत्सौख्यपूर्णं न चलति सहजालिङ्गितं सर्वकालम् ॥१६४॥

इदानीं लोकधातूपसंहार उच्यते—

भूमेराकृष्य चाणून् जलशिखिपवनं प्रेषयेत् तोयधातौ
तोयाद् भूवह्निवायुं शिखिनि च शिखिनो भूमितोयानिलाणुम् ।
वायौ चाकृष्य वायोः क्षितिजलशिखिनं कर्मवातश्च शून्ये
अन्यं क्षेत्रं गताऽन्ये त्रिविधभववशात् कर्मवाताहता ये ॥१६५॥

भूमेरित्यादि। इह बुद्धस्य भगवतो धर्मदेशना द्विधा—एका लोकसंवृत्या, द्वितीया परमार्थतः। तत्र लोकसंवृतिमाह—

अक्षजा धीरनाकारा साक्षाद्वेदाणुसंचयम् ।
सत्काश्मीरमताम्भोधिवैभाषिकमतं मतम् ॥ इति ।

एवं तीर्थिकाः सर्वे परमाणुसंचयग्राहका इति। तेन बाह्ये बुद्धक्षेत्राणां लोकधातूनामप्युत्पादक्षयो वेदितव्यः। स च सत्त्वानां शुभाशुभफलभोगहेतोर्भवति, यावत् सत्त्वराशिस्तावदिति नियमः। तेन लोकधातूपसंहारकाले कर्मवातोऽयं लोकधातुर्येनोत्पादितः पूर्वं बुद्धक्षेत्रं च, तस्य द्विधा स्वभावः—एको निश्चल आकाशेषु नक्षत्रवल्लोकधातोर्बुद्धक्षेत्रस्य न कुत्रचिद्दिशि गमनम्, द्वितीयो भ्रमणस्वभावो राशिचक्रवदाकाशे। एवं लोकधात्वन्तर्गतानां स्थावराणां निश्चलस्वभावः, प्राणिनां चलस्वभावः। कर्मवात इति विज्ञानधर्मतः। एवं परमाणुघटितानां शरीराणामुपसंहारः, तेन लोकधातूपसंहारबुद्धक्षेत्रोपसंहारकाले आवर्तविवर्तलक्षणे उत्पादव्ययधर्मिणि। तत्र लोकधातुक्षयकाले **भूमेरिति** भूमेर्ये परमाणव उदकादिधातूनां संयोगेनावस्थिताः, तेन भूमिपरमाणुराशेराकृष्य

भूमिपरमाणून् पृथक् पृथक् कृत्वा **तोयधातौ** अप्परमाणुराशौ क्षिपति। एवं **तोय**धातोराकृष्य वह्नौ क्षिपति, **वह्ने**राकृष्य वायौ क्षिपति, **वायोराकृष्या**काशे पृथक् पृथक् संचरति। एवं लोकधातूपसंहारः। स पुनः कश्चित् पाताले कालाग्निर्नाम देवता, सा लोकधातुं दहति भस्मं करोतीति यः कालाग्निः, स एव परमाणुसंचयः। अपरधर्मभक्षणतो यः परमाणुरहितः, स न किञ्चिद्दहति न च भक्षयतीति। एवं स्थावराणां विनाशे जाते सति ये विज्ञानधर्मिणः प्राणास्तेऽन्यं **क्षेत्रं** लोकधातुं **गताः**, यत् कर्मवातेन जनितं तेषामुपभोगाय। एवमनन्ताः **कर्मवाता** लोकधातुजनका बुद्धक्षेत्रजनकाः, यथा प्राणिनां प्राणाः पृथक् पृथक् शरीरजनका इति स्थावराणां वृद्धिजनका इति सिद्धान्तः संवृतौ ॥ १६५ ॥

इदानीं कर्मवातयुक्तानां विहरणमुच्यते—

बुद्धक्षेत्रं समस्तं त्रिभुवनजनकोऽकर्मकं वीक्षयित्वा
शुद्धाणौ सर्वबुद्धा उभयसमरसे वेष्टिते बोधिसत्त्वाः।
प्रत्येकैकं रसाणावुभयकुलवशाद् वेष्टिते वज्रपुत्राः
भूम्याद्याश्चाम्बरान्ताः सकलकुलगताश्चाचलाद्यां प्रविष्टा ॥१६६॥

बुद्धक्षेत्रमित्यादि। इह **भद्रचरी**पाठे भगवतोक्तं तद्यथा—"एक रजाग्रि रजोपमबुद्धा बुद्धसुताश्च निषण्णकु मध्ये" (ग० सू० ५६.३) इति वचनात् संवृत्या विहरणं बुद्धानां यत्तदाधारवर्जितं निराधारं न भवति, निरावरणधर्मेण पुनः परमार्थतो विहरणं नास्ति। उक्तं **प्रज्ञापारमितायां** धर्मोद्गतपरिवर्ते—"बुद्धानां कुत्रचिद् गमनं वाऽऽगमनं वा न भूतं न च भविष्यति न भवति" इति। तेन एकरसाग्रे शुद्धपरमाणौ सिद्धरसे सर्वधातुवेधके आधारे सर्वबुद्धाः समस्ता ये शून्यलक्षणा निरावरणा इति। एवं *[212a] **बुद्धक्षेत्रं समस्तमकर्मकं** कर्मवातरहितम्, **त्रिभुवनजनको** ज्ञानकायेन **वीक्षयित्वा शुद्धाणौ सर्वबुद्धा**स्ते सार्धं विहरन्ति, **उभयसमरसे** शुद्धाणाविति। प्राकृतरसं सिद्धरसं कृत्वा संसारिणं बोधिचित्तमक्षरं कृतमित्यर्थः। **बोधिसत्त्वा वेष्टित** इति प्रणिधिचित्तेनेषन्मात्रावरणैर्युक्ता **वज्रपुत्रा** इति। **प्रत्येकैकं रसाणा**विति प्रज्ञोपायोभयधर्मे स्थिताः, अचलादिषु स्थिता इत्यर्थः। एवं **भूम्याद्यणौ** रागरहितादिकृत्स्नानि साक्षात्कृतान्यनन्तान्यचलाद्यां प्रविष्टानीत्यर्थः। इहाणुशब्देनाचलादयो भूमय उक्ताः, न परमाणवः। शुद्धाणुशब्देन आधारभूता द्वादशभूमयः, सर्वावरणक्षयत इत्यर्थः॥ १६६ ॥

तैः सार्धं वज्रसत्त्वो विहरति गगने वर्तकालं हि यावद्
धत्ते सन्धारणोऽणुं क्षितिजलहुतभुग्वायुशून्यस्वभावम्।

---

* पत्र सं० २१२ (a+b) नोपलभ्यते। अतः भोटपाठसाहाय्येन पुनरुद्धृत्य पाठोऽत्र उट्टङ्कयते।

मन्थानो मन्थयन् हि पृथगणुसकलं यावदेकत्वमेति
तेषामन्योन्ययोगः पुनरपि च भवेद् मुख्यभावेऽल्पभावः ॥१६७॥

तैः सार्धं वज्रसत्त्वो विहरति गगने वर्तकालं हि यावदिति। इह यावत् सत्त्वानां पुण्यज्ञानसंभारौ न भवतः, तावत् तैर्बुद्धोत्पादो न दृश्यते, अतो विहरति गगने धर्मकायगत इत्यर्थः। इदानीं लोकधातूद्भव उच्यते—**संवर्तकाल**मिति। "संवर्तो भङ्ग आख्यातः"। अत्रेदं पदं नास्ति। संशुद्धाकारेण धर्माधर्मयोः प्रवृत्तत्वाद् वर्तः, तस्माद्धेतोः कर्मवातः त्रिविधो भवति—सन्धारणः, मन्थानः, संस्थानश्च। तेषां **संधारणः** क्षित्यादिपरमाणुसन्दोहं धत्ते, यथा वृष्टिवात उदकपरमाणुसंदोहं धत्ते। ततो **मन्थानः** क्षित्यादिरसान्तं परमाणुसन्दोहं **मथ्नाति, यावद्** धातवो लवणमिव कठिनतां व्रजन्ति। एवं **तेषामन्योन्ययोगो भवेत्, मुख्यभावेऽल्पभावः**। अतः कठिनधर्मे भूमिपरमाणुर्मुख्यः, शेषा अल्पाः। एवं जले जलम्, अग्नावग्निः, स्पन्दात्मके वायुः, रसे सकलं समानम्, स्वस्वगुणरहितम् ॥ १६७ ॥

बुद्धक्षेत्रं समस्तं विरचयति महासर्वसंस्थानवायुः
प्रत्येके लोकधातौ पुनरपि च महाचक्रवालं समन्तात्।
तन्मध्ये लोकधातुः प्रभवति च महाकर्मभूमिस्वभावः
शेषा भोगस्वभावा विषयसुखकराः सर्वरत्नप्रपूर्णाः ॥१६८॥

ततो **बुद्धक्षेत्रं समस्तं विरचयति महासर्वसंस्थानवायु**रिति। प्राणापानादिभिर्दशभिरित्यर्थः। यथा बाह्य आश्रितानां क्षयवृद्धिकारणानि, तथा देहेऽपि प्राणादीनाम्। **प्रत्येके लोकधातौ पुनरपि च महाचक्रवालं समन्ताद्** इति। यथा सत्त्वानां प्रत्येकदेहे लोम चर्म, तस्य बुद्धक्षेत्रस्य मध्ये कर्मस्वभावो लोकधातुरेको भवति, यथाऽवधूत्येका सर्वनाडीनाम्। लोकधातु**शेषा भोगस्वभावा** अन्या नाड्य इव। ते लोकधातवो **विषयसुखकरा** देहनाड्य इव। **सर्वरत्नप्रपूर्णा** इति यथा रुधिरपूर्णा नाड्यः। बुद्धक्षेत्रं
T 461 लोकधातुसहितं भवति, यथा द्वासप्ततिसहस्रनाडीसहिता कायोत्पत्तिः ॥ १६८ ॥

इदानीं लोकधातौ मेर्वादीनां लक्षणमुच्यते—

पूर्वे शुद्धेन्द्रनीलः सकलगिरिपतिर्दक्षिणे पद्मरागः
पृष्ठे कर्केतपीतः शशधरधवलश्चोत्तरे चन्द्रकान्तः।
मध्ये श्यामस्तदन्तर्निहितमिह महामण्डलं तस्य गर्भे
आदौ चित्तस्वभावं द्विगुणमपि ततो मध्यतो वाक्स्वभावम् ॥१६९॥

पूर्व इत्यादि। इह **पूर्व** इति पूर्वविदेहाभिमुखः, **शुद्धेन्द्रनीलः**, वायुधर्मात्मकत्वात् **सकलगिरिपति**रित्यर्थः। अन्तःस्था य र ल वाः। पूर्वे य। **दक्षिणे पद्मरागो** रकार-

धर्मात्मकत्वात्। **पश्चिमे कर्केतपीतः**, लकारधर्मात्मकत्वात्। **शशधरधवलश्चोत्तरे चन्द्रकान्तः**, वकारधर्मात्मकत्वात्। एवं य र ल वा चतुर्द्वीपेषु ज्ञातव्याः। **मध्ये श्यामः**, शून्यहकारधर्मात्मकत्वात् **तदन्तर्निहितमिह महामण्डलं तस्य गर्भ** इति, पूर्वमुक्तम्। आदाविति चित्तमण्डलं चित्तस्वभावम्। **मध्ये तद् द्विगुणं वाक्कायमण्डलम्** ॥ १६९॥

तस्मादन्यद् द्विगुण्यं शरदशगुणितं योजनानां सहस्रं
तद्बाह्ये चक्ररूपं त्वृतुभिरपि ततो लोकधातुस्वभावम्।
षट्चक्रैः षट्कुलैश्चानिलवलयगतं मण्डलं वेदलक्षै-
र्द्व्यंष्टस्तम्भैश्च कूटं नृपतिशशिकलाभिर्वृतं योनिरूपम् ॥१७०॥

मेरोः कर्णिकास्थाने ज्ञानचक्रम्, हृदयस्थाने चित्तमण्डलम्, कण्ठस्थाने वाङ्मण्डलम्, ललाटे कायमण्डलम्। **तद्बाह्ये** सर्वमण्डलानि लोकधातुस्वभावेनावस्थितानि। **शरदशगुणितं योजनानां सहस्रमिति** मेरोरूर्ध्वे पञ्चाशत्सहस्रयोजनं कायवाक्चित्तमण्डलम्। हृदये कालचक्रं मुद्रालक्षणं च। तद्बाह्ये पञ्चाशत्सहस्रात् **षट्चक्ररूपम्**। **ऋतुभिरिति** षडृतूनां विशुद्ध्या **लोकधातुस्वभावं** षडृतुस्वभावम्। **षट्चक्रैः षट्कुलैश्चेति**, उक्तपूर्वम्। योजनै**र्वेदलक्षैः, अनिलवलयगतमिति** वायुमण्डलान्तं **मण्डलम्**। गर्भे **द्व्यष्टस्तम्भैश्च कूटं** षोडशकलाभिः शुद्धम्, तैः स्तम्भैः, गर्भे परिवृतं ज्ञानचक्रम्, **योनिरूपं** सर्वसिद्धिजनकमिति मेरुनिष्पत्तिः ॥१७०॥

इदानीं भगवतः कायमानेन बाह्यमण्डललक्षणमुच्यते—

उष्णीषादूर्णमध्यं भवति जिनपतेः सार्धसूर्याङ्गुलं तु
तस्मात् कण्ठाब्जमेवं हृदयमपि ततो नाभिगुह्याब्जमेवम्।
पादोऽधो जानूरूकस्फिकमपि मनुभिस्तत्त्वतत्त्वैश्च वेदै-
रर्धोरः सार्धसूर्यैः स्वभुजभुजकराः खाक्षिराजार्कमात्रैः ॥१७१॥

विंशत्येकाधिकं यच्छतमृतुनवभिर्लोकमानं नराणां
वेदैः सार्धैश्चतुर्भिर्जलधिजलधिभिः सार्धवेदैश्च वेदैः।
उष्णीषं मस्तकाधो भवति जिनपतेः श्रीललाटं च नासा
चिब्वन्तं नासिकाधो गलकमपि ततः कण्ठमूलाब्जमध्यात् ॥१७२॥

तस्माद्धृन्नाभिगुह्यं भवति नरपते सार्धसूर्यैः क्रमेण
गुह्याब्जं नाभिमूले कुलिशमपि मुनेरूर्ध्व उष्णीष एव।
ऊर्णा गुह्याब्जमध्येऽक्षरसुखजननी शुक्रबिन्दोः स्थितिर्या
एषा श्रीवज्रभूमिर्हृद्युभयकुलवशात् कायवाक्चित्तचक्रे ॥१७३॥

उष्णीषादिति। इह भगवतो जिनपतेः, उष्णीषादूर्ध्वम् ऊर्णमध्यमिति भ्रूमध्ये सार्धसूर्याङ्गुलं भवति सार्धद्वादशाङ्गुलिमानम्। तस्मात् कण्ठाब्जमेवं सार्धद्वादशाङ्गुलिमानम्। हृदयमपि सार्धद्वादशाङ्गुलि। ततो नाभिगुह्याब्जमेवमिति नाभिकमलं सार्धद्वादशाङ्गुलि। एवं गुह्याब्जं सार्धद्वादशाङ्गुलि। तत उष्णीषाद् गुह्यपद्मान्तं सार्धद्वाषष्ट्यङ्गुलिकायमानम्। पादोऽधो मनुभिरिति चतुर्दशाङ्गुलिभिः। जानु तत्त्वमिति पञ्चविंशतिः, ऊरू अप्येवम्। पादोच्छ्रयो वेदैरिति सार्धचतुरङ्गुलिभिः। एवं जानुसन्धिः स्फिकमपि चतुरङ्गुलिभिः। एवं सार्धद्वाषष्ट्यङ्गुलिभिः स्फिकात् पादाधोऽन्तम्। तथा पञ्चविंशत्यधिकशतं बुद्धकायः। अर्धोरः सार्धसूर्यैरिति सार्धद्वादशमानैः। स्वभुजभुजकराः खाक्षिराजार्कमात्रैरिति विंशतिभिर्बाहुः, षोडशभिरुपबाहुः, द्वादशभिः करो मध्यमाङ्गुल्यन्तम्। एकेन करोपबाहुसन्धिः, बाहूपबाहुसन्धिः। एवं सार्धद्वाषष्ट्यङ्गुलयः। यथा वामे तथा दक्षिणेऽपि। सर्वत्र पञ्चविंशत्यधिकशतं कायमानं चतुरस्रम्। तदेव सत्त्वानां चतुर्हस्तं नराणां षण्णवत्यङ्गुलि ऊर्ध्वाधो चतुरशीतिः, तथा नरा न लक्षणयुक्ता इति सिद्धम्। वेदैरिति चतुर्भिरुष्णीषमानम्। सार्धचतुर्भिः शिरउच्छ्रयः, चतुर्भिर्ललाटम्, चकारात् चतुर्भिर्नासिका, सार्धचतुर्भिर्नासिकाधश्चिबुकान्तम्, चतुर्भिः कण्ठः। तस्माद् हृन्नाभिगुह्यं भवति नरपते सार्धसूर्यैः क्रमेण। गुह्याब्जं नाभिमूले कुलिशमपि मुनेरूर्ध्वं उष्णीष एव। ऊर्णा गुह्याब्जमध्येऽक्षरसुखजननी शुक्रबिन्दोः स्थितिर्या। एषा श्रीवज्रभूमिहर्युभयकुलवशात् कायचक्रं ललाटनाभि, वाक्चक्रं कण्ठहृदयम्, चित्तचक्रं गुह्योष्णीषम्। ॥१७१-१७३॥

इदानीं कायमण्डलशुद्धिरुच्यते—

सार्धार्कं पञ्चविंशद् द्विगुणमपि ततश्चित्तवाक्कायचक्रं
चित्तार्धं षट्सपादं हृदिगतसहजं चाङ्गुलं ज्ञानचक्रम्।
त्रिभ्यो द्वाराणि कुर्यान्मणिमयरचनां मण्डलेभ्योऽष्टमांशाद्
गत्यागत्याप्यधोर्ध्वं द्विगुणमपि भवेत् कायवाक्चित्तचक्रम् ॥१७४॥

सार्धार्कमित्यादि। इह काये गुह्योर्णमध्ये [213a] हृदयम्, तदेव चित्तचक्रम्, नाभिकण्ठमध्यतः सार्धद्वादशाङ्गुलम्, नाभिकण्ठसीम्नः पञ्चविंशत्यङ्गुलं वाक्चक्रम्, तथा गुह्यकमलोर्णान्तं पञ्चाशदङ्गुलं कायचक्रं वज्रभूम्याम्। चित्तार्धमिति चित्तचक्रस्यान्तर्गतं षट्सपादैरङ्गुलैर्ज्ञानचक्रं शोधनीयम्। त्रिभ्य इति सप्तम्यर्थे पञ्चमी। त्रिषु मण्डलेषु द्वाराणि कुर्यादिति चित्तद्वाराणि जाग्रदाद्यवस्थाचतुष्कम्, वाग्द्वाराणि मुखगुदनासारन्ध्राणि, कायद्वाराणि चक्षुःश्रोत्ररन्ध्राणीति द्वादशद्वाराणि। शेषं पूर्वोक्तवत्। एवं बोधिचित्तस्य गतागतभेदेनाध ऊर्ध्वं द्विगुणमपि भवेत् कायवाक्चित्त[1]चक्रं शताङ्गुलमित्यर्थः ॥१७४॥

---

१. ब. वज्रं।

मेरुस्थेऽप्यङ्गुलार्धं भवति जिनपतेर्योजनानां सहस्र-
मेवं कायप्रमाणो भवति सुरगिरिर्विस्तरेणार्धमात्रः ।
तस्योर्ध्वे तस्य चार्धं भवति हि कुलिशाकारकूटं त्रिभाग-
मेवं चाधो धरापो हविरपि पवनः सार्चिषा वज्रमाला ॥१७५॥

एवं मेरुस्थेऽपि मण्डले **जिनपतेर्यदर्धाङ्गुलं** तन्मर्त्ये **योजनानां सहस्रम्** । एवं वायुवलयान्तं चतुर्लक्षयोजनं भवति चतुर्हस्तेषु । **एवं कायप्रमाणो भवति सुरगिरिविस्तरेणार्धमात्रः** पूर्वोक्त इति । **तस्योर्ध्वे तस्य चार्धं भवति हि कुलिशाकारकूटं त्रिभागं** मेरोर्बाह्ये धरावलयमब्वलयं तेजोवलयं वायुवलयम्, अधोभागे **सार्चिषा वज्रमाला** वज्रवलयबाह्ये ॥१७५॥

हृच्चक्रं सार्धसूर्यैर्भवति जिनपतेर्नाभिकण्ठाब्जमध्ये
वाक्चक्रं कायचक्रं कुलिशमणिगतादूर्ध्वमूर्णार्धसीम्नः ।
निर्यूहां(हं) श्रीकपोलं भवति नृप ललाटोर्ध्व उष्णीषसीम्नः
सार्धार्कैर्भूमितोयानलचलवलयं सार्चिषा वज्रमाला ॥१७६॥

[1]सार्धमित्यादि (हृच्चक्रमित्यादि) वृत्तमेकं सुबोधम् ॥ १७६ ॥

ऊर्ध्वाधो बुद्धकायो भवति सममिदं कायवाक्चित्तचक्रं
तिर्यङ्मानैः समन्तात् पवनगतिवशाद्वा त्रिभिः षड्भिरेवम् ।
चक्रं चाष्टारचक्रैर्भवति जिनपतेरङ्गुलैः षट्सपादै-
रष्टद्वारैश्च वृत्तं स्वकरतलनखैः कल्पयेच्छ्रीश्मशानम् ॥१७७॥

ऊर्ध्वाधो बुद्धकायो भवति समं चतुरस्रं **कायवाक्चित्तचक्रं** चतु[2]रस्रम् । **तिर्यङ्मानैः समन्तात् पवनगतिवशाद्** बाह्ये वायुवलयगतिवशादध्यात्मनि वामहस्तनखान्तं दक्षिणहस्तनखान्तं वायुगमनं समानादीनाम् । तेन शरीरमण्डलं चतुर्हस्तं[3] चतुरस्रमिति नियमः । **वा** अथवा, **त्रिभिश्चक्रैः** संवरं वा, **षड्भिश्चक्रैः** संवरमण्डलं वृत्तमष्टद्वारिकं प्रत्येकचक्रमानैः **षट्सपादैः** षड्भिरङ्गुलै**र्भवति, जिनपतेरष्टद्वारैश्च वृत्तं** पूर्वोक्तम्, **स्वकरतलनखैः कल्पयेत् श्रीश्मशानम्**, तत्र तिर्यङ्मण्डले अध ऊर्ध्वे पुनर्मुखाद्यष्टद्वाराणि श्मशानानीति नियमः ॥ १७७ ॥

इदानीं भगवतीकायशुद्धिमण्डलमुच्यते—

ऊर्ध्वाधो वक्त्रगुह्याद् भवति भगवतीमण्डलं द्व्यब्धिमानैः
पद्मार्धं गर्भमध्यात् त्रिभिरपि च ततः सावली चक्रषट्कम् ।

---

१. च. 'सार्ध सुबोधम्' नास्ति । २. च. र्हस्तं । ३. भो. रस्रं ।

द्वाराद्यं सर्वचक्रात् प्रभवति नियतं पञ्चमांशैः कपोलं
न प्रज्ञा नाप्युपायः सहजतनुरियं स्तूपरूपं समन्तात् ॥१७८॥

ऊर्ध्वाधो वक्त्रगुह्याद् भवति भगवतीमण्डलं द्व्यब्धिमानैरिति द्वाचत्वारिंशदङ्गुलैर्भवति, ऊर्णागुह्यकमलाभ्यां त्यक्त्वा [1]द्वाचत्वारिंशद्भिरङ्गुलै रजोधातुः। तेन भगवतीमण्डलं भवति। **पद्मार्धं षट्चक्रं** तुल्यभागैरिति। अत्र द्वारं विसदृशं **चक्रात्** T 462 **पञ्चमांशम्**, चक्रात् पञ्चमांशेन यच्चतुष्पीठादौ तत् कस्य हेतोरिति ? [2]अत्र प्रसूतिकाले मातुर्योनिर्द्वादशाङ्गुलं भवति षण्णवतिविभागेनाष्टमो विभागः। तेन चतुर्द्वीपेषु योनयः स्त्रीणां चतुर्द्वाराणि, गर्भाधानमण्डलगृहं बालशरीरं देवतागणमिति प्रपञ्चो बालानां देवताकारेणोत्पत्तिर्दर्शिता भगवतेति। किन्तु गुह्यादुष्णीषविभागेन पञ्चमांशं द्वारमिति न्यायात्। एवं सत्त्वानां शरीरं मण्डललक्षण[3]रूपम्, स्तूपं पुनर्न **प्रज्ञा नाप्युपायो** नपुंसकमिति नियमः ॥ १७८ ॥

बाह्ये मेरोरधो वै क्षितितलनिलये संस्थिताः सिद्धयोऽष्टौ
पूर्वे खड्गो रसेन्द्रोऽमृतफलगुलिकाश्चाञ्जनं रोचनं स्यात्।
सव्ये श्रीपादुका चाक्षयसकलनिधिर्मण्डलस्याग्निकोणे
मध्ये यज्ञोपवीतं त्रिदशनरगुरोर्ब्रह्मघोषस्तदेव ॥१७९॥

बाह्ये मेरोरधो वै क्षितितलनिलये संस्थिताः सिद्धयोऽष्टौ, पूर्वे खड्गो रसेन्द्रो रुद्रकोणे, **अमृत**[213b]**फल**मुत्तरे, **गुलिका** वायव्ये, **अञ्जनं** पश्चिमे, नैर्ऋत्ये **रोचनम्, सव्ये पादुका, अक्षयनिधिरस्याग्निकोण** इति। **मध्ये मण्डलस्य यज्ञोपवीत**मिति, **त्रिदशनरगुरोः** कालचक्रस्य। **ब्रह्मघोषस्तदे**वेत्यनाहतध्वनिर्देवादीनां प्रबोधक इति नियमः ॥१७९॥

इदानीं वज्रविशुद्धिलक्षणमुच्यते —

मण्युष्णीषे ललाटे गलहृदयगते नाभिगुह्ये च वज्र-
मेकद्व्यब्धीष्वहीन्द्रैः सनवदिनकरैरङ्गुलैश्च क्रमेण।
मध्योर्ध्वाधस्त्रिभागं मुकुलितविकरालं च शान्तौ च रौद्रे
घण्टाऽप्येवं त्रिभागोपरि कुलिशसमा गोमुखाः पद्मरूपाः ॥१८०॥

मणीत्यादि। इह **वज्रमणि**विशुद्ध्या **एकाङ्गुलं** वज्रं भवति, **उष्णीषचक्र**विशुद्ध्या **द्व्यङ्गुलम्, ललाट**विशुद्ध्या **चतुरङ्गुलम्, कण्ठ**विशुद्ध्या पञ्चाङ्गुलम्, **हृदय**विशुद्ध्या

---

१. भो. gSor brGyad (अष्टाङ्गुलं) इत्यधिकम्। २. च. 'अत्र' नास्ति।
३. भो. Raṅ bSin (स्वरूपं)।

अष्टाङ्गुलम्, **नाभिविशुद्ध्या नवाङ्गुलम्**, **गुह्यविशुद्ध्या द्वादशाङ्गुलम्**। **वायुतेजोदकपृथ्वी-कृत्स्नानां** कामावचरा [1]सुरनराणां यथासंख्यम्। तेन कर्णमुद्राणामेकाङ्गुलम्, अङ्गुष्ठवज्रं द्व्यङ्गुलम्, ललाटे वज्रमालार्थं चतुरङ्गुलम्, कण्ठे चापि पञ्चाङ्गुलम्, स्कन्धे वज्रमालार्थमष्टाङ्गुलम्, हृदयोत्कर्पवज्रं नवाङ्गुलम्, उल्लालवज्रं द्वादशाङ्गुलं योगिना कर्तव्यं वज्राभरणाय। तेषां लक्षणमूर्ध्वे **मध्येऽधः समभागस्त्रिभाग** इति तदेवोल्लालवज्रं **मुकुलितं शान्तौ** शान्तिकर्मणि, **विकरालं** विकसितशूकं **रौद्र** इति रौद्रकर्मणि। घण्टाऽप्येवं **त्रिभागा** मध्ये ऊर्ध्वे वज्रं मुखं च तुल्यम्। **गोमुखाः शान्तौ**। **पद्म-विकासमुखा रौद्रे** करालवज्रेण सह ॥ १८० ॥

विस्तारस्तत्त्रिभागं समुखवरटकं तत्त्रिभागाद् दलं च
शूकं विस्तारतुल्यं दिशि विदिशि चतुर्भागिकं शूकवृत्तम्।
बाह्ये शूकं त्रिभागोऽध उपरि बदरीकण्टकाकारयोगो
घण्टावक्त्राणि तद्वद् दलमपि कुलिशं गोमुखाद्यं तथैव ॥१८१॥

इह वज्रमानाद् वज्रशूकानां **विस्तारस्त्रिभागिको** वज्रस्य मध्ये **वरटकं** चतुर्मुखम् तस्य त्रिभागस्य **त्रिभागम्**, एवमध ऊर्ध्वे वरटकस्याष्ट**दलानि** वरटकमानेनेति, **शूकं** वज्रस्य **विस्तारतुल्यमिति** त्रिभागम्। **दिशि** मध्ये **विदिशि** चतुर्दिक्षु विदिक्षु वा। **शूकवृत्तं** वज्रत्रिभागस्य **चतुर्विभागिकम्**। **बाह्ये शूकानां त्रिभागोऽधः**, भागद्वयमूर्ध्वं **बदरीकण्टकवन्मूर्ध्नि**, **योगो** मध्ये मिश्रेणेति मुकुलितं विकराले (विकीर्णे) विकाशो मूर्ध्नि कर्तव्य इति। **घण्टायां वक्त्राणि तद्वदिति** यथा वज्रे चतुर्वक्त्राणि कायवाक्चित्तज्ञान-[2]बिन्दुविशुद्ध्या मैत्र्यादिविहारतः, तथा प्रज्ञाया रजोधर्मेण शून्यतादिधर्मेण चतुर्विमोक्षमुखविशुद्ध्या चतुर्मुखानि कर्तव्यानीति न्यायादेकः। द्वितीयो "दिनस्तु भगवान् वज्री" इति कालिर्व्यञ्जनधर्मोऽनुच्चार्यः, स्वराभावात्। तेन वज्रवरटके मुखाभावः। "नक्तं प्रज्ञा प्रकीर्तिता" इत्यालिः स्वरधर्मः, तेनोच्चारणस्वभावादेकमुखं भगवत्या इति वज्रघण्टायाः सिद्धम् ॥ १८१ ॥

इदानीं चैत्यलक्षणमुच्यते—

गुह्याब्जोर्णान्तभागैः परमजिनपतेरूर्ध्वतश्चैत्यमानं
पीठायामस्तदर्धैः क्षितिरिव सुसमं तत्त्रिभागैर्दिशांशाः।
सार्धान्तो निर्गमोऽब्जं हृदिगतवलयं पीठमानेन वृत्तं
पद्मान्ताद् भागहीनं तलसममुरसस्तद्दिशांशैश्च कण्ठम् ॥१८२॥

---

१. भो. Lha Min (असुर) इत्यधिकम्। २. च. 'बिन्दु' नास्ति।

गुह्येत्यादि । **गुह्याब्जोर्णान्तभागैरिति** पञ्चाशदङ्गुलैः, **परमजिनपतेरूर्ध्वतश्चैत्यमानम्** । **पीठायामस्तदर्धैरिति** पञ्चविंशतिभिः, **क्षितिरिव चतुरस्रः, सुसमस्तिर्यग्विभागेन** । **तस्य त्रिभागैर्दिशांशा** इति । अङ्गुलत्रिभागेन सहितान्यष्टाङ्गुलानि, सार्धाङ्गुलनिर्गमः । तस्य पीठोपरि पद्मस्य निर्गमः, तेनैव मानेन हृदिगतवलयस्यापि निर्गमः । **एवं हृदिगतवलयं भवति पीठमानेन वृत्तं** [214a] पद्मं च । **पद्मान्तात् त्रिभागहीनं तलसमधुरसो** वृत्तं सार्धाङ्गुलहीनमिति । तस्य **दिशांशैश्च कण्ठमिति**, अष्टाङ्गुलं त्रिभागिकं तिर्यङ्मानेन, ऊर्ध्वमानेन चतुरङ्गुलम् ॥१८२॥

वक्त्रं पीठार्धभागैः क्षितिरिव सुसमं तत् त्रिभागाद्दिशांशा
गुह्याब्जात् सार्धसूर्यैः सुसममपि भवेदूर्ध्वतः पीठमानम् ।
पीठादब्जादिसीम्नो हृदिगतवलयान्तं ततः कण्ठमूलं
तस्माद् वक्त्रान्तमेवं जलधिरपि युगैः सार्धवेदैस्त्रिखण्डम् ॥१८३॥

वक्त्रं पीठार्धभागैरिति । सार्धद्वादशभिः, तिर्यग्विभागेन तदेव चतुरस्रं यथा **कण्ठम्, क्षितिरिव सुसममिति** तस्य वक्त्रस्य कण्ठस्य **त्रिभागिका चतुर्दिशांशा** कण्ठस्यार्धाङ्गुलनिर्गमो दिगंशानां वक्त्रस्य पादोनाङ्गुलनिर्गम इति । **गुह्याब्जात् सार्धसूर्यैः** सार्धद्वादशाङ्गुलै**रूर्ध्वतः पीठमानं** चतुरस्रं **सुसममपि भवेदिति** पीठतलात् । **पीठादब्जादिसीम्न** इति नाभिकमलपर्यन्तमवधूतीस्थानं यावदिति सार्धद्वादशमाना । ततो **हृदिगतवलयान्तं** च सार्धद्वादशमाना, **ततः कण्ठमूलं** [1]सार्धद्वादशमानम्, **तस्मात्** सम्भोगचक्रस्थानाद् **वक्त्रान्तमेवं** छत्रावली स्थानपर्यन्तं चतुरङ्गुलं कण्ठम्, चिबुकान्मुखस्थानपर्यन्तं सार्धचतुरङ्गुलम् । एवं सुनासिकास्थानं तथा चतुरङ्गुलम्, [2]एवं शिरःस्थाने छत्रावलीति । **एवं जलधिरपि युगैः सार्धवेदैस्त्रिखण्डं** कण्ठादिवक्त्रमिति ॥ १८३ ॥

पीठाद् वेदैश्च पद्मं हृदिगतवलयं कण्ठमानं च तद्वत्
सार्धाष्टैर्वक्त्रमानं भवति तदुपरि च्छत्रमाला नरेन्द्र ।
ऊर्णासीम्नो ललाटे शिरसि तत इहोष्णीषपर्यन्तमेषा
एवं वै लोकधातुः सकलजिनतनुश्चक्रचैत्यस्वरूपः ॥१८४॥

पीठादिति । पीठोर्ध्वतः पद्मासनस्योच्छ्रयो **वेदैरिति** चतुरङ्गुलैः **पद्मम्**, एवं **हृदिगतवलयं** चतुरङ्गुलम्, **कण्ठमानं च तद्वच्चतुर्भिः** [3]**सार्धाष्टैः, वक्त्रमानमिति** चिबुकान्मुखान्तं सार्धचतुर्भिः, नासिकान्तं चतुर्भिः, तत ऊर्णास्थानं भ्रुवोर्मध्ये । तदूर्ध्वं ललाटादारभ्य **भवति तदुपरि च्छत्रमाला नरेन्द्र ! ऊर्णासीम्नश्छत्रावली ललाटे शिरसि**

---

१. च. 'सार्धद्वादशमानम्' नास्ति । २. च. 'एवं' नास्ति । ३. च. सार्धाष्टभिः ।

इहोष्णीषपर्यन्तमेषा सार्धद्वादशाङ्गुला इति नियमः। **एवं सुमेरुलोकधातुः सकल-जिनतनुः** स्तूपभावो मेरुः, रूपस्वभावा बुद्धप्रतिमा, निर्मितकायो द्वात्रिंशन्महापुरुषलक्षण-मिति। अत्र महापुरुषलक्षणानि, तद्यथा—तथागतस्य चक्राङ्कितपाणिपादतलौ, चक्रे सहस्रारे परिपूर्णे सनाभिके सुप्रतिष्ठितपादतलो, सर्वपादतलेन पृथ्वीं स्पृशति, साऽप्युन्नमिते पादतले उन्नमति नमिते नमति, जालावनद्धे पाणिपादतले राजहंसस्येव जालिनी-युतौ हस्तौ, पादौ जातबालस्येवातिमृदुतरौ, सप्तोत्सद इति द्वयोः पादयोर्हस्तयोः स्कन्धयोः कण्ठेऽपि उत्सद इति। करपादयोर्दीर्घाङ्गुल्यो वृत्ता आयता सुपर्वाङ्गुष्ठकाद्या इति। आयतपादपार्ष्णिः, बृहदृजुगात्रः, उच्चैर्जान्वङ्गुल्यग्रा, ऊर्ध्वाग्राणि लोमानि दक्षिणावर्तानि, ऐणेयजङ्घः, कोशावगतबस्तिगुह्यः, हस्तिन इव कोशेन प्रच्छादितं बस्तिगुह्यम्, सुवर्णादिस्निग्धवर्णः, सुवर्णवच्छविः, मलरजोऽग्राहिणो रोमकूपे एकैकरोम-भ्रुवोर्मध्ये, ऊर्णोपरि मण्डलं कर्पासांशुशुक्लातिसूक्ष्मशुक्लद्वात्रिंशदात्मकं दक्षिणकुण्डला-वृतम्। सिंहपूर्वार्धकाय उपरिविशालः सुवृहत्स्कन्धः परिमण्डलग्रीवा, अङ्गप्रत्यङ्गेषु T 463 रसरसाग्राः, रसं रसमस्तीति रसरसाग्राः, [214b] ताः पुनः शिरा आहारिण्योऽग्रत इति वातपित्तश्लेष्मभिरलिप्तत्वात्। न्यग्रोधपरिमण्डलो महापुरुष इति, आयाम-व्यायामयोः समन्तादेव उष्णीषावर्तशिरः, उष्णीषं छत्र इव परिगतमुन्नतम्, आकेश-श्रोतसी जिह्वाग्रेण स्पृशति, केशपर्यन्तं ललाटं च जिह्वयाऽऽच्छादयति। ब्रह्मस्वरोऽनन्त-पर्षदा यथा बाह्ये तथाभ्यन्तरे श्रूयते सर्वसत्त्वैरपि। सिंहस्येव वृत्तहनुः, समा दन्ताश्चत्वारिंशच्छुक्लाः सर्वदोषरहिताः। [1]अभिनीलाद्यं नेत्रम्, नेत्रयोर्यन्नीलं तदभिनीलम्, यत्र रक्तं तदभिरक्तम्, यच्छुक्लं तदभिशुक्लम्। गोपक्ष्माणि वृषभस्येवाक्षिपत्राणि, अध ऊर्ध्वायतनानीति। विश्ववर्णकायः सत्त्वानां नानावर्णविलोकनतः। एवं पादतला-दारभ्य उष्णीषान्तानि द्वात्रिंशन्महापुरुषलक्षणानि **धर्मसंग्रहे** (म. सू. सं., पृ. ३३४) उक्तानि, तेन वृत्तैर्न सूचितानीति। एवं लोकधातु(तो)रुत्पत्तिः। एवं बुद्धनिर्माणकाय-तुल्यः। एवं रजोमण्डलं सत्त्वानां पुण्यलाभाय। यथा मेरुस्तथा चैत्यः। सूर्यादीनां दक्षिणावर्तभ्रमणाय चैत्यवन्दनाय मर्त्ये दर्शितः। यथा बुद्धस्तथा बुद्धप्रतिमा कार्या, पूजादिकरणाय। एवं संवृतिसत्यं पुण्यलाभाय दर्शितम्। अत्राशीतिव्यञ्जनानि ग्रन्थ-बाहुल्यभयान्नोक्तानि सर्वत्रोक्तायेने(न्येवे)ति ॥ १८४ ॥

इदानीं लोकधातौ नानाधातुस्वभाव उच्यते—

पृथ्वी स्याद्धेमधातुर्जलमपि रजतं वह्निधातुश्च ताम्रं
वायुश्चायश्च शून्यं त्रपु भुजगमिदं मिश्रधातुस्वभावम्।
पृथ्वी स्यात् पीतरत्नं सितमपि च जलं रक्तरत्नं च वह्निः
कृष्णं वायुश्च नीलं हरितमपि तथा मिश्रधातूद्भवं तत् ॥१८५॥

१. भो. 'अभि' इत्यस्य स्थाने सर्वत्र Śin Tu (अति)।

पृथ्वीत्यादि । इह पृथ्वी स्याद्धेमधातुरिति हेम पृथ्वीस्वभावं पीतम्, रजतं तोयस्वभावं धवलम्, ताम्रं वह्निस्वभावं रक्तम्, अयो वायुस्वभावं कृष्णम्, त्रपु नागं च मिश्रमिति । रसलोहमाकाशलक्षणं ज्ञानधातुलक्षणमिति । एवं स्वर्णादिलोहषट्[कम् ।] तथा मणिरत्नानीति । पीतरत्नं पृथ्वीस्वभावम्, श्वेतं जलस्वभावम्, रक्तं वह्निस्वभावम्, कृष्णं वायुस्वभावम्, श्याममाकाशस्वभावम्, नीलं ज्ञानधातुस्वभावम्, तद्धातूद्भवत्वादिति ॥१८५॥

भूमिः क्षाराऽम्बु मिष्टं प्रभवति कटुकोऽग्निश्च तिक्तोऽनिलश्च
मिश्रश्चाम्लः कषायो रस इति च पुनः क्षेत्रपाषाणयोनिः ।
ओषध्यः षट्प्रकारा रसपरमरसा धातवोऽन्ये मणीन्द्रा
नानास्पर्शाश्च भूम्यां सकलरुजहराण्येव तोयानि सम्यक् ॥१८६॥

तथा षड् रसाः-भूमिस्वभावः क्षाररसः, मधुरस्तोयस्वभावः, कटुकोऽग्निस्वभावः, तिक्तो वायुस्वभावः, आकाशस्वभावः कषायः, ज्ञानस्वभावोऽम्ल इति । एवं क्षेत्रपाषाणानां योनिः पृथिव्यादिः । एवमोषध्यः षट्प्रकाराः । रसाः परमरसा इति सिद्धरसाः । धातवोऽन्ये मणीन्द्रा इति षट् । एवं नानास्पर्शाश्च भूम्यां सकलरुजहराः, एवं तोयानि शैलोदकानीति षट्प्रकाराणीति सम्यक् ॥१८६॥

इदानीं मणिरत्नगुणा उच्यन्ते—

पृथ्वी शूलापहारी विषमपि च हरेत् तोयधातुश्च वह्नि-
र्भूतं स्तोभं च वायुर्गगनमपि हरेत् क्षुद्रदृष्टिप्रपातम् ।
ज्ञानं सर्वापहारी मणिरपि च तथा संस्थितोऽङ्गे नृपाणां
सर्वेऽचिन्त्यस्वभावाः सलिलरसमणिस्पर्शमन्त्रौषधीनाम् ॥१८७॥

पृथ्वीत्यादि । इह पृथ्वीजातिर्मणिर्वा रत्नं वा शूलापहारी भवति, तोयजातिर्विषापहारी भवति, भूतावेशापहारी अग्निजातिः, स्तम्भनापहारी वायुजातिः, क्षुद्रदृष्टिप्रपातापहारी शून्यजातिः, ज्ञानजातिः सर्वदोषापहारी । यथा रत्नं मणिस्तथा सामान्योऽपि दर्दुरादीनां शिरसि जातो दोषापहारी मणिः संस्थितोऽङ्गे नृपाणामिति । एवमुक्ता ये सर्वेऽचिन्त्यस्वभावाः पृथिव्यादिधर्मिणः । एवं बुद्ध[215a]क्षेत्रनिष्पत्तिः ॥१८७॥

बुद्धक्षेत्रं समन्तात् प्रविशति भगवान् ज्ञानचक्रस्वरूपी
भूयः सत्त्वप्रवृत्तिर्भवति फलवशात् सर्वसामग्रियोगात् ।
मासास्तैर्द्वादशाङ्गैः स्वदिनगतिवशान्मेरुनिष्पत्तिरत्र
स्तूपाकारोर्ध्वकूटं नृपकुलिशमयं मण्डलं तस्य गर्भे ॥१८८॥

बाह्ये ज्योतिष्कचक्राण्यवनितलगताः कर्मभूम्यां मनुष्याः
षड्द्वीपाभोगभूम्याममृतफलरसाहारिणोऽन्ये सुराद्याः ।
अष्टौ शृङ्गानुरूढाः सुरपतिरनलः कालदैत्याब्धिवाता
यक्षो रुद्रोऽध ऊर्ध्वे परिजनसहितो विष्णुरेवाब्धिवक्त्रः ॥१८९॥

अतो वृत्ताद् वृत्तद्वयं सुबोधम् ॥१८८-१८९॥

इदानीं मकरादिराशीनां स्वभाव उच्यते—

विज्ञानं शून्यधातुर्मकर इह घटश्चैव संस्कारवायु-
र्मीनो मेषो वृषश्च प्रभवति मिथुनो वेदनाग्निश्च संज्ञाः ।
तोयं रूपं क्षितिश्चाक्षरमपि सहजा राशयः कर्कटाद्या
एषां वज्रादिचिह्नानि क च ट प त शा दीर्घह्रस्वाधिदेवाः ॥१९०॥

विज्ञानमित्यादि । इह **मकरो विज्ञानशून्यधातुस्वभावः, कुम्भः संस्कारवायु**-धातुस्वभावः, **मीनो वेदनाग्निस्वभावः, मेषः** संज्ञातोयस्वभावः, **वृषो रूपपृथ्वी**[1]-स्वभावः, **मिथुनो** ज्ञानस्कन्धज्ञानधातुस्वभावः । एवं **सहजाद्यन्तस्वभावाः कर्कटादयो** राशय इति विलोमेन। **एषां** मकरादीनां **वज्रादिचिह्नानि** वज्रखङ्गरत्नपद्मचक्रकर्तिका इह कर्कटादीनां सृष्टिक्रमेण विलोमानीति । कवर्गादयः क च ट प त शा मकरादीनाम्, ≍क न म ण ञ ङादीनि कर्कटादीनाम् । लोकधातुपटलोक्तानीति **दीर्घह्रस्वाधि-देवानि** दीर्घस्वरभिन्नानि ककारादीन्यशीत्युत्तरशतानि व्यञ्जनानि । एवं ह्रस्वस्वर-भिन्नानीति ॥१९०॥

इदानीं ग्रहाणां जन्मराशय उच्यन्ते—

मेषे युग्मे कुलीरे शशिसितरवयः सिंहकन्यातुलासु
भौमो मन्त्री च राहुर्बुधशनिफणिनो वृश्चिकाद्यन्तचापे ।
एवं भूम्यादिधातोर्भवति नरपते सर्वतोऽन्योन्ययोगः
सत्त्वानां कर्मरूपं भवति जगदिदं सर्वरत्नप्रपूर्णम् ॥१९१॥

मेष इत्यादि । इह यथासंख्यं **मेषे युग्मे कुलीरे शशी शुक्रो रविर्बभूव । सिंहे भौमः, कन्यायां बृहस्पतिः, तुलायां राहुः, वृश्चिके बुधः, धनुषि आदौ शनिः, तस्यान्ते केतुः** । एवं कुम्भे आगस्तिः, वृषे ध्रुरि(व इ)ति । एवं पूर्वोक्तक्रमेण **भूम्यादिधातोरिति**

---

१. भो. Khams (धातु) इत्यधिकम् ।

परमाणुसमूहस्य सर्वतोऽन्योन्ययोगो मुख्यभावेऽल्पभावः समुदयधर्मादिति। सत्त्वानां कर्मरूपं भवति जगदिदं सर्वरत्नप्रपूर्णं यद् बुद्धबोधिसत्त्वानामिति ॥१९१॥

इदानीं सत्त्वानां कर्मप्रभाव [1]उच्यते, तद्यथा—

ये भूम्यां कल्पवृक्षा रसपरमरसाश्चाणुभिर्वै बभूवु-
रोषध्योऽन्ये रसेन्द्राः सकलरुजहरास्तान् न पश्यन्ति सत्त्वाः।
पश्यन्ति प्राकृतं यत् तृणतरुसलिलं पांशुपाषाणलोहं
प्रेतास्तोयं महाग्निं नरकगतनराश्छेदभेदं समन्तात् ॥१९२॥

ये भूम्यां कल्पवृक्षा रसपरमरसाश्चाणुभिर्वै बभूवुरोषध्योऽन्ये दिव्याः, रसेन्द्राः सकलरुजहरास्तान् न पश्यन्ति सत्त्वा अपुण्यवशेन। पश्यन्ति प्राकृतं यत् तृणतरुसलिलं पांशुपाषाणलोहम्। प्रेतास्तोयं नद्यादिषु ज्वलदग्निरूपं पश्यन्ति। नरकगतनराः पापवशेन छेदभेदं शूलादिकं पश्यन्ति ॥१९२॥

इदानीं बुद्धनिर्माणमुच्यते—

एतेषां मुक्तिहेतोः ससुतजिनपतिः कर्मभूम्यां प्रविश्य
गर्भाधानं हि कृत्वा परमकरुणया बोधिमुत्पादयित्वा।
मारक्लेशान् निपात्य क्षितितलनिलये धर्मचक्रं प्रवर्त्य
कृत्वा निर्माणमायां पुनरपि भगवान् शुद्धकायः स एव ॥१९३॥

एतेषामिति। एषां सत्त्वानां मुक्तिहेतोः पुण्योदयकाले ससुतजिनपतिरिति बोधिसत्त्वैः सह बुद्धो भगवान् कर्मभूम्यां प्रविश्य सत्त्ववैनेयाय गर्भाधानं कृत्वा, परमकरुणया बोधिमुत्पादयित्वा मारक्लेशान्निपात्य क्षितितलनिलये धर्मचक्रं प्रवर्त्य, कृत्वा निर्माणमायां पुनरपि भगवान् शुद्धकायः स एव यथाऽऽगतस्तथा गतः। एवं बुद्धनिर्माणमाया निर्वाणरूपा सत्त्वानां प्रतिभासते पुण्यवशादपुण्यवशादिति नियमः ॥१९३॥

तस्माज्जातो न नष्टस्त्रिभवमपि गतः शुद्धकायो जिनस्य
सत्त्वार्थं सर्वदा न त्यजति जिनपतिः कर्मणा बाध्यते न।
एवं लोकेश्वरोऽहं त्रिभुवननिलये कर्मभूम्यां स्थितोऽर्कं
सत्त्वानां मार्गदाता नरकभयहरो नान्यदेवः कदाचित् ॥१९४॥

येषां धर्मेऽभिघातं स्वतनुपरतनोश्चानुबन्धः स्वनार्याः
पुत्रात् स्वर्गोऽग्निहोत्रान्मरणमुपगते बान्धवे पिण्डपातात्।

---

१. च. 'उच्यते' नास्ति।

यज्ञे हिंसा पशूनां रणमरणगते स्वर्गलोके प्रवेशः
तीर्थे कायप्रपातात् परपदगमनं सौख्यदास्ते न धर्माः ॥१९५॥

का माता कः पिता ते वरसुतदुहिता भ्रातृभार्याभगिन्यः
कः स्वामी मित्रवर्गो मरणभयहरस्तत्त्वमार्गं विहाय ।
तेनार्क त्वं मुनीनां कुरु मम वचनादेकवर्णप्रवृत्ति
येनामी यान्ति मोक्षं त्वृषय इह मयाधिष्ठिताश्चक्रमध्ये ॥१९६॥

दुःखं दण्डप्रहाराद् यदि भवति तनौ तत्र दण्डोऽपराधी
नायं दण्डः करेण प्रहित इह करस्यापराधः समस्तः ।
नायं चित्तेन चित्तं प्रहितमिह महादुष्टकोपानलेन
तस्मात् कोपानलोऽयं रिपुरिव(ह)जगतो मारितो बोधिसत्त्वैः ॥१९७॥

रागाद् द्वेषादिदोषः प्रवरसुरनृणां स्वेष्टभार्यान्यसङ्गात्
सा तस्योन्मूलनार्थं सकलजिनसुतैः कामदाने प्रदत्ता ।
तस्माद् दानानुरागः समसुखफलदः पुण्यसम्भार एष
जातस्त्रैलोक्यबन्धुर्नरकभयहरः सर्वकालं जनानाम् ॥१९८॥

सत्त्वा रागेण येन प्रलयमुपगतास्तायिनस्तेन मुक्ताः
सत्त्वा यद्रक्षयन्ति प्रतिदिनसमये तायिनस्तद् ददन्ति ।
सत्त्वा यन्मोचयन्ति स्वहृदिगतसुखं तज्जिना रक्षयन्ति
तेनेदं दुष्करं स्याज्जिनवरचरितं देवनागासुराणाम् ॥१९९॥

पृथ्वी तोयाग्निवाता गगनगुणमनोबुद्ध्यहङ्कारजीवा
रूपाद्याश्चक्षुराद्या विषयविषयिणः पञ्च कर्मेन्द्रियाणि ।
एषां को वर्णज्येष्ठः सपशुनरतनोर्व्यापकानां कनिष्ठो
येन त्वं वर्णज्येष्ठः सनृपनरगुरुर्जातिगर्वाभिमानी ॥२००॥

इतो वृत्तादपरसप्तवृत्तानि सुबोधानि ॥१९४-२०० ॥

इदानीं महारसादिलक्षणमुच्यते—

ताप्यं भूमिश्च तोयं प्रभवति विमला तुत्थकं वह्निरेव
वायुर्व्योमिश्रधातुः सचपलशशकं हिङ्गुलं सप्तमं च ।

काक्षीकासीसगन्धं समगगनचलं वह्नितोयं शिलालं
गौरी पृथ्वी गतं यल्लवणमुदधिजं सैन्धवं कृष्णचौल्लम् ॥२०१॥

ताप्यमित्यादि। इह माक्षिकं महारसं भूमिस्वभावम्, चकारान्महारसम्। **विमला तोयस्वभावा, तुत्थकं वह्निस्वभावम्, चपलो वायुस्वभावः, रसकः** शून्यस्वभावः, **शशको हिङ्गुल**[श्च] ज्ञान[1]धातुस्वभाव इति महारसाः सप्त। तत उपरसाः **काक्षिकमिति** ज्ञानधातुस्वभावम्, **कासीसमा**काशस्वभावम्, [215b] **गन्धकं** वायु[2]धातुस्वभावम्, **मनःशिला** वह्निस्वभावा, **तालकं** तोयस्वभावम्, **गैरिका** भूमिस्वभावेति षडुपरसाः।
T 464 ततः पञ्च लवणानि—**गतम्, सामुद्रम्, सैन्धवम्, कृष्णलवणम्, चुल्लिकालवणं** पृथिव्यादिस्वभावं यथाक्रमेण ॥२०१॥

एतानि क्ष्मादियोनौ पुनरपि नवसारं यवक्षारसज्जं
सौभाग्यं काचजातं खचलशिखिजलक्ष्मास्वरूपाणि तानि।
पृथ्वी शैलोदकं स्यात् शशिजलमुदकं वह्नितोयं च वह्नि-
र्वायुः शून्यस्वरूपा विषजलमपरा कर्तरी त्रिस्वभावा ॥२०२॥

ततः पञ्च क्षाराणि—**नवसारम्, यवक्षारम्, सर्जिकाक्षारम्, टङ्कणक्षारम्, काचलवणक्षारं** यथासंख्यमाकाशादिस्वभावम्। ततः पञ्च तोयानि—**शैलोदकं** पृथ्वीस्वभावम्, **चन्द्रोदकं** तोयस्वभावम्, **उष्णोदकं** वह्निस्वभावम्, **विषोदकं** वायुस्वभावम्, **कर्तर्युदकमा**काशस्वभावम्। सा च कर्तरी त्रिविधा—स्पर्शकर्तरी, छायाकर्तरी, शब्दकर्तरी, साधकच्छेदनादिति ॥२०२॥

भूधातुः पीतमुस्तं जलशिखिमरुतः शक्तुकं शृङ्गिकृष्णं
शून्याख्यं कालकूटं ह्युपविषमपरं पञ्चधा वेदितव्यम्।
पाषाणा जीवरूपा विविधफलसमा मुण्डशङ्खादिरूपा-
स्तेषां लोहानि षड् वा घनजमपि तथा देवकान्तं चतुर्धा ॥२०३॥

ततः पञ्च विषाणि—**पीतमुस्तं** भूधातुस्वभावम्, **शक्तुकं तोयधातुस्वभावम्, शृङ्गी वह्निस्वभावम्, कृष्णविषं वायुस्वभावम्, कालकूटं शून्यस्वभावम्। उपविषमपरं पञ्चधा वेदितव्यमिति।** [3]वज्री भूमिस्वभावम्, अर्कस्तोयस्वभावः, धुत्तूरकमग्निस्वभावम्, लाङ्गली वायुस्वभावा, करवीरः शून्यस्वभाव इति। इह पृथिव्यां क्षेत्र**पाषाणा नानाजीवरूपा नानाफलाकृतयः शङ्खादिनानारूपाः**, ते च षड्विधाः। येन तेभ्यो धातुभ्यो

१. च. 'धातु' नास्ति। २. च. 'धातु' नास्ति। ३. च. वज्रां।

लोहानि षड्विधानि भवन्ति। [1]तेभ्यः सुवर्णं भवति। एवमन्येभ्यो रूपाद्यं भवति। घनजमपि चतुर्धा इति। पीताभ्रकलोहं पृथ्वीस्वभावम्, श्वेतस्य तोय[2]स्वभावम्, रक्तस्य वह्निस्वभावम्, कृष्णस्य वायुस्वभावमिति। एवं देवलोहमिति। एवमयस्कान्तलोहम्। एवं भ्रामकस्य वायुस्वभावम्, चुम्बकस्य पृथ्वीस्वभावम्, [3]कटुकस्याग्निस्वभावम्, द्रावकस्य तोयस्वभावमिति। तेषां द्रावकाणां नाना स्वभावाः। केचिद्वज्रवैक्रान्तका इति वज्रद्रावका अभ्रद्रावकाः। एवं केचिद्धेमद्रावकाः, एवं रौप्यताम्रलोहानां द्रावकाः। ते विडोपभोगास्तेभ्यो लोहं न पातयेदिति ॥२०३॥

सिद्धोऽसिद्धो रसश्च द्विविध इह भवेद् वेधकोऽवेधकश्च
सिद्धो लोहस्य वेधी पुनरपि स तनोर्वेधको भक्षितश्च।
योऽवेधी सूतकः स प्रभवति सरसो जारितः सारितश्च
लोहे वेधानुवेधी सकलरुजहरः पूतिलोहं विहाय ॥२०४॥

तत्र रसो द्विधा—सिद्धोऽसिद्धश्च भवति। लोहादीनां वेधकः सिद्धः, पातालादिषु कूपेषु स्थितः। अवेधको यः स पारदः स सूतकः प्रभवति रसो लोहादीनि जारितो बीजेन सारितः सन्निति प्रतिसारितोऽनुसारितो लोहे वेधानुवेधी भवति। भक्षितः सकलरुजहरो भवति। पूतिलोहं विहायेति नागवङ्गाभ्यां विना हेमादि जीर्णः सन्निति। इति रसोपरसादिनियमः। एषां माक्षिकादीनां रसवादग्रन्थोक्तविधिना सर्वेषां शोधनं कृत्वा तत उक्तकर्मणि देयाः, अन्यथा अशुद्धा द्रव्यक्षयं कुर्वन्ति रसोपरसाः। एवं हेमतारशत्रवोऽपि न देया हेमतारमध्ये, हेमतारकार्ये मित्रं देयम्। लोहमारणे शत्रवो देया इति शास्त्रोक्तविधिना। एवं ताम्रं तीक्ष्णमप्यशुद्धं हेमतारे न देयम्। नागवङ्गं न मृतं देयं यत्र कुत्रचित्। मृतं लोहनिर्वाहणे निरुत्थानं लोहं मारयेत्। ताम्रादिकं सजीवनिर्वाहणे महारसोपरसं शत्रुं दत्त्वा निर्वाहयेत्। तारहेमयोर्मित्रमिति बीजकार्ये ॥२०४॥

इदानीं रसस्वभाव उच्यते—

पूर्वं धूमस्वभावैर्व्रजति शिखिगतो जारितः स क्रमेण
शब्देनैवोत्प्लुतेन प्रभवति स पुनः कम्पनिष्कम्प एव।
वेधी शब्दी प्लुती न प्रभवति स पुनः सूत्रवेधी सकम्पो
निष्कम्पः कुन्तवेधी त्रिविध इह पुनः सारितः सारणाभिः ॥२०५॥

१. भो. ḥGaḥ Śig Las (केभ्यश्चिद्)। २. च. 'स्वभावम्' नास्ति।
३. भो. ḥDren Byed (कर्षकस्य)।

पूर्वमित्यादि। इह **पूर्वं धूमस्वभावैर्व्रजति शिखिगतो यः स जारि**[216a]**तः क्रमेण शब्दं** कृत्वा व्रजति बालः, **प्लुतेन** व्रजति कुमारभूतः, **प्रकम्पेन** व्रजति प्रौढः, **वृद्धो निष्कम्पो** वेधानुवेधी यदा-भवति। अत्र वेधी लोहस्य शब्दी बालो न भवति, प्लुती च न भवति, किन्तु पत्रलेपेन मृद्वग्निना किञ्चित् क्रामयेदिति कुमारः। एवम्—

बालः[श्च] पत्रलेपेन कुमारोऽप्यन्धमूषया।
युवानः कुन्तवेधेन वृद्धो वेधी यथेच्छया॥

एवं वेधी शब्दी प्लुती च प्रभवति स पुनः पूर्वं यो धूमगामी पत्रवेधी, **सकम्पः कुन्तवेधी। स**ः पुनस्त्रिविध**सारणाभिर्वक्ष्यमाणाभिः सारितो** वृद्धो भवति, स यथेप्सितेन लोहं विद्धयति। इति रसगुणनियमः॥ २०५॥

इदानीमोषधीगुणमुच्यते—

दिव्यौषध्या बलेन प्रभवति बलवान् जारितः सर्वलोहान्
कोऽसौ तासामभावे क्षितितलनिलये यः करोत्यस्य बन्धम्।
बद्धे स्यात् खेचरत्वं मरणमपि तथा भक्षिते नाशमेति
ज्ञानाभावे रसेन्द्रः क्षितिपतिभिरयं साधनीयः प्रयत्नात्॥२०६॥

दिव्येत्यादि। इह सर्वत्र **रसशास्त्रे** वज्रवैक्रान्तकस्पर्शाद् **दिव्यौषधीसंयोगाद्** रसोऽभ्रकं निर्मुखं जरतीति तेन वज्राभ्रकद्रावकाः पाषाणाः, तेषां स्पर्शेन विडेनेति दिव्यौषध्यो रसौषध्यो वक्ष्यमाणाः, तासां **बलेन प्रभवति बलवान् जारितः सर्वलोहान्** अभ्रकादीन्। **कोऽसाविति। तासां** दिव्यौषधीना**मभावे क्षितितलनिलये योऽस्य** सूतकस्य **बन्धं करोति**। दारिद्रयरागापहरणं **बद्धे स्यात्। खेचरत्वं** नृणाम्, **मरणमपि तथा भक्षिते नाशमेति** यस्य प्रभावतः। तस्माद् **ज्ञानाभावे रसेन्द्रो** रोगापहरणार्थं **क्षितिपतिभिरयं साधनीयो** रसेन्द्र इति नियमः॥ २०६॥

द्रव्यं तेषामनेकं व्ययमपि च भवेद् गीतवाद्याभियोगे-
स्तन्नष्टं यन्न दग्धं नृपरसविषये धर्मकार्ये न दत्तम्।
यो द्रव्यं पापहेतोर्व्ययमपि कुरुते तेन तत् पापबन्ध-
स्तस्मात् सत्त्वार्थहेतोर्व्ययमपि सकलं बोधिसत्त्वः करोति॥२०७॥

अपरवृत्तेनापि सुबोधेनेति॥ २०७॥

इदानीं दिव्यौषधीलक्षणमुच्यते—

या लेपात् ताम्रपत्रस्य हरति सहसा कालिकामोषधीं तां
धन्याः पश्यन्ति भूम्यां सकलरुजहरां जारणीं लोहजातेः ।
अन्याभिर्योऽस्य बन्धः प्रभवति नियतो वर्षकालान्तरैः स
स्वेदैः संन्यासयोगैरधिकरस भवेदेकसाहस्रवेधात् ॥२०८॥

या लेपादित्यादि । इह **ताम्रपत्रस्य या** लेपमात्रादग्निक्षिप्तस्य **कालिकां सहसा** तत्क्षणाद् **हरति**, **ओषधीं तां** दिव्यां महारसतुल्यां **धन्याः पश्यन्ति भूम्यां सकलरुजहरां** भक्षितां **जारणीं लोहजाते** रसबन्धनाय। **अन्याभि**रोषधी**भिर्योऽस्य** सूतकस्य **बन्धः प्रभवति नियतो वर्षकालान्तरै**रिति द्वादशवर्षैः, **सः स्वेदैः संन्यासयोगैरधिकरसो भवेद्** बन्धः। **एकसाहस्रवेधा**दूर्ध्वं वेधो न भवतीति नियमः ॥ २०८ ॥

सर्वासामोषधीनामतिकटुकरसैः क्षारवर्गाम्लवर्गैः
सन्धानं काञ्जिकेन प्रभवति हि सदा मर्दनस्वेदनार्थम् ।
श्वेतानां तारकार्ये पुनरपि कुसुमैर्वापितैर्बीजशुद्धि-
र्द्वन्द्वं सौभाग्यकाचाखुहयखरविषैः स्नेहसेको मृदुत्वे ॥२०९॥

रम्भाचित्रादिभस्माश्वगजनरजलैः सप्तधा शोधितैश्च
सर्वक्षारान् कटूंश्चापि पुना रूपरसान् शोधितान् भावयेत्तान् ।
भूयो भूयोऽग्नितापैः पुनरपि शतधा भावयेच्छोषयेच्च
एवं शङ्खस्य चूर्णं शतपुटितमिदं गन्धकं भावितं च ॥२१०॥

लोहानां द्रावणार्थं भवति विडमिदं सूतकस्याष्टमांशं
दोलास्वेदोऽष्टरात्रं रसहृदयगतं द्रावयेद् यावदेव ।
क्वाथात् तीव्रो मलश्च प्रभवति बलवान् मर्दितो जारितोऽसौ
एके लोहे द्रुते स्याद्रविशशिवपुषा रञ्जयेत् सर्वलोहान् ॥२११॥

स व्यापी सारितश्च क्रमति समहतैर्नागरङ्गैः ससिक्थैः
एवं यः सूतकस्य प्रतिदिनं कुरुते कर्मभिर्वक्ष्यमाणैः ।
बन्धं कालान्तरेण स्फुटगुरुघनतां सर्वदोषप्रमुक्तं
तस्य व्याधिं समृत्युं हरति वरतनो सर्वदारिद्र्यदुःखम् ॥२१२॥

अस्माद् वृत्तादपरवृत्तचतुष्टयं सुबोधम् ॥ २०९–२१२ ॥

इदानीं रसरक्षणार्थं जम्भलपूजोच्यते—

हस्तार्धे हेमपद्मे वसुदलसहिते कर्णिकागर्भमध्ये
वज्रं शुद्धेन्द्रनीलं सुरयमधनदे पद्मरागेन्द्रकान्तः।
पृष्ठे कर्केतरत्नं शिखिदनुकहरे त्वायसं ताम्रतारं
हेमं वायव्यपत्रे कनकपटलजा कर्णिकायां च पिष्टी ॥२१३॥

हस्तार्ध इत्यादि। इह हस्तार्धे वितस्तिमात्रे हेमपद्मेऽष्टदले कर्णिकायां गर्भमध्ये **वज्रं शुद्धहेम्ना** बन्धयेत्। पूर्वपत्रे इन्द्रनीलम्, दक्षिणपत्रे पद्मरागम्, पश्चिमे **कर्केतरत्नं** पीतम्, उत्तरे **चन्द्रकान्तरत्नम्**। अथ आग्नेय्यां तीक्ष्णं बन्धयेत्, नैर्ऋत्ये ताम्रम्, **वायव्ये स्वर्णम्**, ईशाने रौप्यमिति। हेमाभ्रक**पिष्टी कर्णिकायां** वज्रोपरि स्थापयेत्॥ २१३॥

तस्या मूर्ध्नि द्विहस्तं सनकुलवरदं जम्भलं हेमजं च
गर्भे पत्रेऽष्टदेव्योऽम्बुजवरदकरा हेमजास्तारजा वा।
मौली रत्नेशबुद्धो मणिवरदकरो यक्षिणीनां तथैव
हंहाद्या ह्रस्वदीर्घा दिशिविदिशिदलेष्वष्टवर्णाः क्रमेण ॥२१४॥

तस्याः पिष्ट्या उपरि **द्विभुजं जम्भलं** सुवर्णेन कृतं वामे नकुलहस्तम्, दक्षिणे
वरदहस्तम्, चतुरङ्गुलमुष्णीषमानेन। एवं **पत्रेष्वष्टयक्षिण्यः कमलवरदहस्ता हेमजा-**
T 465 **स्तारजा वा**। इह यदि जम्भलस्तारजस्तदा यक्षिण्यो हेमजाः, यदा जम्भलो हेमज-
स्तदा यक्षिण्यस्तारजाः। एवं यदा स्वर्णकमलं तदा तारकुण्डम्, यदा तारकमलं गर्भे
तदा हेमकुण्डं जलदानाय भवति। **मौलौ रत्नेशबुद्धो मणिवरदकरो यक्षिणीनां**[216b]
तथैव। एवं सप्रज्ञो जम्भलो वसुधारासहितो हलाहलवत्। तयोर्बीजं कर्णिकायां हं [1]हा
जम्भलवसुधारयोः। एवं पूर्वदेव्यां [2]हीं, अग्नौ हीः, दक्षिणे [3]ह्लं, नैर्ऋत्ये [4]ह्लीः, उत्तरे
[5]हु, ईशे हूः, पश्चिमे [6]हॢ वायव्ये [7]हॣ। तारा स्पर्शवज्रा, पाण्डरा रसवज्रा, मामकी
रूपवज्रा, लोचना गन्धवज्रा, वज्रधात्वीश्वरी वसुधारा इति। द्रव्यार्थं सर्वधातवो
महारत्नमुद्रिताः सनायकाः कर्तव्या इति नियमः॥ २१४॥

गन्धैः पुष्पैस्त्रिसन्ध्यं प्रतिदिनसमये पूजयित्वेन्दुकुण्डे
ॐ स्वाहान्ताद्य मध्ये जमिति भल जलेन्द्राय तोयं प्रदेयम्।
मन्त्रेणानेन राजन् प्रमुदितमनसा वादिना रक्षणार्थ-
मेवं रक्षाविधानान्नहि हरति रसं भूतनाथोऽहिनाथः ॥२१५॥

---

१. भों. हाः। २. च. हिं। ३. च. हूं। ४. च. हॣ। ५. च. हुँ। ६. च. ह्लः।
७. च. ह्लॢ।

ततो गन्धैर्धूपैः पुष्पादिभिः पूजयेत् प्रतिदिनं त्रिसन्ध्यायां रौप्यकुण्डे। ततोऽष्टोत्तरशतं चुल्लकेन तोयं देयमनेन मन्त्रेण—ॐ जम्भलजलेन्द्राय स्वाहा इति। प्रमुदितमनसा वादिना रसरक्षणार्थं जलं देयम्। अनेन रक्षाविधानेन न हि हरति रसं भूतनाथोऽहिनाथो नागराजः। एवमन्येऽपि ये रसापहारिणो दैत्या न हरन्ति रसं वज्रधराज्ञया जम्भलरक्षणेनेति ॥ २१५ ॥

इदानीं रसजारणमुच्यते—

इष्टा क्षाराम्लवर्गैर्दशदिवसरसं मर्दयेत् स्वेदयेच्च
कल्कस्थं पातयित्वा पुनरपि च ततः क्षेपयेत् सर्वकालम्।
भूयस्तत्पातकल्के यदि म्रियति रसो जारयेत् सोऽपि तत्र
सूतो भुक्तः स्वयोनिं स च पुनरपरां सर्वयोनिं प्रभुङ्क्ते ॥२१६॥

इष्टेत्यादि। इह प्रथमं इष्टचूर्णं लवणं दत्त्वा बीजपूरकाद्यम्लेन रसं मर्दयेद् दशदिनं यावत् स्वेदयेच्च। ततो मुख्यान्यरसं गृहीत्वा शेषोदकं शोषयित्वा कल्कस्थं रसं पातयित्वा पुनरपि तस्मिन्नेव रसे क्षेपयेत् सर्वकालमिति। मर्दितस्य सूतस्य यत् कल्कं भवति, तत्सकलं पातनीयं रसग्रहणाय। भूय इति पातिते रसे यदि रसो न पतति, तदा तस्मिन्नेव कल्के रसो मृतः संध्मातः ग्राह्यापरलोहेन सार्धं सोऽपि जारयेत्, तत्र शोधितः सूतः स्वयोनिं भुक्तः सन् स पुनरपरां सर्वलोहानां योनिं भुङ्क्त इति ॥२१६॥

इदानीं सर्वलोहसंकरजारणोच्यते—

नागं तीक्ष्णारताम्रं पटलजमपरं क्षेत्रजं वा विशुद्धं
तुल्यं ह्येकत्र ध्मातं सितघनजसमं तारकार्ये च वङ्गम्।
षष्ट्यंशं ग्रासमादौ द्रुतमपि च ततो वर्धयेदेकवृद्ध्या
पादांशं यावदेव प्रभवति हि ततश्चाधिकं न प्रदेयम् ॥२१७॥

नागमित्यादि। इह लोहान्येवं परस्परं जारयन्ति तेन संकरं कारयेत्। नागं तीक्ष्णम्, आरं ताम्रं पटलजमभ्रकलोहं क्षेत्रजं वा नानापाषाणलोहं तीक्ष्णादिस्थाने विशुद्धम्। एतल्लोहपञ्चकं समभागिकमेकत्र ध्मातं संकरलोहं भवति हेमकार्ये। रसायनकार्ये नागं न देयम्, चतुर्लोहसंकरं कुर्यात्। तारकार्ये श्वेताभ्रकलोहं वङ्गं द्वाभ्यां सह तारं जारयेत् तारकार्ये। एवं संकरं कृत्वा रसं संशोध्य नानाजारणीययन्त्रेषु नौकायन्त्रं श्रेष्ठम्, तेन नौकायन्त्रे रसं क्षेपयेत्। ततो रसात् त्रिंशदंशं गृहीत्वा खरलशिलायां संकरपिष्टिं कारयेत्। मूलरसस्य षष्ट्यंशं लोहेन। एवं षष्ट्यंशं ग्रासमादौ दत्त्वा नौकायन्त्रे मृण्मये ततो रसोपरि नेत्रकर्पटं दत्त्वा उपरि पूर्वोक्तं सन्धाय काञ्जिकं दत्त्वा नौकां तुषगोकर्षचूर्णिताग्नौ स्थापयेत्। काञ्जिके शोषिते पुनः काञ्जिकं देयं निरन्तरम्। एवमेकदिनेन द्वाभ्यां वा ग्रासं जरति। ततो जीर्णे सत्यपरं द्विगुणं तेनैव क्रमेण देयम्, पुनर्जीर्णं

ज्ञात्वा कर्पटे गालितस्य यदि पिष्टिर्न कर्पटे दृश्यते तदा जारित उच्यते। एवं ग्रासं वर्धयेद् यावत् पादांशं ग्रासं भक्षयति, तदुपरि न वर्धयेदधिकं न प्रदेयमिति प्रतिषेधः। तदूर्ध्वं पूर्वोक्तं बीजमनेन विधिना ॥ २१७ ॥

पक्षैकेन द्विगुण्यं जरति पुनरसौ बीजमेवं विशुद्ध-
मेवं द्वित्र्यष्टगुण्यं जरति पुनरसौ जारितः सद्विडैश्च।
चक्रस्वेदोऽप्यजीर्णे प्रभवति हि रसस्याष्टरात्रं हि यावत्
स्पर्शैर्दिव्यौषधीभिर्जरति शिखिगतो निर्मुखं ह्यत्र लोहम् ॥२१८॥

पक्षैकेन द्विगुणं जरति पु[217a]नरसौ रसो बीजमेवं विशुद्धम्, एवं बीजं द्वित्र्यष्टगुण्यं जरति पुनरसौ जारितः सद्विडैश्च पूर्वोक्तैरिति। अथाजीर्णं भवति तदाऽजीर्णे चक्रस्वेदः कर्तव्यः, गोस्तनाकारमूषायां रसं कृत्वा भूम्यां निधापयेत्, अङ्गुलत्रयं यावन्न दृश्यते। ततो बाह्ये चक्राकारं खानिं कृत्वा [1]तद् गोकर्षचूर्णैः पूरयित्वाऽग्निर्देयः। तेन चक्रस्वेदेनाष्टदिनैः सविडो रसो मूषायामजीर्णदोषं त्यजति, ततः पुनर्नौकायन्त्रे क्षेपणीयः। एवं वर्षमेकमादिं कृत्वा द्वादशवर्षपर्यन्तं वेधानुवेधीकरणाय जारयेत् सर्वलोहादीनि। अथ पुण्यवशात् स्पर्शैर्मिलन्ति, दिव्यौषध्यश्च द्रावका जारकाश्च, तदा स्पर्शद्रावकचूर्णविडैर्दिव्यौषधीभिः पूर्वोक्ताभिरग्निस्थोऽप्यभ्रकलोहं निर्मुखं जरति, तेनातिबलो रसो भवति ॥ २१८ ॥

अभ्राल्लोहेऽष्टगुण्यं बलमपि च भवेत् तद् द्रुतौ चाष्टगुण्यं
तस्माद् बीजेऽष्टगुण्यं पुनरपि च ततो वज्ररत्नेऽष्टगुण्यम्।
एवं लोहानि रत्नान्युग्ररसकरसाञ् जारयेद् वह्निमध्ये
आवर्तं यावदेति प्रभवति स ततोऽनेकलक्षप्रवेधी ॥२१९॥

अभ्रकादभ्रकलोहे जीर्णेऽष्टगुण्यं बलं भवति। तस्य द्रुतौ ग्रस्ते सति तस्याप्यष्टगुण्यं बलम्, तस्माद् द्रुतेरष्टगुण्यं बीजे जीर्णे भवति। तस्याष्टगुण्यं पुनरपि बलं वज्ररत्ने च जीर्णे इन्द्रनीलादिके, इति बलनियमः। एवं लोहादीन्यग्निमध्ये जारयेद् यावदावर्तमेति प्रभवति स ततोऽनेकलक्षप्रवेधी। तस्य [2]मारणाद्यं न कर्तव्यम् ॥ २१९ ॥

स्पर्शौषध्योरभावे जरति वरविडैर्मर्दनैः स्वेदनैश्च
निष्कम्पो यावदेव प्रभवति हि ततः सारणा हेमतुल्या।
भूयोऽन्या द्वित्रिगुण्या द्रुतकनकरसैः क्षेपितैस्तैलसूते
द्रव्यार्थेऽष्टाङ्गनागं द्रुतकनकरसे क्षेपणीयं प्रयत्नात् ॥२२०॥

---

१. भो. 'तद्' नास्ति। २. भो. sGyur Bar Byed (परिवर्तनं)।

स्पर्शौषध्योरभावे जरति वरविडैः पूर्वोक्तैः, मर्दनैः स्वेदनैश्च निष्कम्पो यावदेव प्रभवति हि ततः सारणा हेमतुल्येति। इह जारितो रसो ज्वलदङ्गारे दत्तो यदि न कम्पं कृत्वा गच्छति, तदा निष्कम्पो यः स गोस्तनाकारमूषायां प्रक्षिप्य एरण्डतैलमुपरि दापयेद् यावद्रसो निमज्जति। ततो हेमरसतुल्यं द्रावयित्वा द्रव्यार्थेऽष्टांशं नागं दत्त्वा रसोपरि क्षिपेत्, तेन सारितो भवति। पुनरप्यनेनैव क्रमेण द्विगुणस्वर्णेन प्रतिसारितो भवति, त्रिगुणेनानुसारितो भवति। एवं त्रिधा सारितो वेधीभवति लोहबलानुरूपेण सहस्रपर्यन्तमिति। ततस्ताम्रं द्रावयित्वा रसं चूर्णयित्वा सिक्थकेन संवेष्ट्य मृतनागवङ्गाभ्यां सह तत्र क्षिपेत्, तेन क्रामति वेधी च भवति, तारे वा हेम्नि वेति जारणानियमः॥ २२०॥

इदानीं संन्यासबन्ध उच्यते—

हेमं तीक्ष्णाहि ताम्रं फणिदरदशिलागन्धकैर्मारयित्वा
रङ्गेन्दुं तालताप्यैर्घनजमपि तथा हेमतारस्य कार्ये।
तुल्यं क्षारा विषं(डं) वै लवणमुपरसा लोहतुल्यश्च सूतः
पित्ताम्लैर्मर्दयित्वा दशदिनमपि तत् क्षेप्य पाषाणमध्ये॥२२१॥

षण्मासं भूमिगर्भे ह्युपरि सशिखिना स्वेदितः सर्वकालं
घोषाकृष्टस्य वेधी प्रभवति स रसः षोडशांशेन भूयः।
ताम्रेन्दुं हेमतुल्यं शुभकनकमिदं वादिनां दुःखनाशं
शुद्धं ताम्रं हि विद्धं रजतमपि भवेद् दत्ततारेऽष्टमांशैः॥२२२॥

हेममित्यादि। इह हेमं नागेन मारयेत् प्रतिवापेन तीक्ष्णं दरदेन पुटयोगेन, अहिर्नागं मनःशिलायां मारयेत्। ताम्रं गन्धकेन मारयेद् हेमकार्ये। तारकार्ये श्वेतमाक्षिकेन T 466 तारं मारयेत्, तालकेन वङ्गं मारयेत्, घनजमपि श्वेताभ्रकलोहं माक्षिकेन मारयेत्। ततोऽमृतलोहतुल्यानि चत्वारि क्षाराणि, एषां समग्राणामभावे त्रयो द्वौ वा विडं च तुल्यम्, लवणानि तुल्यानि, उपरसान् शत्रुधर्मिणः, लोहतुल्यः सूतकः, सर्वमेकीकृत्य पित्तैर्मत्स्यादीनामम्लैर्बीजपूरकादीनां दशदिनं मर्दयित्वा तत्सर्वपाषाणखण्डान् संपुटे प्रक्षिप्य ततो भूम्यां निधाप्य उपरि अग्निना स्वेदितः सर्वकालं षण्मासं यावदिति। ततो बद्धो भवति। ततः षण्मासात् [217b] तस्य ताम्रस्य वेधो भवति। षोडशांशेन पुनस्तदेव विद्धं ताम्रं रौप्यं हेमतुल्यभागं कृत्वा पुटेनोद्घाटयेत्। शुभकनकमिदं भवति वादिनां दुःखनाशमिति। अथ तारादिसंन्यासेन बन्धः, तदा शुद्धं ताम्रं विद्धं तारं भवति, अष्टांशेन तारे दत्ते सतीति संन्यासबन्धनियमः।

अथादिबुद्धोक्तो गोलकबन्ध उच्यते—इह हेमकार्ये पीताभ्रकादिकमभ्रकं किञ्चिज्जारयेत्, [1]सकलं वा अर्धं वा। तारकार्ये श्वेताभ्रकम्। ततो हेमकार्ये नागेन पिष्टं

१. भो. mÑam Pa (समं)।

कारयेत्, तारे वङ्गेन। ततो हेमपत्रेण तं वेष्टयेत्। तारपत्रेण तारकार्ये। तथा हेमपत्रोपरि मनःशिलां पिष्ट्वा गोमूत्रेण तया प्रलेपो देयः। ततो बाह्ये दरदेन। ततः कुम्भकारमृत्तिकया वेष्टयेत्, ततः शुष्के पुनर्गोमयेन वेष्टयेत्, पुनस्तीव्रातपेन शुष्कं कृत्वा गोकर्षाग्निना मृदुपुटं देयम्। ततो भस्मनोऽपकृत्य मृद्गोलकं कोष्ठिकायां तीव्राङ्गारैर्धमेत्, यावन्महारसोपरसहेमनागपिष्टीः समरसीभवन्ति। ततः शीतीभूतं गोलकं भेदयित्वा मध्ये यत्सुवर्णेन सह पिष्टिकया यद्योगेन गोलकबन्धः, तदेव ताम्रे चतुष्षष्ट्यंशेन क्षिप्तं पूर्ववद् हेम तारं वा भवतीति गोलकबन्धो **मूलतन्त्रे** ॥ २२१-२२२ ॥

इदानीं क्षेत्रलोहैर्बन्ध उच्यते—

पाषाणा ये धरण्यां फलतनुसदृशाः शङ्खमुण्डादिरूपा-
स्तद्योनिं तेषु दत्त्वा घृतमधुसहिता धामयेत् तीव्रवातैः।
शुद्धिं कृत्वा निषेकैः पुनरपि च पुनष्टङ्कणक्षारवर्गै-
र्ज्ञात्वा तल्लोहयोनिं द्विगुणमपि रसे वादिना जारणीयम् ॥२२३॥

पाषाणेत्यादि। इह **पृथिव्यां ये पाषाणा** नानाजीवाकारा नानाफलाद्याकाराः, **तदेव योनिस्तेषां दत्त्वा** जीवानां जीवमांसं फलानां फलचूर्णं शङ्खाकारादीनां शङ्खादिचूर्णं दत्त्वा तेषां चूर्णं तेन चूर्णेन सार्धं **घृतमधुटङ्कण**सहितवटकान् कृत्वा लोहपातनवस्त्रेण **तीव्रं धामयेत्,** यावल्लोहं पतति। पुनर्निषेकोद्धृते पुनष्टङ्कणं दत्त्वा शोधयेद् यावद्विशुद्धं भवति। एवं **शुद्धिं कृत्वा तद्योनिं ज्ञात्वा** तीक्ष्णं ताम्रं वा हेमेन सह द्वन्द्वं कृत्वा तदेव **वादिना द्विगुणं जारणीयम्।**

पूर्वमभ्रकं जारयित्वा संमुखं वा निर्मुखं वा, ततोऽन्यानि लोहादीनि जारणीयानि। एवं माक्षिकं ताम्रं स्वर्णं जारयेत्, तुत्थकं ताम्रं स्वर्णं वा, राजावर्तकताम्रं स्वर्णं वा, शशकताम्रं स्वर्णं वा। इह यथा क्षेत्रपाषाणानां लोहं पातयेत्, तथा माक्षिकादीनां विमलादीनां शोधयेत्। ततः पूर्वकर्मकराणि भवन्ति, अन्यथा द्रव्यं विनाशयन्ति।

अथादौ वादिनां जीवनोपायः कथ्यते, येन भुक्तमात्रमक्लेशेन [जीर्णं] भवति। इह जारितरसेन पत्रलेपेन हेमर्द्धिका भवति, असारितेन कुमारेण बालेन वा। अत्र पुनस्त्रिभागिकादलैकं हेमद्वयेनोच्यते। अत्र प्रथमं ताम्रं लवणकाञ्जिकेन पत्रं कृत्वा निषेकयेद् यावच्चूर्णं भवति। ततस्तोयं दत्त्वा लवणदोषमपहृत्य ततः शोषयेत्। ततः सैन्धवं षोडशांशेन दत्त्वा बीजपूरकाद्यम्लेन मर्दयित्वा पुटे पाचयेत्। एवं पुनः पुनः सैन्धवं दत्त्वा पुटे पाचयेत् सप्ताष्टवारम्; [218a] यावद् इष्टकाधूलिसदृशं किञ्चित् श्यामं भवति। ततो मधुघृतटङ्कणेन वटिकां कृत्वा पूर्ववल्लोहं पातयेत्। ततो मलरहितमर्धमात्रं लभेत। पुनस्तदेव पत्रं कृत्वा गन्धकेन पादांशं दरदं दत्त्वा पुटैर्मारयेत्। तच्चूर्णं पुना रसेनाष्टांशेन सह रसद्विगुणं गन्धकं रसार्धेन दरदं दत्त्वा मर्दयेदम्लेन, पुनः स्वेदयेत्। खर्परे पुनर्मर्दयेत् सप्ताहम्। तदेव संकीर्णमुखवृत्तभाण्डे कुम्भकारघटिते प्रक्षिपेत्। ततो

भाण्डमुखं कुम्भकारमृत्तिकया मुद्रयेत्। भाण्डस्यापि बाह्यलेपो देयोऽङ्गुलैकोच्छ्रितो नालिकेरप्रमाणः, विस्तारेऽधिको न देयः। तत आतपे शोषयेत्। पुनरुपरि गोमयेन लेपयेत्, पुनः शोषयेद् यावद् गोमयं शुष्कं भवति। ततः पुटेन पाचयेत्। एवं ताम्रचूर्णमालिङ्ग्य रसो म्रियते, ताम्रं च निर्दोषं भवति, परस्परयोगादिति। ततस्तारस्य पादांशं स्वर्णं दत्त्वा स्वर्णद्विगुणं ताम्रं दत्त्वाऽभ्रमूषायां धमेद्यावत् सर्वं समरसं भवति। ततः शीतीभूते कपालिकामपहृत्य पुनः पादांशं स्वर्णं दत्त्वा स्वर्णद्विगुणं ताम्रं पूर्ववद्धामयेत्, ततः शीतीभूते कपालिकामपहृत्य हेमार्धेन हेमं भवति पुटद्वयेन विशुद्धमिति।

अथापरः प्रयोग उच्यते—एतच्चूर्णं हेम्नि द्विगुणं वा त्रिगुणं वा निर्वाहयेत्। तेन पादांशेन रसे पिष्टिकां कृत्वा इष्टकगर्भायां प्रक्षिप्य उपरि गन्धकचूर्णं दत्त्वा, तदुपरि पिधानं दत्त्वा, तदुपर्यङ्गारान् धमेत् क्षणमात्रम्। ततः शीतीभूते पुनः पुनः पिष्टिसु(?) तुल्यं गन्धकं दत्त्वा निर्दहेदष्टवारान्। ततो रसो हेमालिङ्गयति, न मुञ्चति। ततस्तारस्य पादांशं बीजं दत्त्वा तदेव ताम्रं तारसमं दत्त्वाऽभ्रमूषायां धमेत्। ततः शीतीभूते कपालिकामपहृत्य तद्दलं पत्रं कारयेत्। तया पिष्ट्या पत्रलेपं कारयेत्। ताम्बूलपत्ररसेन क्रामणार्थमुपरि लेपयेत्। ततश्चुल्लितले निधापयेत्। अङ्गुलोपरि मृत्तिकां दत्त्वा, उपरि वह्निना गृहपाकादिकं कर्तव्यं दिनत्रयं यावत्। तत उद्धृत्य पुनः पादांशं बीजं दत्त्वा उद्धरेत्। तत्पत्रं तदा दलं भवति, सार्धकेन विशिष्टं स्वर्णं भवतीत्यादिबुद्धभगवतोक्तम्, अपरं विस्तरं न लिखितम् ॥ २२३ ॥ T 467

इदानीं शरीरार्थिनां रसायनमुच्यते—

सप्ताहं कोष्ठशुद्धिस्त्रिफलसमरसं क्वाथितेनोदकेन
औषध्या मारितैर्वै घृतमधुसहितैर्लोहचूर्णैः ससूतैः।
गोदुग्धैः शालिभक्तैर्भवति नवचिरैः पक्षमध्ये नराणां
भुक्तैः शाकाम्लहीनैर्लवणविरहितैर्मत्स्यतैलाग्निमुक्तैः ॥२२४॥

सप्ताहमित्यादि। इह यः कश्चिद् बद्धरसं भक्षयति, तदा तेन प्रथमं **कोष्ठशुद्धिः** कर्तव्या। सा च **त्रिफलासमभागक्वथितेनोदकेन** विरेचनं कर्तव्यम्। लवणाम्लरहितं शालिभक्तं दुग्धेन पथ्यं कर्तव्यम्। तत **औषध्या मारितैर्लोहचूर्णै**रिति निर्गुण्ड्या मारितैस्तीक्ष्णचूर्णैः, **घृतमधुसहितैः ससूतैः** सुमृतसूतकतुल्यैः, तदेवाक्षमात्रं प्रतिदिनं भक्षणीयं पथ्यं **गोदुग्धैर्नवचिरै**रिति प्रथमगोप्रसूतैः, **भुक्तैः** पुरातनैश्चिरैरिति। एवं **पक्षमध्ये** कोष्ठशुद्धिर्भवति, **शाल्यादिभिर्भक्तैः शाकाम्लहीनैर्लवणविरहितैर्मत्स्यतैलाग्निमुक्तैः**। ततो रसं भक्षयेत् ॥ २२४ ॥

ज्ञात्वा साहस्रवेधी शतगुणितशतं कोटिवेधी च यावद्
भोक्तव्यः सर्षपांशात् प्रतिदिनसमये चान्तिमो राजिकांशः।

प्रासादं भूमिवेश्म प्रभवति रहितं शीतवातातपैश्च
षण्मासैर्दिव्यदेहं वलिपलितगतं मध्यमोऽयं करोति ।।२२५।।

*[218b]ज्ञात्वा साहस्रवेधी शतगुणितशतमिति लक्षवेधी, कोटिवेधी च यावद् भोक्तव्य इति। सहस्रवेधी प्रतिदिनं यवमात्रं भोक्तव्यः। लक्षवेधी सर्षपमात्रम्, कोटिवेधी राजिकामात्रम्। एवं चान्तिमो राजिकांशः। इह रसभक्षणाय प्रासादं धरण्यन्तःप्रासादं वा शीतवातातपैश्च रहितं ज्ञेयम्। एवं मध्यमो रसः सहस्रवेधी षण्मासैर्दिव्यदेहं वलिपलितरहितं करोति। अन्यत् प्रतिदिनमेकेन गृह्यमाणेन सिद्धरसः करोति ॥ २२५ ॥

इदानीं रसाजीर्णभैषज्यमुच्यते—

कर्कोटी देवदाली त्रिकटुकबृहती निम्बकिराततिक्तं
क्वाथं पानं ह्यजीर्णे त्रिदिनमपि पुनर्लङ्घनं च प्रकुर्यात् ।
एवं चन्द्रोदकाद्ये शिखिनि विषजले शैलभल्लाततोये
दुर्गन्धाभूमिशैलेऽपि च विषपललेष्वन्यकल्पेषु मन्त्री ।।२२६।।

कर्कोटीत्यादि। इह यदा रसाजीर्णं भवति, तदा बन्धकर्कोटी देवदाली त्रिकटुकबृहती निम्बपत्रं किराततिक्तम्, एभिरष्टावशेषं तोयं क्वाथं क्वथनमित्युच्यते। तदेव पानं ह्यजीर्णे। दिनत्रयं लङ्घनं यावदत्यन्तक्षुधा भवति। ततः पथ्यं कर्तव्यम्। एवं चन्द्रोदके पीते त्रिदिनलङ्घनम्, ततः पथ्यम्। अग्न्युदके तेनैव प्रतिदिनं स्नानम्, तेनैव भुक्तं गदितम्। तदेव पानं षण्मासं वर्षमेकं यावद् दुग्धभक्तं भोक्तव्यम्। विषजलेऽप्येवं पथ्यम्, शैलोदकेऽपि, भल्लाततोयेऽपि। एषामक्षमात्रं पानं कर्तव्यम्। अधिकं मृत्युकारीति। एवं दुर्गन्धाभक्षणे, भूमिशैलभक्षणे विषपललेषु मांसे, अपरच्छल्लपल्लवादिककल्पेष्वयं विधिः पथ्यादिकः ।। २२६ ।।

इदानीं रसायनौषधीनां लक्षणमुच्यते—

या भुक्ता तीव्रमूर्च्छां ददति विषसमामौषधीं तां समस्तां
कृत्वा चूर्णं तदल्पं घृतमधुसहितं भक्षयेत् तद्वदेव ।
सत्त्वा यां भक्षयन्ति स्फुटनरपशवः सौषधी सिद्धिदा न
तेषां या मृत्युदात्री परमभयकरा योगिनां साऽमृतं स्यात् ।।२२७।।

* मातृकाया 218b पत्रस्यात्यन्तमस्पष्टत्वात् यत्र तत्र भोटपाठसाहाय्येन पुनरुद्ध्रियते ।

या भुक्तेत्यादि। इह छल्लपल्लवादीनां लतादीनां **या भुक्ता सा तीव्रमूर्च्छां ददाति** विषतुल्यम्, तस्या औषध्याः पञ्चाङ्गं गृहीत्वा सूक्ष्म**चूर्णं** कारयेत्। तदेव चूर्णमल्पमात्रं प्रत्यहं **घृतमधुना सहितं भक्षयेत्, तद्वदेवेति** शेषः पूर्वविधिः। इह **सत्त्वा यां भक्षयन्ति** मूर्च्छां न ददाति, सा औषधी सिद्धिदा न, **तेषां** सत्त्वानाम्। **या मृत्युदात्री परमभयकरा योगिनां** सिद्धिदा सा, मन्त्रध्यानबलेनेति ॥ २२७॥

इदानीमपररसायनमुच्यते—

तुल्यं दण्डोत्पलस्य स्वतनुदलरसैः शालिपर्ण्यब्जसार्योः
कान्ते पात्रेऽयसा च त्रिदिनमपि रसं गन्धकं मर्दयित्वा।
षण्मासं भक्षयेद् यः प्रतिदिनसमये टङ्कपादप्रमाणं
मुक्तः कुष्ठादिरोगैर्वलिपलितगतो द्व्यष्टवर्षाकृतिः सः ॥२२८॥

तुल्यमित्यादि। इह **तुल्यं गन्धकं दण्डोत्पलस्य रसं च शालिपर्णीरसेन, उत्पलसारीरसेन** वा, **अयस्कान्तपात्रे अयोगुडिकया** मर्दयेत् **त्रिदिनम्**। एवं **मर्दयित्वा प्रतिदिनं भक्षयेत्। टङ्कपादप्रमाणमि**ति माषमेकं भक्षयेत्। स **मुक्तः कुष्ठादिरोगैर्वलिपलितरहितः, षोडशः** षोडशवार्षिकोऽत्र भवतीति ॥ २२८ ॥

इदानीं रसमारणे सिद्धौषध्युच्यते—

वोक्काणाकाशशक्तुः प्रचलमपि रसं मारयेत् कीरचञ्चु
अन्यौषध्या मृतस्यारुणमपि फलजं हेम कान्तं च तुल्यम्।
एकीकृत्वा सजीवे मलविगतरसे गोलकः षट्पलैश्च
पूर्वोक्तात् कान्तपात्राद् वलिपलितहरः क्वाथितो मस्तकेन ॥२२९॥

वोक्काणेत्यादि। इह यः संकोचं मारणं च इच्छति रसस्य, तेनेमा औषध्यो गवेषणीयाः—**वोक्काण** इति। हिङ्गु, येन नीलसूत्रे लिप्ते श्वेतं भवति। तेन मूषायां लिप्ते रसो म्रियते। **आकाश** इत्यम्बरः, भेरुण्डविष्ठा, स च द्विधा—छत्राम्बरः शिखाम्बरश्च। अग्निमध्ये क्षिप्तस्य मूर्ध्नि प्रसारितवस्त्रं यदि शिखाकारेण वस्त्रं भेदयित्वा धूमो निश्चरति, स उत्तमः। न(यः) छत्राकारेण धूमस्थो वसति स मध्यमः, तेनापि संकोचबन्धः। एवं **शाक्तुकविषम्**। एवं **कीरचञ्चु** इति शुकतुण्डकं[1] रक्तस्रावी, लोके रक्तनिष्कर्षकत्वेन प्रसिद्धम्।

---

१. हिङ्गुलस्यैकं भेदान्तरम्।

*[219a] एवं कंपद्मवान्(?)यस्योपरि पादं स्थापयेत्, दिवाऽऽकाशे नक्षत्राणि पश्येत्। एतानि न चेत्, अन्यौषध्या व्याजेन मारितरसस्य, अरुणं ताम्रम्, फलजम् इत्यभ्रकलोहम्, हेम अयस्कान्तलोहं च तुल्यं कृत्वा जारयेत्। चतुष्पले रसे तदर्धेन द्विपलेन युक्तः षट्पलः कार्यः। शेषोऽध्यात्मपटलोक्तविधिः ॥ २२९ ॥

इदानीं सहस्रवेध्यादिरसानां स्वभाव उच्यते—

षण्मासैर्द्व्येकमासैः सनृपदशदिनैः सप्तरात्रत्रिरात्रै
रात्रेणैकक्षणेन प्रभवति च तनौ सिद्धिरस्य प्रभावात्।
सामान्या मध्यमा च प्रलयविरहिता चोत्तमा ज्ञानसिद्धिः
पुंसां हीनोत्तमानां स्वकृतशुभवशान्नैकजन्मानुवेधात् ॥२३०॥

षण्मासैरित्यादि। इह पूर्वोक्तविधिना भक्षितश्चेत् सहस्रवेधी षण्मासैः कायं परमं करोति। ततः षण्मासैरस्य प्रभावात् तनौ सिद्धिर्भवति। मासद्वयेन दशसहस्रवेधिप्रभावात्, एकमासेन लक्षवेधिप्रभावात्, [सनृपदशदिनैः] षोडशदिनैश्चतुस्त्रिंशल्लक्षवेधिप्रभावात्, सप्तदिनैः षष्टिलक्षवेधिप्रभावात्, त्रिदिनैरशीतिलक्षवेधिप्रभावात्, एकदिनेन कोटिवेधिप्रभावात्, एकक्षणेनेति झटिति सिद्धिः। इयं रसादिसिद्धिः सामान्या खड्गादिसिद्धिर्विद्याधरसिद्धिश्च। कर्ममुद्रासिद्धिर्ज्ञानमुद्रासिद्धिश्च मध्यमा। एतयोरुत्तमा स्वपरहिता परमज्ञानसिद्धिः प्रज्ञाबिम्बभावनया। साऽपि येन या सिद्धिर्भवति पुंसां स्वकृतशुभवशात् तत्र वासना भवति नैकजन्मानुवेधात् ॥ २३० ॥

इदानीं द्रव्यार्थिनां निधिपरीक्षोच्यते—

खड्गान्नृस्नेहदीपः प्रकटयति निधिं पद्मसूत्रस्य वर्त्या
वल्लीवृक्षान्यभावः प्रतिदिनसमये यत्र तिर्यग्विरोधः।
तस्मिन् भूताधिपस्य प्रतिदिनसमये मन्त्रजापं प्रकुर्याद्
यावत् खन्ये निमित्तं प्रभवति हि ततो मन्त्रिणां द्रव्यसिद्धिः ॥२३१॥

खड्गादित्यादिना। इह भूम्यां या वल्लयो वृक्षाश्च अन्यभावा आभासन्ते, तत्र द्रव्यं भवति। अपरं च यत्र सदा तिर्यग्विरोध आभासते स्वस्थानार्थं कलहः, तत्र द्रव्यं विद्यते, तत्र सुलोहखड्गस्योर्ध्वं छुरिकोर्ध्वं वा रक्तपद्मसूत्रस्य वर्ति कृत्वा नृस्नेहेन दीपयित्वा भूताधिपतिमन्त्रसाधनपटलोक्तेनाभिमन्त्र्य भूमिं पश्येत्। यद्यग्निजिह्वा अधः पतेत् तदा द्रव्यमस्ति, यदि न पतति तदा नास्ति। एवं यदि पतेत् तदा तस्मिन् स्थाने त्रिसन्ध्यं भूताधिपतिमन्त्रजापं कुर्यादाभासं यावत्। ततो मन्त्रिणां खन्यसिद्धिः।
T 468 अन्यथा क्लेशो भवति। असुरै रक्षितं द्रव्यं केनाऽप्युद्धर्तुं न शक्यते ॥ २३१ ॥

---

* इतः परं मातृकायाः २१९ पत्रस्याभावात् २३७ श्लोकटीकायां 'शक्तित्रयं वा कुल तरु' इति यावत् पाठो भोटपाठादुद्धृत्य संस्कृते उट्टङ्क्यते।

आदौ षड्योनिमन्त्रा जिनपतिकुलिशाधिष्ठिताः साधनीया
यक्षिण्यः साधयित्वा पुनरवनितले क्षेत्रवादाश्च साध्याः ।
नागिन्यः साधयित्वा त्वमृतफलरसा ओषधीः साधनीया
डाकिन्यः साधयित्वा परमभयकराश्चासुराः साधनीयाः ॥२३२॥

नागाद्यान् साधयित्वा प्रवरसुरनरा योगिना साधनीया
धूमाद्यान् साधयित्वा मरणभयकरा मध्यमा साधनीयाः ।
प्राणाद्यान् साधयित्वा द्रवितशशधराद्विन्दवः साधनीयाः
सत्सौख्यं साधयित्वा सहजजिनतनुः सर्वगा साधनीया ॥२३३॥

सत्त्वानां मृत्युदं यत् तदमृतमखिलाधिष्ठितं सिद्धमन्त्रै-
र्या गम्या सिद्धिरिष्टा त्रिभुवननिलये ध्यानगम्या च सा तु ।
यज्ज्ञानं दुर्लभं वै सुलभमपि सुखाधिष्ठितं वज्रपद्मे
एवं ह्येवं स वज्री ददतु समसुखं प्राणिनां सर्वकालम् ॥२३४॥

अतो वृत्ताद् वृत्तत्रयं सुबोधम् ॥ २३२-२३४ ॥

इदानीं **कुलागमोक्तः** कुलभेद उच्यते—

राह्वग्नी चन्द्रसूर्यौ क्षितिजलहुतभुग् वायुशून्यं चतुष्कं
भुक्तं यत् पञ्चकं वै ग्रहगण इतरः षट्कमस्माच्चतुष्कम् ।
मेरोर्द्वीपानि दिक्षु प्रभवति विषयाः पञ्चकं बाह्य उक्तं
सत्त्वादीनां गुणानां त्रिकमपरमिदं देहमध्ये तथैव ॥२३५॥

राह्वित्यादिना । इह **कुलागमः**—पश्चिमगृहात् चतुष्कं पञ्चकं षट्कं चतुष्कं पञ्चकं त्रिकमिति **बाह्ये** देहे च विशोध्य ततो देवानां पूजा इति । अथ बाह्ये **राहुः** **कालाग्निश्चन्द्रः सूर्यश्च** । एषां योगश्**चतुष्कम्**, चतुष्पीठमित्यर्थः । ततो लोकधातु-पूरणार्थं **पञ्चकं क्षित्यादि** रसपर्यन्तम् । ततो **ग्रहगण इतर** इति **चतुष्कं** वर्जयित्वा भौमः, बुधः, बृहस्पतिः, शुक्रः, शनैश्चरः, केतुश्चेति । एषां गणः **षट्कम्** । ततो **मेरो**-श्चतसृषु **दिक्षु** चत्वारि **द्वीपानि** चतुष्कम् । गन्धादिपञ्च**विषयाः पञ्चकम्** । सत्त्वादयः त्रयो गुणास्त्रिकम् । एवं यथा बाह्ये **सत्त्वादयो गुणास्त्रिकं** पीठादि, **तथा देहमध्येऽपि** वेदितव्यम् ॥ २३५ ॥

विज्ञानानन्दरक्तामृतमिति कमलादौ चतुष्कं च पञ्च
तस्मादस्थ्यादिकं यत् सकलमपि ततश्चक्षुराद्यं हि षट्कम् ।

हस्तौ पादौ चतुष्कं करचरणगतं पञ्चकं चाङ्गुलीनां
तासां सर्वत्रिकं यत् क्रम इह सकलो वेदितव्यः कुलेऽस्मिन् ॥२३६॥

इह कायोत्पत्त्यर्थं मातृपद्मे आलयविज्ञानमिति राहुः, आनन्दः कालाग्निः, **रक्तमित्यग्निरजः** सूर्यः, अमृतमिति शुक्रं चन्द्रः, एते आदौ कायकुलोत्पत्तिहेतुचतुष्कम् । चतुष्कात्तस्माद् अस्थ्यादि पञ्चकम् । अस्थि पृथिवी, पित्तं जलम्, रक्तं तेजः, मांसचर्म वायुः, मज्जाऽऽकाशम्, सकलमपि पञ्चकम् । ततश्चक्षुराद्यं हि षट्कमिति । [चक्षुः] भौमः, श्रोत्रं बुधः, जिह्वा बृहस्पतिः, नासा शुक्रः, कर्मेन्द्रियं शनैश्चरः, मनइन्द्रियं केतुरिति षट्कम् । तथैव **हस्तौ पादौ चतुष्कमिति** वामहस्तः पूर्वद्वीपम्, दक्षिणहस्तो दक्षिणद्वीपम्, दक्षिणपादः पश्चिमद्वीपम्, वामपाद उत्तरद्वीपमिति चतुष्कम् । **करचरणगतं पञ्चकं चाङ्गुलीनामिति** । अत्राङ्गुष्ठः गन्धः, तर्जनी रसः, मध्यमा रूपम्, अनामिका स्पर्शः, कनिष्ठिका शब्दः पृथिव्यादिगुणद्वारेण । **तासां** पञ्चाङ्गुलीनां **पर्वत्रिकं** त्रिकमुच्यते—प्रथमं पर्व सत्त्वगुणः, मध्यमं पर्व रजोगुणः, अन्तिमं पर्व तमोगुणः । तमोऽन्ते नखपर्व प्रधानम्, **क्रम इह सकलो वेदितव्यः कुलेऽस्मिन्** इति युज्यते ॥ २३६ ॥

इदानीं पीठादीनां भेद उच्यते—

भूभृत् तत्त्वप्रभेदा रसगुणितरसा भानवो विंशतीति
भेदाः षष्टिर्नराणां सकलतनुगता रन्ध्रषट्चन्द्रसंख्याः ।
सर्वे ते पिण्डिताः स्युस्त्रिगुणनवचतुःपञ्चशः प्राणचाराः
सञ्चारो यो ग्रहाणां स च पुनरितरैर्योगिनीचार उक्तः ॥२३७॥

भूभृदित्यादि । इह चतुष्पादवशाच्चत्वारो भेदाः । एवं पीठभेदाः । **भूभृद्** इति षोडश । **तत्त्वप्रभेदाः** पञ्चविंशतिः समुदयतः, यत्र एकोऽस्ति तत्र पञ्च । **रसगुणितरसा** इति षड् गुणिताः षट् षट्त्रिंशद् भवन्ति, षट्चरणवशाद् भौमादीनां भेदाः, चतुर्थे **भानवो** द्वादशभेदाः, हस्तपादसन्धिभेदा द्वादश, बाह्ये चन्द्रो द्वादशराशिभेदात् । पञ्चमे **विंशतिरित्य**ङ्गुलीसंख्याः । तथैवाङ्गुलिपर्वणां **षष्टिः भेदाः** । एते भेदा **नराणां** देवानां च **सकलतनुगता** न विमलतनुगता इत्यर्थः । सर्वे ते पिण्डिता **रन्ध्रषट्चन्द्रसंख्या** इत्येकोनसप्तत्युत्तरशतं भवन्ति । **सर्वे ते पिण्डिता** इति, तैः पिण्डितैः **स्युस्त्रिगुणनव** इति सप्तविंशतिः । पुनरपि शिवशक्त्योर्भेदा आधाराधेयधर्मेण **चतुःपञ्चाशदिति** वेदितव्यम् । अस्मिन् कुले **यो** प्राणनाड्यां **सञ्चारो ग्रहाणां** नक्षत्रसञ्चारः, एषां यः सञ्चारः **स च इतरैर्बा**ह्यवचनरतैः, **योगिनीसंचार उक्तः** । तथोक्तं **मूलसूत्रे**—

[1]या शक्तिः सा भगेति त्रिविधगतियुता त्र्यक्षरा त्रिस्वभावा
तत्र श्रीओड्डियानो वरकलसहितो मध्यसंस्थोऽतिदीप्तः।
तत्सव्ये कोण एव प्रकटितनिलये पीठजालन्धरश्री-
र्वामे श्रीपूर्णपीठं पशुजनभयदं कामरूपं तदग्रे॥
[2]एवं संव्यापि पीठं भयकरजननी व्यापिनी रुद्रशक्ति-
स्तन्मध्ये लिङ्गमेवं परमसुखकरं बिन्दुरन्तःस्थनादम्।
नित्यानन्दातिशान्तं भवति [च] विचितं मन्थनैः षड्विधैस्तां
धत्ते यैतान् त्रिकामान् वरतनुचपलां कुब्जिकाख्यां नमामि॥

इति युज्यते सर्वसत्त्वानां सहजवाहिनी [शक्तिः] भग इति। इति [भग]स्वरूपम्। अथ कुलसूत्रदेहनिष्पत्तिकारणम्, तद्यथा—

[3]कूकारः कामरूपे पुलिगतपुलिका जालपीठेऽग्निजिह्वा
ओड्रः श्रीमध्यपीठे त्रिविधपथगता देवभृङ्गाष्टकाराः।
पञ्च स्युः सिद्धयोऽपि डरलकसहिता पञ्च देव्यश्चतस्र-
स्तस्मात् शक्तित्रयं वा कुलतरु[220a]जननीं कुब्जिकाख्यां नमामि॥

---

1. Gaṅ Sig Nus Ma Bhaga S̄es Bya De Ni rNam gSum bGrod lDan Yi Ge gSum Daṅ Raṅ bS̄in gSum.
De La dPal lDan Oḍiyāna mChog Gi Cha Daṅ bCas Pa dBus Su gNas Śiṅ Śin Tu ḥBar.
De yi gYas Zur N̄id Du Rab Tu gSal Byas gNas La dPal lDan Jalīdhara S̄es Bya sTe.
gYon Du dPal lDan Gaṅ Baḥi gNas Te Phyugs Kyi sKye Bo ḥJigs Byed Kāmarūpa De Yi rTser.

2 De lTar Kun Nas Khyab Byed gNas Daṅ ḥJigs Daṅ sKyed Ma Khyab Byed Ma Ni Drag Poḥi Nus Ma sTe.
De Yi dBus Na rTags Ni mChog Gi bDe Byed Thig Le Nāda Khoṅ Na gNas Śin rTag Tu dGaḥ.
Śin Tu S̄i Ba Yod De De Yi sTeṅ Na Srub Ma rNam Pa Drug Gis rNam Par Phye Baḥo.
ḥDod Pa gSum Po ḥDi rNams Byed Ciṅ mChog Gi Lus bsKyod Kubjikā S̄es Pa La Phyag ḥTshal.

3, Kāmarūpar Kū Yig Pu Li La gNas Pu Li Ka rNams Jālaḥi gNas Su Me lCe N̄id,
dPal lDan dBus Kyi gNas Su Oḍḍā rNam Pa gSum Gyi Lam bGrod Lha Yi Rwa Co Ṭa Yig rNams.
De Yi Grub Pa rNam Kyaṅ lṄa sTe Ḍa Ra La Ka Daṅ bCas De rNams Lha Mo bS̄i Daṅ lṄa.
De Phyir Nus Ma gSum Mam Rigs Kyi lJon Śiṅ sKyed Ma sGur ḥKhyog Ma S̄es Bya Ba La Phyag ḥTshal.

इति परमरहस्यं न ज्ञातं भक्ष्या(क्ष्य)दैत्यैर्मारकायिकैः कौलैरिति कुलसूत्र नियमः ॥ २३७ ॥

इदानीं बुद्धानां धर्मसंग्रह उच्यते—

ज्ञानाकाशद्वयं वै पुनरपरमिदं यानरत्नत्रयं च
क्लेशा मारा विहाराः पुनरपि नियताश्चर्द्धिपादास्रवाश्च ।
वैशारद्यानि सत्यानि पुनरपि ततः स्मृत्युपस्थानसम्यक्
चत्वारः संग्रहान्ता जिनपतिकुलिशैर्योगिभिर्भावनीयाः ॥२३८॥

ज्ञानेत्यादि । इह कालचक्रे योगिना धर्मसंग्रहं ज्ञात्वा ततस्तन्त्रदेशना कर्तव्या । अन्यथा धर्मसंग्रहं विना कुमार्गदेशना भवति, तेन धर्मसंग्रहो लिख्यते—इह **ज्ञानाकाशद्वयमि**ति ज्ञानं ग्राहकं चित्तम्, ग्राह्यं शून्यबिम्बमिति द्वयं प्रज्ञोपायो न भगलिङ्गसंयोगः । अनेन सत्त्वार्थकृतेन यानत्रयदेशको भवति, धर्मसंग्रहवेत्ता भवति । अत्र **यानत्रयं** श्रावकयानम्, प्रत्येक[1]बुद्धयानम्, सम्यक्सम्बुद्धयानम् । गम्यतेऽनेनेति यानम् । **रत्नत्रयं वै** बुद्धरत्नम्, धर्मरत्नम्, संघरत्नम् । देशको देशनाऽध्येषक इति त्रीणि मूलानि, तद्यथा—बोधिचित्तोत्पादः, आशयविशुद्धिः, अहङ्कारममकार[2]त्यागः । तथा बुद्धशर[णं धर्म]शरणं संघशरणमेवं त्रिशरणगमनमिति । **क्लेशाः** सत्त्वानां चत्वारो रागद्वेषमोहमानाश्चेति । **मारा**श्चत्वारः स्कन्धक्लेशमृत्युदेवपुत्रा इति । एषां विनाशका बुद्धानां चतुर्ब्रह्म**विहारा** मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षा इति । एवं चतुर्विमोक्षाः शून्यताऽ-
T 469 निमित्ताऽप्रणिहिताऽनभिसंस्कारा इति । चत्वार **ऋद्धिपादाः**—छन्दो वीर्यं चित्तं मीमांसेति । सत्त्वानां चत्वार **आस्रवाः**, तद्यथा—कामास्रवो भवास्रवोऽविद्यास्रवो [3]दृष्ट्यास्रव इति । बुद्धानां **वैशारद्या**श्चत्वारः, तद्यथा—सर्वधर्मारोहणवैशारद्यम्, सर्वधर्मदेशनावैशारद्यम्, निरावरण(नैर्वाणिक)मार्गावतारणवैशारद्यम्, आस्रवक्षयज्ञान-[4]प्रहाणवैशारद्यम् । चत्वारि **सत्यानि**, तद्यथा—दुःखसत्यं समुदयसत्यं मार्गसत्यं निरोधसत्यं चेति । चत्वारि प्रतिशरणानि, तद्यथा—अर्थप्रतिशरणता न व्यञ्जनप्रतिशरणता, ज्ञानप्रतिशरणता न विज्ञानप्रतिशरणता, नीतार्थप्रतिशरणता न नेयार्थप्रतिशरणता, धर्मकायप्रतिशरणता न पुद्गलप्रतिशरणता इति । चत्वारि **स्मृत्युपस्थानानि** कायानुस्मृतिः, वेदनानुस्मृतिः, चित्तानुस्मृतिः, धर्मानुस्मृतिश्चेति । चत्वारि **संग्रह-**वस्तूनि—दानम्, प्रियवाक्यम्, अर्थचर्या, समानार्थतेति । अत्रार्थशब्देन महार्थः परमाक्षरस्तस्य [5]चर्या समानार्थता चेति । धर्मदानतो दानम्, चत्वारि धर्मदानानि—अनित्याः सर्वसंस्काराः, दुःखाः सर्वसंस्काराः, निरात्मानः सर्वधर्माः, शान्तं निर्वाणमिति । चत्वारि सम्यक्प्रहाणानि—अनुत्पन्नदोषानामनुत्पादाय प्रहाणं छन्दोत्पादः, उत्पन्न-

---

१. च. 'बुद्ध' नास्ति । २. भो. Yoṅs Su sPaṅs Paḥo (परित्यागः) । ३. च. तृष्णा । ४. भो. gNas (स्थान) । ५. भो. Don (अर्थ) इत्यधिकम् ।

पापानां कुशलमूलं प्रतिपक्षः [उत्पादः], अनुत्पन्नकुशलानां समुत्पादनम्, उत्पन्नकुशलमूलानां बुद्धत्वे परिणामना चेति चत्वारि। एतानि चतुर्विधानि **जिनवरकुलिशैरिति** कायवाक्चित्तज्ञानविशुद्ध्या निर्माणधर्मसम्भोगस्वाभाविककायविशुद्ध्या **भावनीयानि** लौकिकसिद्ध्ये देवताकाराणीति ॥२३८॥

पञ्चाभिज्ञाबलानि प्रवरजिनपतेर्दृष्टयः पञ्चचक्षु-
रेवं स्कन्धेन्द्रियाणि स्मृतय इति च षट् सप्त बोध्यङ्गपूजा।
सप्ताप्यष्टाङ्गमार्गाः(र्गान्) प्रति सुशरणता रूपिणोऽष्टौ विमोक्षा
रन्ध्राख्यं वै नवाङ्गं प्रवचनमपरं भूमयो दिक्प्रमाणाः ॥२३९॥

एवं **पञ्चाभिज्ञा** बोधिसत्त्वानां दिव्यं चक्षुः, दिव्यं [220b]श्रोत्रम्, परचित्तज्ञानम्, पूर्वनिवासानुस्मृतिः, आकाशऋद्धिश्चेति। **पञ्च बलानि** – श्रद्धाबलं वीर्यबलं स्मृतिबलं समाधिबलं प्रज्ञाबलं चेति। एवं **पञ्चेन्द्रियाणि**। सत्त्वानां **पञ्चदृष्टयः**–सत्कायदृष्टिः, अन्तर्ग्राहदृष्टिः, मिथ्यादृष्टिः, दृष्टिपरामर्षदृष्टिः, शीलव्रतपरामर्षदृष्टिश्चेति। बुद्धानां **पञ्चचक्षूंषि**— मांसचक्षुर्दिव्यचक्षुर्बुद्धचक्षुः प्रज्ञाचक्षुर्ज्ञानचक्षुश्चेति। **पञ्चस्कन्धा** लोकोत्तराणां बुद्धानाम्—शीलस्कन्धः, समाधिस्कन्धः, प्रज्ञास्कन्धः, विमुक्तिस्कन्धः, विमुक्तिज्ञानदर्शनस्कन्ध इति। लौकिका रूपादयो धातवः पृथिव्यादयः, इन्द्रियाणि चक्षुरादीनि, विषया गन्धादयः, पाय्वादीनि कर्मेन्द्रियाणि, आलापादयः कर्मेन्द्रियक्रिया इति पञ्चकं धर्मधातुना सार्धं सर्वं षट्कमिति। **षडनुस्मृतयः**— बुद्धानुस्मृतिः, धर्मानुस्मृतिः, संघानुस्मृतिः, त्यागानुस्मृतिः, शीलानुस्मृतिः, देवतानुस्मृतिश्चेति। **सप्त बोध्यङ्गानि**—स्मृतिसम्बोध्यङ्गम्, धर्मप्रविचयसम्बोध्यङ्गम्, वीर्यसम्बोध्यङ्गम्, प्रीतिसम्बोध्यङ्गम्, प्रस्रब्धिसम्बोध्यङ्गम्, समाधिसम्बोध्यङ्गम्, उपेक्षासम्बोध्यङ्गम्। **सप्तविधा पूजा**—वन्दना, पूजना, देशना, अनुमोदना, अध्येषणा, याचना, परिणामना चेति। **अष्टाङ्गिको मार्गः**—सम्यक्दृष्टिः, सम्यक्संकल्पः, सम्यग्वाक्, सम्यक्कर्मान्तः, समयगाजीवः, सम्यग्व्यायामः, सम्यक्समाधिश्चेति। **अष्टौ** ध्यान**विमोक्षाः**—रूपं पश्यति शून्यम्, अध्यात्मरूपं बहिर्धारूपं पश्यति शून्यम्, शून्यमिति बिम्बं सर्वाकारम्, शुभाशुभदृष्टिकृतं पश्यति शून्यम्, आकाशानन्त्यायतनं पश्यति शून्यम्, विज्ञानानन्त्यायतनं पश्यति शून्यं, बिम्बे सर्वाकारे, आकिञ्चिन्यायतनं पश्यति शून्यम्, नैव संज्ञा नासंज्ञायतनं पश्यति शून्यम्, संज्ञावेदितनिरोधं पश्यति शून्यम्, शून्यताभावनायाम्। **अष्टौ रूपिणश्चतुर्महाभूतानि** रूपगन्धरसस्पर्शाश्चेति। **नवाङ्गप्रवचनं** संगीतिकाराणाम्—सूत्रं गेयं व्याकरणं गाथोदानं निदानं वृत्तं जातकं वैपुल्याद्भुतं धर्मसंग्रहाय ॥२३९॥

बुद्धानां दिग्बलानि स्फुटदशवशिता द्वादशाङ्गप्रतीते
रूपादौ वै निरोधो द्विगुणनव तथाऽऽवेणिका बुद्धधर्माः।

द्वात्रिंशल्लक्षणानि प्रवरजिनपतेर्व्यञ्जनानि त्वशीति-
रेतद् देहे समस्तं विभुपरमपदं मन्त्रिणा भावनीयम् ॥२४०॥

दशपारमितादिदशकानि परमाक्षरज्ञानसिद्धावुक्तानि, **अष्टादशाऽऽवेणिका बुद्धधर्मा** उक्ताः। अत्र भिक्षूणां द्वादशधूतगुणाः—पैण्डपातिक-त्रैचीवरिक-पश्चात्खलुभक्तिक-नैषद्यिक - यथासंस्तरिक - एकासनिक-अभ्यवकाशिक-वृक्षमूलिक-आरण्यवासिक-श्मशानिक - पांशुकुलिक - नामन्तिकाश्चेति। एवमादौ सर्वधर्मसंग्रहं ज्ञात्वा ततो **निजदेहे विभोः परमपदं** नपुंसकं **मन्त्रिणा भावनीयं** साचार्येणेत्यर्थः ॥२४०॥

एकश्चन्द्रस्वरूपं यमकरनयनं युग्मपक्षायने द्वे
लोकाः काला गुणाग्निस्त्रिकमुदधियुगं वेद उक्तश्चतुष्कम्।
बाणा भूतेन्द्रियाणि प्रभवति नियतं पञ्चकं षड्रसर्तु-
र्वाराद्री सप्तसंख्या मुनय इति तथा चाष्टनागा वसुश्च ॥२४१॥

नाडीरन्ध्रा ग्रहा वै निधिरपि नवकं दिग्दशैकादशेशाः
सूर्योऽनङ्गो मनुर्या भुवनतिथिनृपा द्वादशा ह्येकवृद्ध्या।
दोषाश्चाष्टादशैते सकलजिनवरास्ते चतुर्विंशतिश्च
तत्त्वाङ्गं पञ्चविंशद् द्विजक इति भवेद् द्व्युत्तरं त्रिंशदेव ॥२४२॥

अत उपरि गणितसंख्या एकादिचन्द्रादिकासंज्ञाप्रकाशकं वृत्तद्वयं सुबोधम् ॥२४१-२४२॥

इदानीं तन्त्रगुण उच्यते—

सर्वस्मिंस्तन्त्रराजे खलु कुलिशपदं गोपितं वज्रिणा वै
प्रत्यक्षं चादिबुद्धे निगदितमखिलं प्राणिनां मोक्षहेतोः।
तस्मात् तन्त्रोत्तरं वै सकलमविकलं लोकलोकोत्तराभ्यां
श्रीमत्तन्त्रादिबुद्धं परमजिनपतेश्चाभिधानं सुचन्द्र ॥२४३॥

सर्वस्मिन्नित्यादि। इह **सर्वस्मिन्** योगिनीयोग**तन्त्रराजे खलु कुलिशपदं** परमाक्षरसुखं **गोपितं वज्रिणा वै** शाक्यमुनिना। वज्रमित्यभेद्यज्ञानमचिन्त्यं चित्तवज्रम्, T 470 [221a] तद् यस्मिन्नस्तीति स वज्री, तेन वज्रिणा। तत्कस्य हेतोः? आर्यविषये बौद्धानां पण्डिताभिमानाद् ये गुरुशुश्रूषया विना पुस्तकं दृष्ट्वा अस्माभिर्वज्रपदं ज्ञातमिति वदिष्यन्ति बौद्धाः पण्डिताः, तेनाहङ्कारेण नरकगमनम्, सेकसंप्रदायाभावात्। तेन [इदं] गोपितम्। तदेव **प्रत्यक्षं चादिबुद्धे निगदितमखिलं प्राणिनां** संभलविषये जन्मिनां

निरहङ्कारचित्तानां **मोक्षहेतोः**। **तन्त्रोत्तरं वै सकलमविकलं** तन्त्रराजं **लोक**तन्त्रात् क्रियातन्त्रात्, **लोकोत्तराद्** योगतन्त्रात्, ताभ्यामुत्तरं लोकोत्तरम्। **श्रीमत्तन्त्रादिबुद्धं परमजिनपतेर्ज्ञानकायस्य सहजस्याभिधानं** वाचकम् ॥२४३॥

इदानीं गुणवतः पञ्चाकारस्तव उच्यते—

यस्यान्तं नादिमध्यं स्थितिमरणभवं शब्दगन्धौ रसश्च
स्पर्शो रूपं न चित्तं प्रकृति न पुरुषो बन्धमोक्षौ न कर्ता।
बीजं न व्यक्तकालं न सकलभुवने दुःखसौख्यस्वभावं
निर्वाणं निर्निमित्तं व्यपगतकरणं निर्गुणं तं नमस्ये ॥२४४॥

कालं विश्वादिवज्रं पुरुषमनुपमं सर्वगं निष्प्रपञ्चं
कूटस्थं कर्णनासामुखनयनशिरः सर्वतः पाणिपादम्।
भूतान्तं भूतनाथं त्रिभुवनवरधृक् कारणं कारणानां
विद्याद्यं योगगम्यं परमसुखपदं कालचक्रं नमस्ये ॥२४५॥

यस्येत्यादि। इह पञ्चाकारो महाशून्यो वज्रम्, तस्य विज्ञाननिरोधः प्रथमशून्यम्, **यस्यान्तं नादिमध्यं** इत्यादिना **निर्गुणं तं नमस्ये** इति पर्यन्तं "विज्ञानधर्मतातीतो ज्ञानमद्वयरूपधृग्" (ना० सं० ८.२३) इति विज्ञानधर्मतातीतत्वात्, तत्कुले जातानामप्यतीता आकाशादिधात्विन्द्रियादीनाम्। ततः संस्कारनिरोधे द्वितीयं शून्यम्। **कालं विश्वादिवज्रमित्यादि कालचक्रं नमस्य** इति पर्यन्तं सुबोधम् ॥ २४४-२४५ ॥

स्रष्टारं शक्तिरूपं तडिदनलनिभं द्वादशादित्यतेजं
ज्ञानं वज्रावभासं परपदगमनं तं विसर्गं नमामि।
शुक्लं त्रैलोक्यनाथं स्रवति शशधरात् संस्थितं लोकमूर्ध्नि
पीयूषं मृत्युनाशं भवभयमथनं बिन्दुरूपं नमामि ॥२४६॥

चिन्मात्रं मन्त्ररूपं त्रिदशपरिवृतं दुःखसौख्यस्वभावं
साधूनां शान्तरूपं सुकृतमनुभवं दारुणं दारुणानाम्।
यो यत्कर्मविकुर्यात् स्वमनसि विधिवत् तत्फलं तस्य जातं
लोकेशं विश्वरूपं त्रिभुवनजननं वज्रसत्त्वं नमामि ॥२४७॥

एको नैकोऽपि चैकः समविषमसमः सव्यवामाग्रपृष्ठ
ऊर्ध्वाधो वै समन्तात् सित-हरित-महाविश्ववर्णैकरूपः।

ह्रस्वो दीर्घः प्लुतश्चागुण इति सगुणः स्त्री नरश्चानरस्त्री
यः सर्वाधार एकः सुभगवरभगस्ते नमस्ते नमस्ते ॥२४८॥

एवम् "अन्ये ते संस्कारा" इतिवचनाद् वाय्वादीनां धात्विन्द्रियाणां निरावरणता वेदितव्या द्वितीयशून्येन । ततस्तृतीयं शून्यं वेदनानिरोधः **स्रष्टारम्** इत्यादिना **तं विसर्गं नमामि** इति पर्यन्तम्, "अन्या सा वेदना" इतिवचनात्तेजो धात्विन्द्रियादीनां निरावरणतेति तृतीयं शून्यम्, ततश्चतुर्थं शून्यं संज्ञानिरोधः **शुक्लम्** इत्यादिना **बिन्दुरूपं नमामि** इति पर्यन्तम्, "अन्या सा संज्ञा" इतिवचनात् तोयादिधात्विन्द्रियादीनां निरावरणतेति चतुर्थं शून्यम् । ततः पञ्चमं शून्यं रूपनिरोधः **चिन्मात्रम्** इत्यादिना **वज्रसत्त्वं नमामि** इति पर्यन्तम्, "अन्यत्तद्रूपम्" इतिवचनात् पृथिव्यादिधात्विन्द्रियाणां तत्कुलीनानां निरावरणतेति । अस्य विस्तरः प्रथमलोकधातुपटले उक्तः, तेनात्र न वितन्यत इति । "पञ्चाक्षरो महाशून्यः" (ना० सं० १०.२) ततो "बिन्दुशून्यः षडक्षरः" (ना० सं० १०.२) इति धर्मस्यास्याधारभूतो बुद्धबिम्बलक्षणः सर्वत्रैधातुकत्र्यध्ववर्तीति । अस्य निरोधः षट्स्कन्धादयः षट्त्रिंशद्धातवः क्षरज्ञानं सप्तत्रिंशदिति । एषां निरावरणता धर्मकायो धर्मोदय उच्यते । चतुर्थो वज्रः पञ्चाक्षरः । अनयोर्निर्माणं निर्माणकायः । नाना ऋद्धिदर्शको धर्मदेशको ध्वनिः सम्भोग इति । अत्र **एको नैकोऽपि चैकः समविषम** इत्यादिना मध्यमकसिद्धान्तः । **यः सर्वाधार एक** इति सर्वो महाक्षरसुखः, तस्याधार एक आकाशलक्षणः । **सुभग** इत्यैश्वर्यादिगुणात्मकः । **वरभग** इति त्रैधातुकोत्तमः । तेन कारणेन **नमस्ते** शिरसा **नम** इति नमस्कारो भवतु, **ते** इति तव मञ्जुश्रियः ॥ २४६–२४८ ॥

सोऽहं यो मर्त्यलोके व्यपगतकलुषः श्रीगुरुर्वज्रधारी
नूनं तस्यापराधाद् भवति हि नरकं प्राणिनां नात्र चित्रम् ।
तुष्टोऽहं तस्य तुष्टया कुपित इति महांस्तस्य कोपानलेन
सत्त्वानां सैव मोक्षः समसुखफलदो वन्द्यपूज्यः सुतानाम् ॥२४९॥

कः पापी श्रीगुरोर्यः सुचरणकमलं वन्दते न त्रिकालं
कोऽज्ञानी यस्त्रिकालं बहुविधकुसुमैर्मण्डलं नो करोति ।
कोऽवीचिं याति शीघ्रं समसुखदगुरोः खेदमुत्पादको यः
कः प्रज्ञाज्ञानलाभी वरगुरुचरणं यो न मुञ्चत्यनष्टः ॥२५०॥

को नष्टो यस्त्रिनाड्यामपि गतमरुता मार्यतेऽनन्तकालं
कः शूरो मारयेद् यः समविषमपथि प्राणमापानवायुम् ।
को दाता श्रीगुरोर्यो ददति निजतनुं पुत्रदारादि सर्वं
को नीचो वञ्चको यः स्वहृदयकलुषाकृष्टचित्तः शठश्च ॥२५१॥

श्रीमान् श्रीधर्मचक्रे सुरवरनमिते विष्टरे विश्ववर्णे
तस्मिन् बुद्धोपविष्टो गदति नरपते तन्त्रराजादिबुद्धम् ।
चन्द्रप्रश्नावबोधे त्रिदशनरगुरुर्यच्च सत्त्वार्थहेतो-
स्तच्चेदानीं मया ते गदितमपि कलापेऽल्पतन्त्रं हि सूर्य ॥२५२॥

बुद्धोक्तात् कालचक्रं गदितमपि मया स्रग्धरावृत्तबन्धै-
रस्य त्वं देशनां वै कुरु कुलिशधरीं मन्त्रिणां पुण्डरीक ।
प्रज्ञाज्ञानस्य लाभी सरविमुनिकुलं वै यथास्मद्बभूव
एवं सत्त्वा भवन्तु त्रिविधभवगताः कालचक्रप्रसादात् ॥२५३॥

सूर्य त्वं वा नरेन्द्र त्वपरगतभवे कालचक्रैकयोगा-
ज्जातोऽस्मिन् ब्रह्मवंशे यशनृपतिरहं मञ्जुघोषः प्रिया मे ।
श्रीतारा पौण्डरीकः सकलगुणनिधिर्लोकनाथोऽब्जचिह्नो
नालेनेन्दीवरस्य स्वपरगतभवं पश्य सर्वं यथार्थम् ॥२५४॥

नालेनेन्दीवरस्य स्वपरगतभवं वीक्ष्य सर्वं यथार्थं
सूर्यः सार्धं मुनीन्द्रैः समुकुटशिरसा कल्किनः पादपद्मम् ।
हस्ताभ्यां वन्दयित्वा वदति मुनिकुलं रौद्रसंसारदुःखा-
दुद्धृत्य ज्ञानमार्गे परमकरुणया स्थापयेत् त्वेकशास्ता ॥२५५॥

वृद्धोऽपि त्वं कुमारः सकलजिनसुतोऽप्यादिबुद्धस्त्वमादौ
स्त्रीसङ्गी ब्रह्मचारी परमकरुणया लोकबन्धुर्यमारिः ।
सौम्योऽपि त्वं सुवज्री मरणभयहरस्त्वं सदा मारमारो
मुक्तोऽपि त्वं भवेऽस्मिन् प्रविशसि जगतः पाचनार्थं यशस्त्वम् ॥२५६॥

सूर्योऽहं ब्रह्मवंशे मुनिकुलनमितः पातितः पादमूले
सत्त्वानां मोक्षहेतोः प्रकटितमवनौ कालचक्रं समस्तम् ।
कल्कीगोत्रे त्वमर्कः क्षितिपतिनमितः श्रीयशः श्रीकलापे
युष्मत्पादारविन्दं शरणमधिगतो रौद्रसंसारभीतः ॥२५७॥

वैशाख्यां पौर्णिमायां निशिसमयगते वासरे चाप्रविष्टे
मुद्रासिद्धिं गतोऽर्को मुनिजनसहितोऽधिष्ठितो विश्वभर्त्रा ।

सत्त्वानां मोक्षहेतोः सकलभुविगतं चित्तवज्रं यथा मे
सत्त्वानामेव यातु त्रिविधभवगतं कालचक्रप्रभावात् ॥२५८॥

तन्त्रार्थं देशयित्वा परमकरुणया सर्वसत्त्वार्थकर्ता
पुत्रस्याज्ञां ददाति प्रवरगुणनिधिः पुण्डरीकस्य नूनम् ।
कर्तव्यं पुस्तकस्थं सकलमविकलं तन्त्रराजं त्वयादौ
टीकां कृत्वा ततो वै परपदगमनं स्वेच्छया लोकबन्धोः ॥२५९॥

ऊर्ध्वं ये बोधिसत्त्वाः परमभयकरा मारपक्षे स्थितानां
दैत्यानां मर्त्यलोके दिशिविदिशिगताः क्रोधराजाः सभार्याः ।
पाताले ये फणीन्द्रा ग्रहपदमशुभं सर्वदा बन्धयन्ति
ते सर्वे पालयन्तु प्रतिदिनसमयेऽज्ञानलोकं समन्तात् ॥२६०॥

सत्त्वानां मोक्षहेतोर्जिनपतिगदितं देशितं यन्मया च
तन्त्रं श्रीकालचक्रं लघुतरमखिलं वज्रसत्त्वाधिदैवम् ।
प्रज्ञोपायैकयोगं जिनपतिकुलिशैः षोडशाकारतत्त्वं
सत्त्वाः पुण्येन तेनाक्षरपरमसुखं यान्तु तस्मै नमोऽस्तु ॥२६१॥

इदानीं कालचक्रदेशकगुणादिकं सोऽहमित्यादि सर्वं सुबोधम् ॥२४९–२६१॥

[221b] [इति] मूलतन्त्रानुसारिण्यां लघुकालचक्रतन्त्रराजटीकायां
द्वादशसाहस्रिकायां विमलप्रभायां
नानोपायविनेयमहोद्देश-
श्चतुर्थः समाप्तः ।

संबुद्धव्याकृतेन प्रवरमुनिगणं स्थापितं बुद्धमार्गे
दत्त्वा प्रज्ञाऽभिषेकं परमकरुणया देशितं कालचक्रम् ।
येनोद्धृत्यादिबुद्धादिदमिषुपटलं मञ्जुवज्रेण तन्त्रं
राज्ञा श्रीकल्किनाऽहं सुत इह यशसः श्रीकलापे नृपोऽस्य ॥

संबुद्धव्याकृतेन प्रमुदितमनसा श्रीयशश्चोदितेन
टीकां श्रीमूलतन्त्रस्फुटकुलिशपदान्वेषिकां तन्त्रराजे ।
कृत्वा पुण्यं यदाप्तं विपुलमतिसितं पुण्डरीकेण दानात्
सम्बुद्धस्तेन लोकः प्रभवतु सकलो वज्रिणो लब्धमार्गः ॥*

। समाप्तेयं टीका ज्ञानपटलस्य ।

॥ समाप्ता विमलप्रभा टीका ॥

---

* च.

ये धर्मा हेतुप्रभवा हेतुस्तेषां तथागतो ह्यवदत् ।
तेषां च यो निरोध एवंवादी महाश्रमणः ॥

देयधर्मोऽयं प्रवरमहायानयायिनः स्थविरम...... स्य यदत्र पुण्यं तद्भवत्वाचार्योपाध्यायमातापितृपूर्वंगमं कृत्वा सकलसत्त्वराशेरनुत्तरज्ञानफलाप्तय इति ।

महाराजाधिराजश्रीमद्धरिवर्मदेवपादीयसंवत् ३९ सूर्यगत्या आषाढदिने २९

एकोनत्रिंशतिमिते वत्सरे हरिवर्मणः ।
माघस्य कृष्णसप्तम्यामेकादशदिने गते ॥
मृतपातुञ्च........शोध्य...... दृष्टतया ।
कनिष्ठाङ्गुलिमादाय पृष्टयेदमुदीरितम् ॥
पूर्वोत्तरे दिशो भागे वेगनद्यास्तु वारिणि ।
पञ्चत्वं भावि भवतः सप्तसंवत्सरैरिति ॥

निष्पन्दानन्दशुक्लः कुलिशमपि च तद्धारणाद् वज्रधृक् च
बीजं वा यस्य शुक्रं जिनजिगिति पिता नाभिचक्रे स शश्वत् ।
तल्लक्षं लक्षमाणो हृदि परमसुखं नाथ आरोलिगेव
तद्वेद्यं येन कण्ठे धृगमचलसुखं वेदको रत्नधृक् सः ।।

प्रज्ञाधृग् येन तेन शिरसि धृतमिदं शुक्लवैमल्यसौख्यम्
उष्णीषे ब्रह्मरन्ध्रेऽक्षरपरमसुखं षोडशानन्दपूर्णम् ।
या प्रज्ञा निःस्वभावा परमशशिकला षोडशी पूर्णिमान्ते
सानन्ता यस्य विद्या शिरसि स कुलिशे षष्ठमो वज्रसत्वः ।।

उपाध्यायजगन्नाथस्थापिता या च योजना ।
ततः प्रकाशिता पूर्णा टीकेयं विमलप्रभा ।।
या चात्र गुणवत्ता स्यात् सा तस्यैव महात्मनः ।
या चात्रागुणवत्ता स्यात् सा त्वस्माकं हि मन्यताम् ।।

कालचक्रतन्त्रश्लोकार्धानुक्रमणी

○

ग्रन्थ-ग्रन्थकार-मत-मतान्तरानुक्रमणी

संकेत-सूची

अ.	अष्टाध्यायी
अ. स.	अभिसमयालंकारकारिका
अ. सा. (अष्ट.)	अष्टसाहस्रिका
आ.	आगम
आ. प.	आचार्यपरीक्षा
आ. बु.	आदिबुद्धतन्त्र
ऋ.	ऋग्वेद
ऐ. ब्रा.	ऐतरेयब्राह्मण
का. ग.	कालचक्रगर्भ
का. त.	कालचक्रतन्त्र
कालो.	कालोत्तर
कु. सू.	कुलसूत्र
कृ. त.	कृष्णयमारितन्त्र
ग. सू.	गण्डव्यूहसूत्र
गु. त.	गुह्यसमाजतन्त्र
गु. प.	गुरुपञ्चाशिका
च. सं.	चक्रसंवरतन्त्र
चा. व्या.	चान्द्रव्याकरण
त. रा.	तन्त्रराज
त. सं.	तत्त्वसंग्रह
ना. सं.	नामसंगीति
प. बु.	परमादिबुद्धतन्त्र
प्र. पा.	प्रज्ञापारमिता
भ. गी.	भगवद्गीता
म. त.	महामायातन्त्र
म. शा.	मध्यमकशास्त्र
म. भा. व.	महाभारतवनपर्व
म. स्मृ.	मनुस्मृति
मा. का.	माध्यमिककारिका
मा. जा.	मायाजालतन्त्र
मू. त.	मूलतन्त्र
मू. सू.	मूलसूत्र
या. स्मृ.	याज्ञवल्क्यस्मृति
यो. अ.	योगानुधिद्धतन्त्र
यो. त.	योगिनीतन्त्र
यो. सं.	योगिनीसंचारतन्त्र
ल. अ.	लक्षाभिधानतन्त्र
ल. त.	लघुतन्त्र
लो. स्तो.	लोकेश्वरस्तोत्र
वि. प्र.	विमलप्रभा
व्या. म. भा.	व्याकरणमहाभाष्य
शि. सू.	शिवसूत्र
सां. का.	सांख्यकारिका
सि. कौ.	सिद्धान्तकौमुदी
सु. सं	सुभाषितसंग्रह
सेको.	सेकोद्देश
हे. त.	हेवज्रतन्त्र

विमलप्रभाधृतवचनानुक्रमणी